बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक: 35 (अक्टूबर-दिसम्बर, 2012)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादकीय संपर्क
सम्पादक 'बहुवचन'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
मो. नं. संपादक- 09422386554, ईमेल- amishrafaiz@gmail.com
मो. नं. सहायक संपादक- 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
E-mail: bpsjnu@gmail.com फोन: 07152-232943, मो. नं. 08055290240

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार एवं कम्पोजिंग: रामप्रसाद कुमरे
email: ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. नं. 08055916194, 09406546762

बिक्री और प्रसार कार्यालय
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोनः 07152-232943, फैक्स: 07152-230903 तारः हिन्दीविश्व

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 (मो. 09212796256) पर करें।

पंजीयन सं.: DELHIN/2000/1228

यह अंक: 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में: हवाई डाक: एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक: एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण: अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA,
GANDHI HILLS, POST- HINDI VISHWAVIDHYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.
मुद्रकः रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोनः 011-22821174, 9212796256)
E-mail: ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

वैचारिकी

कोरे आलोचक नहीं थे रामविलास शर्मा
विजय बहादुर सिंह 05

रामविलास शर्मा: जुझारू परंपरा का सृजन
अजय तिवारी 15

मूल्यवादी आलोचना के प्रधान नायक रामविलास शर्मा
कृष्णदत्त पालीवाल 30

रामविलास शर्मा के अघोषित काव्य प्रतिमान
विजेंद्र 40

भाषाविज्ञान की भारतीय जमीन
शंभुनाथ 55

भारतीयता की अवधारणा और हिंदी जाति
रविभूषण 64

रामविलास शर्मा का हिंदी नवजागरण एवं सांस्कृतिक उत्साह
श्रीप्रकाश शुक्ल 73

संस्मरण

रामविलास शर्मा मूलतः कवि थे
विजय मोहन शर्मा 86

डायरी

मेरी डायरी में बाबा रामविलास शर्मा
जसवीर त्यागी 94

संवाद

कथाकार-नाटककार सुरेंद्र वर्मा से एक बातचीत
विजय मोहन सिंह 106

निराला का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव: रामविलास शर्मा
ओम निश्चल की बातचीत 110

आख्यान

तीज त्यौहार
शैलेंद्र सागर 115

कविताएं / ग़ज़लें

रामविलास शर्मा 122
शमशेर बहादुर सिंह 124
प्रयाग शुक्ल 126

जयंती पर विशेष स्मरण

कागज पर खेती करने वाले शैलेश मटियानी
सुरेंद्र तिवारी 131

शताब्दी वर्ष पर विशेष

टोबा टेक सिंह: भारत-विभाजन का शोक प्रस्ताव
कुमार वीरेंद्र 138

डायरी

पुरानी डायरी के कुछ पन्ने
सूरज प्रकाश 146

मीडिया

अखबारों के सांस्कृतिक-भाषाई पहलू
प्रांजल धर 155

आलोचना

भुवनेश्वर की प्रासंगिकता के पक्ष
ज्योतिष जोशी 161

नई कृति

प्रगतिशील परंपरा का मूल्यांकन
रूपेश कुमार 170

बात बोलेगी

वैज्ञानिक चेतना के प्रसार में मीडिया की भूमिका
संजीव 175

सांस्कृतिक समाचार

9वां विश्व सम्मेलन : एक रपट 179

'लेखक की रचनाओं के पढ़ने से होता है लेखक का सम्मान' 185

कोरे आलोचक नहीं थे रामविलास शर्मा

विजय बहादुर सिंह

मैं यह तो नहीं जानता था कि आलोचक के रूप में भी मेरी पहचान की जाएगी और कवि होते-होते आलोचक मैं कुछ ज्यादा हो उठूंगा। याद करता हूं तो स्नातक काल के वे दिन याद आते हैं, जब हम सहपाठियों में अक्सर अपने-अपने प्रिय आलोचकों को लेकर तलवारें खिंच जाती थीं। आज के स्टार आलोचक नामवर सिंह, तब उदीयमान थे। 'छायावाद' और 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' जैसी उनकी आलोचना पुस्तकें छपकर आ चुकी थीं। उस समय के जगमगाते नक्षत्रों में थे- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और कुछेक अन्य छोटे-बड़े नाम। जैसे कि शांतिप्रिय द्विवेदी, शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और प्रकाशचंद्र गुप्त। उधर बिहार में भी कुछेक नाम थे पर चर्चा में ये ही लोग थे।

बातें होतीं तो वाजपेयीजी की होतीं डॉ. नगेंद्र और रामविलास शर्माजी की। वाजपेयीजी को लेकर हम सबके मन में गहरा आदरभाव था। नगेंद्रजी की योजनाबद्धता और सजगता हमें चकित किया करती, किंतु रामविलासजी की छवि एक संहारक योद्धा आलोचक की थी। उनसे अकेले भगवती प्रसाद वाजपेयी ही नहीं, जैनेंद्र कुमार जैन और सुमित्रानंदन पंत जैसे लोग भी आहत और त्रस्त थे। रामविलासजी निराला-स्कूल के आलोचक माने जाते थे और अपने प्रिय कवि के रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे झाड़-झंखाड़, वन-पर्वत और पेड़-पौधों को एक योद्धा की तरह काटते हुए आगे बढ़ रहे थे। न जाने क्यों मेरा आकर्षण इस तरह की आलोचना के प्रति नहीं हो पा रहा था। मैं छात्र जीवन से ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद नंददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी

के प्रति आकृष्ट था। उनकी आलोचनाओं को रस लेकर पढ़ा करता था। द्विवेदीजी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' मेरी प्रिय पुस्तकें थीं। वाजपेयीजी की 'हिंदी साहित्य बीसवीं सदी' पुस्तक तो सचमुच बीसवीं सदी के शुरुआती तीन-चार दशकों की ऐसी समीक्षा पुस्तक थी, जिसे नजरअंदाज करना आज भी किसी के भी लिए आसान नहीं है। यह वाजपेयीजी ही थे, जिन्होंने पहली बार आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांतों की कठोर विवेचना करते हुए उन पर कई निर्णायक सवाल खड़े किए। साहित्य-समीक्षा का ढांचा किन आधारों पर खड़ा होना चाहिए? रूप के आधार पर क्यों किसी कविता को बड़ी और छोटी नहीं कहा जाना चाहिए? शुक्लजी की दृष्टि में कितना नैतिकतावाद है और परंपरागत वर्णवादी दृष्टिकोण कितना हावी है, इस ओर इशारा करने का काम भी सबसे पहले शुक्लजी के ही छात्र नंददुलारे वाजपेयी ने किया। जब इन दोनों के बारे में सोचता हूं, तो मुझे अरस्तू और प्लेटो की जोड़ी प्राय: याद आती है। गुरु-शिष्य हों तो ऐसे। गुरु की शिष्यता अंगीकार कर गुरु की सीमाओं की ओर से आंख मूंद उसका महिमा मंडन करते रहना या उसके समर्थन में वकील की भाषा बोलने लगना, कुछ और तो हो सकता है, साहित्य और आलोचना कर्म तो कदापि नहीं।

संयोग ही था कि रामविलासजी अंग्रेजी साहित्य की परंपरा की संवादधर्मिता और समृद्धि लेकर आए थे पर इससे भी कहीं अधिक वे अपने देशी ग्राम-जीवन की जीवंतता, निश्छलता, सहज भावुकता के साथ-साथ आर्य समाजियों की बौद्धिकता और तार्किकता भी एक साथ लेकर आए थे। मैंने उनकी जो सबसे पहली किताब पढ़ी वह 'कवि निराला' थी। निराला काव्य के विवेचन से पहले, उसमें बैसवाड़े के जीवन का सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास कुछ ऐसी दिलचस्प शैली में लिखा गया था कि मुझे लगा कि कवि को समझने और समझाने की एक सुसंगत दृष्टि यह भी हो सकती है। उन्हीं दिनों मैंने डॉ. नगेंद्र लिखित 'कवि सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक भी पढ़ी और लगा कि भारत के कवि, खास तौर से छायावादी कवियों को बगैर पश्चिमी दृष्टि के नहीं समझा जा सकता। डॉ. नगेंद्र एक अर्थ में कुछ अधिक ही वस्तुनिष्ठ थे। वे अपनी पुस्तक में अल्मोड़ा और कौसानी के जीवन का वैसा विवेचन नहीं करते जैसा कि शर्माजी ने निराला पर लिखते हुए अपने बैसवाड़े का किया। मैंने अनुभव किया कि शर्माजी की आलोचना लोक और समाज की गतिविधियों से प्रेरित और संचालित है और यह भी कि सामाजिक जीवन की गंभीर गतिविधियों को समझे बिना कविता और कला के सौंदर्य पर कोई भी विवेचन आधारवान साथ ही मूल्यवान नहीं माना जा सकता। बाद में तो उन्होंने इस धारणा को विस्तार देते हुए 'भारतेंदु और उनका युग', 'प्रेमचंद और उनका युग' जैसी पुस्तकें लिखीं और उस काल के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को भी इन महान लेखकों की निगाह से देखा। इन किताबों को पढ़ते हुए लगा कि हम केवल आलोचना नहीं पढ़ रहे हैं, एक उथल-पुथलकारी समय का इतिहास और उसकी वस्तुगत समीक्षा से भी आमना-सामना कर रहे हैं। इसकी तुलना में द्विवेदीजी द्वारा लिखित कबीर में पांडित्य का असाधारण अनोखापन और दुर्लभ भावुकता का ऐसा विचित्र मिलाप है कि हम चाहें तो

इसे समीक्षा से कुछ इतर भी कहें। समीक्षक की विषय मुग्धता और ऐतिहासिक निगाह एक साथ कुछ इस तरह उभरती है कि तय कर पाना कठिन हो उठता है कि इसे आलोचना कहें या फिर कुछ अन्य और इतर सृजन?

शर्माजी की पुस्तक 'भाषा और समाज' सातवें दशक की शुरुआत में आई। मुझे याद है पं. नंददुलारे वाजपेयी ने उस पुस्तक को महत्व देते हुए उसे साहित्य अकादेमी पुरस्कार के लिए अनुशंसित किया था। मेरे लिए तो आज भी यह एक अद्वितीय कृति है। रामविलासजी क्रमश: कविता और गद्य की जमीन से भाषा और समाज के संबंधों की ओर उन्मुख हो रहे थे। उनका मुख्य ध्येय उस हिंदी क्षेत्र को समझने से जुड़ा हुआ था, जिसमें भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और निराला जैसे लोग पैदा हुए थे। रामविलासजी ने अपने इन्हीं अध्ययनों के बल पर हिंदी जाति के साहित्य की कल्पना की और उसे अपने तर्कों से एक 'थीसिस' का रूप दिया। हिंदी जाति की इस अवधारणा को लेकर साथी मार्क्सवादियों में आज भी काफी मतभेद है। कइयों की दृष्टि में राष्ट्र-राज्यों के इस ज़माने में 'जाति' शब्द का उपयोग और उसका केंद्रीय महत्व रेखांकित करना या फिर इसके मार्फत एक भाषा से जुड़ी सांस्कृतिक विरासत को संपूर्ण राष्ट्रीय विरासत से हिगराना रामविलासजी का कोई प्रगतिशील कदम नहीं है बल्कि प्रसरणशील भाषा के पांवों में कुल्हाड़ी मारना है। साथीगण न जाने क्यों यह देखना चूकते रहे कि यहीं उन्होंने हिंदी-उर्दू और हिंदू-मुसलमान की सामूहिक भाव धारा और संयुक्त जीवन-शैली को देखने और उनकी सहज एकता की प्रवृत्तियों को रेखांकित करने की कोशिश भी की है। भारत विभाजन के बाद उभरी सांप्रदायिकता और उससे पैदा हुई पारस्परिक हिंसा और प्रतिद्वंद्विता की जो चुनौतियां आज सामने हैं, उन्हें लक्ष्य कर रामविलासजी ने जो उपपत्तियां रची हैं वे ज्यादातर आज भी विवादास्पद हैं खासतौर से जड़ और कठमुल्ले मार्क्सवादियों के लिए।

हिंदी जाति और हिंदी नवजागरण को भी रामविलासजी जिस दृष्टि से सामने लाते हैं, उस दृष्टि की पड़ताल करते हुए कई एक उन्हें संकीर्णतावादी, हठी, कट्टरतावादी, यहां तक कि 'गपोड़ी' भी कह चुके हैं। रामविलासजी जो भी कुछ हों, पर बेईमान बौद्धिक तो कदापि नहीं हैं। उनमें और उनके खेमे के अन्य धुरंधरों और अनुगामियों में भी जो चरित्रगत बुनियादी फर्क है वह यही है। उस अर्थ में वे शास्त्रवादी भी नहीं हैं, जिन अर्थों में रांगेय राघव और यशपाल आदि थे। वे लोक और समाज की जमीन पर खड़े रहकर उसके संघर्षशील विकास की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से शास्त्र की मदद लेते रहे हैं। शास्त्र से गाइडेंस लेना, उसकी आतंक-छाया में जीना या फिर जीवन और समाज को गौण मानते हुए शास्त्र और सिद्धांत को पवित्र, निर्विवाद, अद्वितीय और परम मानना रामविलासजी को शायद ही कभी तर्क-संगत जान पड़ा हो। समकालीन साहित्य और उसके मार्क्सवादी अग्रधावकों के बीच इसलिए भी वे अपचनीय बने हुए हैं कि वे केवल अपनी मौलिक सूझ-बूझ के चमत्कार पर नहीं जीते, बल्कि लोक, समाज, परंपरा, इतिहास और आधुनिकता के कठिन सवालों के बीच अपनी प्रतिभा की योग्यता और समर्थता की

तार्किक परीक्षा करते हैं। संभवत: इसीलिए उनके लेखन का परिदृश्य अत्यंत विराट और विस्तृत है। न केवल साहित्य-सृजन, भाषा-परंपरा, भाषा-विज्ञान, उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, राष्ट्रीय आंदोलन, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता बल्कि इन तमाम वैचारिक बहसों को उठाते हुए वे भारत की वर्तमान संस्कृति और हिंदी प्रदेशों की उन जीवंत विरासतों की ओर बार-बार हमारा ध्यान खींचते हैं, जिनको पहचानना और संवाद करना किसी भी महत्वपूर्ण लेखक की आज पहली जिम्मेदारी बनती है।

आश्चर्यजनक तो यह है कि रामविलासजी अपने लेखन के द्वारा जो परिप्रेक्ष्य तैयार करते हैं, उसमें उनका जितना बौद्धिक श्रम लगा हुआ है, उनमें जैसी वैचारिक एकाग्रता और ध्येयनिष्ठता है, उसके सामने अपनी-अपनी आधी-अधूरी टिप्पणियों से खंड-युद्ध करने वाले आधे-अधूरे योद्धाओं की तरकीबें बेहद हास्यास्पद ठहरती हैं। रामविलासजी प्रतिक्रियावादी हैं या नहीं, पर उन पर की गई टिप्पणियां जरूर प्रतिक्रियावाद से प्रेरित हैं। चाहिए तो यह था कि थीसिस के समानांतर थीसिस खड़ी की जाती पर यहां तो स्थिति उलटी है। मान लिया गया है कि थीसिस तो सिर्फ रामविलासजी ही खड़ी कर सकते थे बाकी सब तो सिर्फ उस पर जिरह करने योग्य भर हैं। अखाड़ा तो केवल रामविलासजी का ही है, अन्य तो अपनी-अपनी पहलवानी बचाए रखने के लिए उसमें दंड-बैठक भर कर रहे हैं।

यह भी कम विचारणीय नहीं है कि रामविलासजी जितना ध्यान भारतेंदु, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद और निराला आदि पर देते हैं उतना ही ध्यान तुलसीदास, कालिदास, भवभूति और ऋग्वैदिक ऋषियों की काव्य-प्रतिभा पर भी। इतना बड़ा अध्ययन फलक तो शुक्लजी का भी नहीं है। राहुलजी का जरूर है पर राहुलजी में दुर्लभ पांडित्य का सौंदर्य है, जबकि रामविलासजी में पांडित्य और समीक्षा का चमत्कारी संयोग है। इस प्रकार का कथन हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बारे में भी कह सकते हैं, किंतु द्विवेदीजी की समीक्षाओं को पढ़ते हुए हम काव्य-नायकों के प्रति एक खास प्रकार की मोहाविष्टता से विभोर हो उठते हैं। एक आलोचक के रूप में द्विवेदीजी हमें उतने प्रभावित नहीं करते, जितने कि एक शोधी विद्वान के रूप में। उनके तर्कों में जितना तर्क है उतनी ही भावुकता भी। यह द्विवेदीजी के रचनाशील व्यक्तित्व की सीमा भी कही जा सकती है किंतु हम उन्हें बेईमान आलोचक तो कदापि नहीं कह सकते। उनके निबंध और उपन्यास इस बात की गवाही देते हैं कि वे भारतीय परंपराओं के गंभीर अवगाहन में लगे थे। यह समझने की कोशिश कर रहे थे कि आधुनिक भारत के लिए अगर शास्त्र और लोकवेद में से किसी एक को ही चुनना पड़ जाए तो उस चिकने चुपड़े कर्मकांडवादी अभिजातवाद को चुना जाएगा या फिर किंचित रफ और टफ किंतु बेखौफ, बेलिहाज लोकप्रज्ञा को, जो जितना अपने प्रति निष्ठावान है, उतना ही दूसरे के प्रति स्नेहशील, उदार और उन्मुक्त भी है। जीवन की सीमाहीन उन्मुक्तता ही जहां जीवन का सौंदर्य है।

रामविलासजी को इस निगाह से शायद नहीं देखा जा सकता। उनके लोक में एक खास प्रकार का शास्त्र और शास्त्र में एक सहज लोक अपने समूचे जीवट और पौरुष के

साथ विद्यमान है। 'निराला की साहित्य साधना' (तीन खंड), भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश जैसी उनकी कृतियां इस बात की गवाही देती हैं। परंपरागत भारतीय समाज और उसका समकालीन जीवन ही वह ऊर्जा-क्षेत्र है, जो रामविलासजी की साधना की प्रखरता को प्राणवंत बनाता रहता है। यहां वे एक व्यक्ति नहीं रह जाते, समूची परंपरा और उसके सबसे जीवंत रूप और प्रखर संस्करण बनकर हमारे सामने आते हैं। हमारी विस्मृतियों को प्रेरक और ऊर्जाभरी स्मृतियों में बदलते हुए।

अपनी परवर्ती कृतियों में उन्होंने सृजनात्मक साहित्य कम (या लगभग नहीं के बराबर) किंतु वैचारिक लेखन बहुत ज्यादा किया है। बहुत सारे लोगों को भले ही यह समझ में न आए कि रामविलासजी पश्चिमी एशिया को क्यों समझना चाहते हैं ? क्यों नहीं वे दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रति उन्मुख हुए जिसकी ढेर सारी विरासतों का वास्ता प्राचीन भारत से है। पश्चिम और पश्चिमी समाज के इतिहास और उसकी परंपराओं का अध्ययन भला वे क्यों करना चाहते हैं ? इसलिए तो कहीं नहीं कि पश्चिमी सभ्यता उनके सामने कई खौफनाक सवाल लिए खड़ी है। ठीक गांधीजी की तरह रामविलासजी भी क्यों पश्चिम और पूर्व के बीच के विवादों को समझना जरूरी मान रहे हैं, आखिर इसकी कोई वजह तो होगी ? क्या वे फिर से कोई ऐसी बहस दुहराना चाहते हैं, जो गांधीजी ने 'हिंद स्वराज' में उठाई थी। इसका जवाब हमें उनके कविता-संग्रह 'सदियों से सोये जाग उठे' की भूमिका में मिलता है। वे लिखते हैं- 'बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माल का बहिष्कार किया जाय तो भारत आत्मनिर्भर बनेगा, उसी परिमाण में युद्ध की तैयारी के लिए आवश्यक धन का एक स्रोत बंद होगा। इस समय इन कंपनियों की घुसपैठ केवल भारत में नहीं, समाजवादी देशों में भी हो रही है। स्वदेशी आंदोलन की जरूरत केवल भारत को नहीं, समाजवादी देशों को भी है। भारत इस आंदोलन का केंद्र रहा है, उसे इस मामले में पहल करनी चाहिए। अपने अमल से उसे दुनिया को दिखा देना चाहिए। स्वदेशी आंदोलन कैसे राष्ट्रीय स्वाधीनता को सुदृढ़ करता है और साम्राज्यवादी युद्ध शक्तियों को पंगु करता है।' (पृष्ठ-26)

पश्चिम की सभ्यता का यह जो चेहरा है इसके कई नए रूप धीरे-धीरे भारत के सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की समझ में भी आने लगे हैं। इस संदर्भ में रामविलासजी की चिंताएं ध्यान देने के योग्य हैं। कर्णसिंह चौहान के एक प्रश्न के उत्तर में कभी रामविलासजी ने कहा था- 'जो आधुनिकता के पक्षधर हैं प्रकारांतर से वे पूंजीवाद (खासतौर से अमरीकी पूंजीवाद) के समर्थक हैं और जो ऐसे हैं, उनसे भारत के समाजवादी सपनों के प्रति कैसे कोई उम्मीद की जा सकती है।' आधुनिकता के प्रति भाव-विमुग्ध होते-होते लेखकों और बौद्धिकों की एक पूरी फौज ही आज उत्तर आधुनिकता की ओर खिसक गई है। ऐसे लोगों से यह कौन पूछे कि इनकी सोच-समझ की जड़ें लोक में हैं या पर-लोक में ? समाजवाद में या अमरीकी पूंजीवाद में ? आज नहीं तो कल यह सवाल उठेगा जरूर। इनसे यह भी पूछा जाएगा कि तुम विचारों की जूठन चाटने और

पागुर करने वाले लोग हो या फिर स्वाधीनचेता राष्ट्रीय नागरिक और व्यक्ति, जिसकी अपनी भी कोई जमीन और अपना भी कोई आसमान है। मार्क्सवाद के खेमे में अकेले रामविलासजी थे, जो इन संभावित प्रश्नों के प्रति बेहद सचेत थे।

दुनिया जानती है और भारत के लोग तो इसे मुहावरे के तौर पर कहते रहे हैं कि विचार अपौरुषेय होते हैं। भूगोल की सीमाओं और समाज की संकीर्ण परिधियों में अगर वे बांधे जा सकते तो न तो दक्षिण-पूर्व एशिया में बुद्ध-विचार फैल पाता न भारत-श्रीलंका आदि देशों में ईसाई विचारों को पनपने का कोई कारण बन पाता। मार्क्स के विचार भी किसी एक देश या समाज की बपौती नहीं हैं। जिस तरह विज्ञान के अविष्कार समूचे विश्व के लिए हैं, उसी तरह समस्त विश्व के ऋषियों और मुनियों के विचार भी दुनिया भर के लिए हैं। देखना सिर्फ यह पड़ता है कि एक सुनिश्चित ज़मीन या विवेक-केंद्र से उठकर, जब कोई विचार अपने भूगोलों और राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक सीमाओं का अतिक्रमण करने लगता है, तब वह उसी रूप में नहीं फलता-फूलता जैसा कि कुछ जड़ मार्क्सवादी कठमुल्ले सोचते रहे हैं। भारत जैसे बौद्धिक परंपरा वाले देश में जहां कई-कई विश्व-विचारक जन्मे और दुनिया भर में फैले उस जमीन पर जब मार्क्सवाद उतरेगा, तब उसे अंखुवाने और पनपने के लिए यहां कैसी-कैसी चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा, इस पर सोचने का काम क्या उनका नहीं है, जो इसके लिए स्वयं को सबसे बड़ा भगीरथ घोषित करने का दावा करते नजर आते हैं । क्या हवाई सिद्धांत-रटन ही सबसे बड़ा बौद्धिक पुरूषार्थ है ? शुक्र है कि रामविलासजी ने इस पाखंड को अपनी पहचान नहीं बनाया।

एक बातचीत में कवि नागार्जुन ने मुझसे कहा था कि वे राष्ट्रीय मार्क्सवादी हैं। अगर साम्यवादी चीन लोकतंत्रवादी भारत पर हमले करता है, तो वे इसलिए चुप नहीं रहेंगे कि चीन मार्क्सवादी विचारों वाला देश है। किसी भी कवि-बुद्धिजीवी और सचेत नागरिक की पहली जिम्मेदारी उसके अपने राष्ट्र के प्रति है। अत्यंत क्षुब्ध होकर उन्होंने कहा था कि छोटी-छोटी राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति निरंतर आंखें मूंदे रहना और अंतरराष्ट्रीय राजनीति के गर्मागर्म माहौल में हुआं-हुआं करना ही क्यों भारत के अधिकांश मार्क्सवादियों का चरित्र हुआ बैठा है। ऐसी ही बातचीत में कभी रामविलासजी ने एक अखबारनवीस से कहा था कि मजदूरों और सर्वहाराओं की पक्षधर वामपंथी पार्टियों की पद्धति शुरू से लोकतांत्रिक नहीं है। आज तक उनकी भाषा अंग्रेजी है। तब देशी भाषाओं वाले विपुल संख्या के मजदूरों का संवाद अपनी इस अंग्रेजीदां पार्टी से किस तरह हो सकता है। जीवन भर अंग्रेजी पढ़ाकर अपनी रोजी-रोटी कमाने वाले रामविलासजी की भाषा के प्रति जैसी अटूट और अखंड आस्था थी, उसे वे ही लोग समझ पाएंगे जिनके मन देशी और साफ-सुथरे होंगे।

लोकभाषा और उसके देशी मुहावरों के प्रति उनकी सजगता और रचनात्मक जिम्मेदारी देखने लायक थी। वे समूची भारतीय भाषाओं और विचार परंपरा का अवगाहन ठेठ मार्क्सवादी नजरिए से करते चल रहे थे। जो लोग यह कहते हैं कि रामविलासजी

धीरे-धीरे प्रतिक्रियावादियों के हथियार बनते जा रहे थे, या फिर उनका पुराना आर्यसमाजी और देशी हिंदू संस्कार बुढ़ापे में प्रबल हो रहा था, उनसे यह जरूर पूछा जाना चाहिए कि क्या समस्त हिंदू परंपराओं की क्रांतिकारिता और वैचारिक विविधता का अध्ययन उन्होंने किया है? क्या समूचा भक्ति आंदोलन हिंदू परंपरा का क्रांतिकारी दस्तावेज नहीं है? नवजागरण का मूल भी क्या इसी का अगला चरण नहीं है ? दयानंद हों, राजा राममोहन राय या फिर विवेकानंद ये सब हिंदू बुद्धिवाद के ही तो ज्योति-स्तंभ हैं। किसी का तेज-वलय छोटा है तो किसी का अपेक्षाकृत कुछ बड़ा। बीसवीं और इक्कीसवीं सदी का कोई भी नया या अति आधुनिक विचार, इनसे टकराए बिना अपनी जगह नहीं बना सकता। गांधी, अंबेडकर और लोहिया को नजरअंदाज या दरकिनार कर अगले और समकालीन भारतीय समाज पर सोचा भी नहीं जा सकता, यह हमें रामविलासजी ने ही बताया। ऋग्वेद आदि ग्रंथों को यदि हम अपने स्रोत-सांस्कृतिक ग्रंथों की सूची से बाहर निकाल नहीं सकते, तो उन्हें उन कर्मकांडवादियों की गिरफ्त से भी बाहर लाना होगा, जो इन ग्रंथों के वैचारिक तेज को घेरकर इनकी आभाओं को निरंतर मलिन कर रहे हैं। रामविलासजी ने यह बड़ा काम हाथ में लेकर उन पैंतरेबाज मार्क्सवादियों को नसीहत दी है कि भारत जैसे देश में भौतिकवादी विचारों की सनातनता रेखांकित कैसे की जा सकती है।

उत्तर आधुनिक पूंजी और बाजारवाद के आक्रामक हमलों के बीच राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व दिन-प्रति-दिन संकटग्रस्त होता जा रहा है। ख्यात समाज-विज्ञानी प्रभात पटनायक की यह चिंता गौरतलब है कि, तब क्या राष्ट्र-राज्य भी बहुराष्ट्रीय निगमों को ठेके पर उठा दिए जाएंगे? ये ठेके पर न उठाए जा सकें, राष्ट्रीय अस्मिता और प्रभुसत्ता की रक्षा के आधार बने रहें, इसके लिए जरूरी है कि हम सब आज अंतरराष्ट्रीय सर्वहारावाद के बदले राष्ट्रीय सर्वहारावाद की ओर लौटें और उन परंपराओं की खोज करें, जिनसे श्रम-कुशल देशी समाजों का इतिहास जाना जा सके, उनकी वैज्ञानिक विधियों की परीक्षा की जा सके, पद्धतियों की वैज्ञानिकता की पुनर्शोध और प्रासंगिकता पर विचार कर, उन्हें जांचा और परखा जा सके। ऋग्वेद के ऋषियों के श्रम-उन्मुख कर्म-कुशल जीवन का उल्लेख करते हुए अपने ग्रंथ 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (खंड–एक पेज-63) पर रामविलासजी लिखते हैं- 'ऋग्वेद में ऋषि अनेक प्रकार का शारीरिक श्रम करते हैं। किसी भी तरह का श्रम हो, उससे उन्हें घृणा नहीं है। इस शारीरिक श्रम के साथ वे काव्य भी रचते हैं, यज्ञ करते हैं, देवताओं के लिए स्तुतियां बनाते हैं। शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच अभी फासला पैदा नहीं हुआ।' आगे की पंक्तियों में वे लिखते हैं- 'ऋग्वेद की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि यहां शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम का भेद मिट गया है। यह हमारा अतीत है और जिस भविष्य की ओर हमें जाना है, वह भी यही है।' इसी संदर्भ में कुछ पंक्तियां और - 'संसार में व्यक्तिगत संपत्ति की उत्पत्ति के बाद वर्गों का निर्माण हुआ। समाज में शोषण की व्यवस्था कायम हुई, ऊंच-नीच का भेद हुआ। इसे मिटाने का एकमात्र तरीका यह है कि मनुष्य सब तरह का श्रम करे, जो लोग शारीरिक

श्रम करते हैं, उन्हें भी पढ़ने-लिखने का अवसर मिले, मानसिक श्रम से उन्हें दूर न रखा जाए। इसी तरह, जो लोग मानसिक श्रम करते हैं, वे अपने को समाज का श्रेष्ठ प्राणी न समझें। वे भी शारीरिक श्रम करें। इस तरह समाज में समानता का भाव पैदा होगा। कितने ही अवसरवादी और सरकारी मार्क्सवादी होंगे, जो तत्काल आगे आकर यह कहेंगे कि रामविलासजी की ये बातें ऋग्वेद आदि ग्रंथों के मार्फत प्रतिक्रियावादियों के पक्ष में जाती हैं पर यह कभी नहीं विचार करना चाहेंगे कि बौद्धिक जीवनचर्या का क्या कोई रिश्ता श्रमशील जीवन से भी बनना चाहिए ? सदी के अंतिम दशकों में भारतीय परंपरा और उसके अतीत के समाज की तरफ जाकर समकालीन बौद्धिकों और श्रमिक बिरादरी के बीच निरंतर बढ़ते जाते फासलों के बगैर किसी घोषणा के पाटने की पहल करते हुए उस गांधी विचार तक भी जाते हैं, जो स्वयं गांधीजी के जीवन और कर्म की प्रामाणिक पहचान बना हुआ है। गांधीजी स्वयं भी कोरे बौद्धिक कर्म को सही नहीं मानते थे। चरखा और खादी के मार्फत उन्होंने जिस सांगोपांग राष्ट्रीय जीवन की कल्पना की वह करघा और कबीर की कविता जैसी ही बात थी। श्रमशील जीवन की श्रमशील संवेदना। प्राय: गांधीवादी कवि के रूप में विख्यात भवानी प्रसाद मिश्र ने अपने साम्यवादी लेखक/कवि मित्रों से काव्य-संवाद करते हुए लगभग ऐसे ही आग्रह अपनी कविता में प्रस्तुत किए :

आज का पढ़ा या लिखा
पढ़ता या लिखता-भर है
काम का बहाना किये
सड़कों पर दिखता भर है
आलम में डूबा हुआ
साहब या सूबा हुआ
केवल दंभ करता है
मेहनत से डरता है
रोना किसान के मजदूर के दुखड़े को
शीशे में हजार बार देखना मुखड़े को
काम से पसीने से कोई पहचान नहीं
कोरी कविता का और तिस पर अवसान नहीं

गांधीजी पर लिखते हुए रामविलासजी ने अपनी पुस्तक 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं' (रचना खंड-1 पृष्ठ 282-83) में लिखा वह (अर्थात् गांधीजी) भारतीय जनमानस की आकांक्षाएं समझते थे, उन्हें अपनी भाषा में व्यक्त करते थे, यह उनकी लोकप्रियता का मुख्य कारण था। रामविलासजी की विवादग्रस्त लोकप्रियता का भी अगर कोई आधारभूत कारण है, तो यही कि एक साहित्यालोचक और लोकविज्ञानी के रूप में उन्होंने स्वयं को थोपने के बजाए भारतीय समाज की 'आकांक्षाओं' को गहरे स्तर पर जाकर समझा और ऐसी भाषा में कहा, जो सबके लिए ग्राह्य हो सके। न केवल इतिहास और समाज-विज्ञान में अपितु प्रारंभिक प्रगतिवादी लेखन में भी उन्होंने अपने,

जो प्रस्थान रेखांकित किए वे बुनियादी जातीय आधारों और मसलों को समझने से जुड़े रहे हैं। भारतेंदु, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी फिर लौटकर तुलसीदास, कालिदास की तरफ उनका जाना क्या यही सूचित नहीं करता? इन सबके विवेचन के मार्फत वे उन ऐतिहासिक सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भों को समझने में लगे थे, जिनके बिना न विद्या और कला का महत्व समझ में आता है न वह कलाकृति, जो किसी खास कालखंड और समाज के गर्भ से अंखुए की तरह फूटती और विकास प्राप्त करती है। कलाकृति का मर्म, तो तभी समझ में आता है, जब हम उसके संदर्भों को पकड़ सकें।

समीक्षक से प्रत्येक वर्ग में विस्तृत अध्ययन, प्रगाढ़ जीवनानुभूति, विविधता से परिपूर्ण अनुभव-संसार और मार्मिक जीवन-विवेक की मांग की जाती रही है। लोक और शास्त्र की प्रचलित मर्यादाओं और ज्ञान परंपराओं की गहरी और बारीक समझ की अपेक्षा की जाती है। इस संदर्भ में देखें तो महान साहित्यालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रुचियां प्राय: सीमित रही हैं। शास्त्रीय संगीत को लेकर उनकी उपहासप्रद टिप्पणियां या फिर मध्ययुगीन महीन चित्रकारी और चित्रकला को लेकर उनके विचार किसे नहीं मालूम होंगे। उनकी एक और सीमा अपने ही विचारों और सिद्धांतों के दायरे में फंस और बंध जाने की मानी जाती रही है। जहां ये विचार और सिद्धांत नहीं दिखते, वे जगहें उस महान आचार्य की रुचिकर जगहें नहीं बचतीं। इस दृष्टि से देखें तो रामविलासजी का न केवल रवैया बल्कि अभिरुचि-संसार भी विविध एवं विस्तृत है।

समकालीन भारतीय जीवन और समाज की विविधता, विशालता, गतिशीलता और उसकी लोकतांत्रिक संवेदनाओं की प्रगल्भता और मुखरता को वे अपेक्षित महत्व दे सके हैं, जिसकी जरूरत आधुनिक हिंदी साहित्य को थी। निश्चय ही यह उनका अपना लोकतंत्र था। इसमें भी कोई शक नहीं कि यह सब, उन्होंने बेहद जातीय सोच और निष्ठा से किया है। उनका समूचा लेखन ऐसे ही निष्ठावान पाठकों की मांग भी करता है। संयोग से रामविलासजी को जो मिले हुए भी हैं।

आलोचक से जिस असाधारण सहृदयता और तरलता की अपेक्षा की जाती है वह तो उनमें स्वभावत: थी। आचार्य शुक्ल को तो मैंने देखा नहीं कारण, तब मेरी उम्र मुश्किल से एक या सवा साल की होगी, जब इस संसार से विदा हो गए पर उनके परम शिष्य और परवर्ती आचार्य आलोचक नंददुलारे वाजपेयी के साथ रहने का अवसर मुझे मिल सका। छह- सात साल उनकी ही छाया में बीते, उन्हीं के मार्फत डॉक्टर रामविलास शर्मा के भी निकट जब-तब जा सका। दोनों ही सहृदय अपने प्रिय कवियों- प्रसाद और निराला को लेकर बेहद भावुक हो उठा करते थे। आंखें डबडबा जाया करती थीं। ऐसी विरल भावुकता और ऐसा समर्पित लोक-विवेक इन आचार्यों से यह बार-बार कहला सका कि कला हो या साहित्य, धर्म हो या विज्ञान, सबकी परीक्षा राष्ट्रीय जीवन की कसौटियों पर ही होगी। इस 'जीवन' से कट जाने पर वह, जो कुछ भी कहेगा या करेगा, वह कोरा हवाई सिद्धांत कथन ही माना जाएगा। आज रामविलासजी यदि वाम के साथ-साथ मध्य

और दक्षिण कहे जाने वाले खेमों में आदर के साथ पढ़े और देखे जाते हैं, तो इसका कारण उनका वह संतुलित और ईमानदार दृष्टिकोण है, जो निर्भ्रान्त साहस से भरा हुआ है। कई अन्य चर्चित आलोचकों की तरह वे कोई संप्रदाय या गुट बनाकर अपना वर्चस्व और नायकत्व स्थापित नहीं करते। विकासमान समूचा जातीय राष्ट्रीय जीवन ही उनकी अपनी चिंता के केंद्र में है। भारत के सांस्कृतिक संकटों को समझते हुए उन्होंने बार-बार जातीय इतिहास को समझने पर जोर दिया और लिखा- 'साहित्य का इतिहास लिखते समय शासक जाति और शासित जाति के लिए अलग-अलग कसौटियां नहीं हो सकतीं। अंग्रेज़ी राज में हिंदी जाति का साहित्य, अंग्रेजों के जाने के बाद स्वाधीन भारत में हिंदी जाति का साहित्य, इन सबके इतिहास की अपनी सीमाएं हैं। लेकिन अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहां, जो साहित्य रचा गया था, उसका इतिहास समझ लें, एक बार हिंदी जाति के साहित्य का एकताबद्ध लोकवादी स्वरूप समझ में आ जाए, तो अंग्रेजों की विघटनकारी भूमिका को समझना आसान होगा। स्वाधीन भारत के अनेक विद्वान कैसे इसी भूमिका को दोहराते आए हैं, यह भी स्पष्ट हो जाएगा। विदेशी पूंजी पर भारत की निर्भरता, जब बराबर बढ़ रही हो, तब देश में पश्चिमी संस्कृति के पतनशील तत्वों का प्रसार अनिवार्य है। इनसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने, अपनी परंपरा और परिस्थितियों के अनुसार उसका विकास करने में हिंदी साहित्य का इतिहास हमारा मार्गदर्शन करता है। यही उसका महत्व है, नए इतिहास के निर्माण में उसकी भूमिका है।'

रामविलासजी ने जीवन भर इसी भूमिका को निभाने का प्रत्येक स्तर पर प्रयास किया। यह भाषा का स्तर भी रहा तो धर्म, संस्कृति, परंपरा, इतिहास और राजनीति का भी। हिंदी भाषा-समाज की ये वे जमीनें थीं, जिन्हें उनकी बुनियादों पर जाकर समझा जाना था। यह रामविलासजी जैसे शोधी ही कर और कह पाए कि 'वास्तव में पुरोहितवादी रूढियां यहां की जनसंस्कृति का स्रोत कभी नहीं रहीं।' न ही यहां की जनता कभी सांप्रदायिक रही इसलिए परंपरा की प्रगतिशीलता और जनधर्मिता को समझना हमारा काम है। इस संदर्भ में नामवर सिंह और चंद्रबली सिंह जैसे साथियों से बातचीत करते हुए उन्होंने ये हिदायतें भी उनके सामने रखीं कि 'गांधी जी ने साम्राज्यवाद का, जो विश्लेषण किया है और विदेशी पूंजी के आने की जो निंदा की है, और उसके जिन खतरनाक परिणामों का विवेचन किया है, इतना अच्छा भारत में शायद ही किसी ने किया हो, लेकिन कांग्रेस पार्टी उसके बारे में चुप है। गांधीजी ने क्रांतिकारी आंदोलन का विरोध भी किया, वो दूसरा पक्ष है, उसके विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, लेकिन जो सकारात्मक चीजें हैं उन्हें जनता को बताना चाहिए कि ये तुम्हारी परंपरा है।' रामविलासजी को इसी संदर्भ और इसी पृष्ठभूमि पर समझे जाने की जरूरत है।

रामविलास शर्मा : जुझारू परंपरा का सृजन

अजय तिवारी

डॉ. रामविलास शर्मा के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में एक यह माना जाता है कि उन्होंने जाति को संदर्भ-बिंदु बनाकर भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का इतिहास निर्मित किया है। वे परंपरा के व्याख्याता अथवा निर्माता हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी दिलचस्पी प्राक्-इतिहास में नहीं, ज्ञात-इतिहास में रही है। परंपरा को उन्होंने अनुमान और रहस्य, विश्वास और अध्यात्म के क्षेत्र में नहीं, समाज और इतिहास के क्षेत्र में खोजा और व्याख्यायित किया है इसलिए कि मनुष्य के वास्तविक कार्यकलाप, संबंध-समुच्चय, संकल्प और स्वप्न के माध्यम से परंपरा निर्मित और परिभाषित होती है। रोमिला थापर जब कहती हैं कि अतीत की अनेक परंपराओं में से हर युग अपने लिए अलग परंपरा का चुनाव करता है, तब वास्तव में हमारे दृष्टिकोण का महत्व बेहद बढ़ जाता है।

परंपरा के निर्माण में रामविलासजी की सबसे निर्णायक और चकित करने वाली विशेषता है कसौटियों की विविधता और अंत:संबद्ध व्यवस्था। इसीलिए उनका हर अगला अध्ययन पिछले कामों का विकास करनेवाला होता है, उनसे असंबद्ध नहीं। उनका जन्म 1912 में हुआ था। स्वाधीनता आंदोलन का ज्वार-भाटा देखते हुए उनके बोध और अनुभव का निर्माण हुआ। वे बैसवाड़े के थे और साधारण किसान परिवार में उत्पन्न हुए थे। साम्राज्यवादी शोषण के सबसे अधिक शिकार भारत के किसान थे और साम्राज्यवादी सत्ता को सबसे बड़ी चुनौती अवध के किसानों से ही मिली थी। रामविलासजी के दृष्टिकोण का निर्धारण साम्राज्य-विरोधी चेतना और किसान जीवन के आधार पर हुआ था। अपने इसी

दृष्टिकोण के कारण परंपरा का मूल्यांकन करते हुए उनका चिंतन पक्षधर, सुसंगत और निर्भ्रान्त रहा।

मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ ने 14-15 मई, 1983 को भोपाल में 'महत्व रामविलास शर्मा' का आयोजन किया था। इसमें अशोक वाजपेयी ने यह मत प्रकट किया था कि 'डॉ. शर्मा, जिनकी आम प्रगतिशील लोग इतनी प्रशंसा करते हैं, के बाद कोई और आलोचक ऐसा महत्वपूर्ण काम क्यों नहीं कर सका ?' (मुक्ति संघर्ष, नयी दिल्ली, 19 जून, 1983) रामविलासजी के बाद 'इतना' महत्वपूर्ण न सही, जितना भी महत्वपूर्ण कार्य हुआ है, वह मुख्यतः प्रगतिशील आलोचकों ने ही किया है। प्रगतिशील आलोचकों ने समीक्षा के नाम पर गद्यगीत नहीं लिखा है। फिर भी, अकेले रामविलासजी ऐसे विचारक योद्धा हैं, जिनके आस-पास का कोई आलोचक प्रगति-विरोधियों के पास नहीं है। रामविलासजी अकेले ही ऐसे कीर्तिमान हैं, जिसके आगे अगर भारत की संपूर्ण जनवादी-क्रांतिकारी परंपरा मूर्तिमान है, तो इस परंपरा को मिटाने वाले सभी जटिल-कुटिल विचारक बौनों की पांत नज़र आते हैं।

इसी आयोजन में डॉ. नंदकिशोर नवल ने कहा था, 'डॉ. शर्मा हमारे जातीय आलोचक हैं और उनकी आलोचना हमारी परंपरा के सही मूल्यांकन के साथ ही साहित्य की भावी दिशा का पथ-निर्देश करने वाली भी है। (उपर्युक्त) उन दिनों रामविलासजी के बारे में डॉ. नवल ऐसा ही सोचते थे। हिंदी में कुलीनतावादी दल का सारा दृष्टिकोण और रचनात्मक अभियान इस बात की गवाही देता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ. रविभूषण ने लिखा था कि 'आज जिन्हें लंगोट भी ठीक से बांधना नहीं आता, वे उनके (डॉ. शर्मा के) साथ अखाड़े में उतरना चाहते हैं जबकि रामविलासजी की प्रतिस्पर्धा ऐसे किसी टुटपुंजिये से नहीं है। रामविलास शर्मा के लिए इतिहास-लेखन इतिहास-निर्माण के साथ जुड़ा हुआ है।' (प्रभात खबर, रांची, पत्रिका, 11 अक्तूबर, 1992)

स्वभावतः परंपरा के मूल्यांकन को लेकर रामविलासजी का उद्देश्य है- परंपरा का निर्माण और भविष्य की रचना। उन्होंने बारंबार स्पष्ट किया है कि परंपरा का मूल्यांकन लकीर का फकीर बनना नहीं, 'युग परिवर्तन' लाना है। उनका यही उद्देश्य उनकी मूल्यांकन पद्धति का और विषय-वस्तु के प्रति उनके दृष्टिकोण का निर्धारण करता है। वे अपने को अकादमिक अनुशासन के तटस्थ और आग्रहहीन विचारकों में नहीं गिनते, 'आग्रहपूर्ण विवेचक' मानते हैं और अपने 'आग्रह' के अनुसार परंपरा के प्रगतिशील तत्वों को उभारकर तथा पतनशील तत्वों का खंडन करते हुए किसी युग या विचारक के विकास का चित्रण करते हैं। अंतर्विरोधों की व्याख्या का यह उनका अपना तरीका है। इसलिए उनका विवेचन नीरस, पांडित्यपूर्ण और अमूर्त नहीं होता। उसमें सजीवता, टकराहट और भरापूरापन रहता है, जिसे पढ़ने वाला पाठक न केवल तथ्यों और तर्कों से संपन्न होता है, बल्कि इतिहास का जीवंत बोध भी प्राप्त करता है इसीलिए डॉ. शर्मा का लेखन चमत्कृत नहीं करता, अभिभूत करता है, वह निस्संग नहीं बनाता, कायल करता है।

दूसरे शब्दों में, वे अपनी मेधा, परिश्रम और चिंतन की गरिमा से केवल अतीत को वर्तमान से नहीं जोड़ते, अपने पढ़ने वाले को वर्तमान से भविष्य में गतिशील भी करते हैं। उनके लिए परंपरा का अर्थ इस सकर्मक ज्ञानात्मक संवेदन से है। संभव है कि कुछ मित्रों को लगे कि यह 'सकर्मक ज्ञानात्मक संवेदन' मुक्तिबोध की पदावली है और रामविलासजी मुक्तिबोध के विरोधी थे लेकिन ऐसी संशयात्माओं के लिए एक ही निवेदन काफी है कि दोनों मार्क्सवादी चिंतन के द्वारा साहित्य और इतिहास की समस्याएं सुलझाते थे, उनमें समानता के अनेक बिंदु हैं। मुक्तिबोध के मन में जनता के प्रति गहरा लगाव था, इस लगाव से उनके भावबोध और कला का ही नहीं, उनके आत्मसंघर्ष का संबंध भी सबसे अधिक रामविलासजी ने ही पहचाना था। बहुत से प्रशंसकों की तुलना में मुक्तिबोध अपने आत्मसंघर्ष को अधिक वस्तुनिष्ठता और ईमानदारी से समझते थे, इसलिए अपनी समस्या दो-टूक शब्दों में रखते थे— 'हर पल चीखता हूं, शोर करता हूं, कि ऐसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूं।'

रामविलासजी की दिशा अलग है, वे इतिहास-चेतन और वर्ग-चेतन दृष्टिकोण से अपनी जनता की समस्याएं सुलझाने और उसके बौद्धिक-सांस्कृतिक विकास को सर्वोन्नत शिखर तक ले जाने के लिए इतिहास और परंपरा का निर्माण करते हैं। इस काम के रास्ते में जो विचार, जो धारणाएं और जो सिद्धांत बाधक हैं, उन्हें निर्मूल करने के लिए रामविलासजी ने कोई प्रयत्न नहीं छोड़ा। उन्होंने भारतीय रूढ़िवाद अध्यात्मवाद, बिरादरीवाद और संप्रदायवाद, दार्शनिक आदर्शवाद और भाववाद, सामंती और साम्राज्यवादी दृष्टिकोण, अस्तित्ववादी और उत्तर-आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों सहित सभी प्रकार की अवसरवादी, पुराणपंथी और जनद्रोही रुझानों का तीखा खंडन किया है।

इस बात पर अनेक लोगों ने ध्यान दिया है कि रामविलासजी के दृष्टिकोण के निर्धारण में साम्राज्य-विरोधी प्रेरणा अत्यंत महत्वपूर्ण थी। भारत अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन था। इस अधीनता के परिणामों को लेकर इतिहासकारों और मार्क्सवादी विचारकों में काफी मतभेद थे। आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन विकासवादी चिंतन के साथ 19वीं शताब्दी में विकसित हुआ। यूरोप में और भारत में इतिहास-लेखन की परिस्थितियों में यह फर्क था कि फ्रांसीसी-पुर्तगाली-अंग्रेज़ अपने साम्राज्य फैला रहे थे और भारत उपनिवेश था। 19वीं शताब्दी के इतिहास-लेखन पर औपनिवेशिक परिस्थितियों का सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह का प्रभाव पड़ा। रोमिला थापर ने भारतीय इतिहास संबंधी 'प्राच्यविदों, उपयोगितावादियों और राष्ट्रवादियों' की व्याख्याओं की कुछ मूलभूत समस्याएं रेखांकित की हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी से भारत और यूरोप के बढ़ते हुए संपर्क के कारण भारतीय इतिहास में यूरोप की दिलचस्पी स्वाभाविक थी। 18वीं शताब्दी में प्राच्यवादी दृष्टिकोण उभरा (जिसके आधार पर आगे चलकर 'ओरिएंटलिज़्म' का सिद्धांत खड़ा हुआ)। उसने वैदिक युग को बढ़ा-चढ़ा कर आंका तथा प्राचीन भारतीयों को खुशहाल ग्रामसमाज के रूप में देखा। उपयोगितावादी व्याख्या ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों द्वारा विकसित हुई,

जिसका सारतत्व यह था कि 'भारत में अंग्रेजों का आगमन एक दैवीय सुयोग है, क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन और क़ानून से भारत का पिछड़ापन ख़त्म हो जाएगा।' पहली व्याख्या मुख्यतः मैक्समूलर और गोविनो द्वारा प्रस्तुत की गयी, दूसरी व्याख्या विशेषतः जेम्स मिल द्वारा। राष्ट्रवादियों ने अपनी व्याख्या का आधार प्राच्यविदों को ही बनाया और 'प्राचीन भारत का काफी बढ़-चढ़कर गौरव-गान किया।' (इतिहास की पुनर्व्याख्या, 1991, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ. 88-90, अनुवादः बद्रीनाथ तिवारी)

इन तीनों ही दृष्टिकोणों में उस आलोचनात्मक चेतना का अभाव था, जो अतीत की खोज करते हुए तर्कों से भ्रम दूर कर सके और गौरवमंडन या मानमर्दन के प्रयत्न से बच सके। उपयोगितावादी (यानी साम्राज्यवादी) इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को तीन धर्मों के आक्रमण और विजय के आधार पर तीन युगों में विभाजित किया—'हिंदू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश सभ्यता। (उपर्युक्त, पृ.89) इस प्रकार, भारतीय इतिहास औपनिवेशिक काल की खोज या 'रचना' है, जिसकी अतिवादी धारणाएं या तो भावुक अतीत मोह की झलक प्रस्तुत करती हैं या अंग्रेजी राज का औचित्य स्थापित करती हैं।

पारिभाषिक अर्थ में जिन्हें इतिहास-लेखक कहा जाता है, उन्होंने आगे चलकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इन अतिवादों की जगह वैज्ञानिक ढंग से इतिहास-निर्माण का प्रयत्न किया, सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में यह सबसे सुसंगत, सबसे व्यवस्थित रूप में डॉ. रामविलास शर्मा ने किया। पारिभाषिक अर्थ में इतिहासकारों से रामविलास शर्मा की यह समानता है कि दोनों ने ही प्राच्यवादी या उपनिवेशवादी दृष्टिकोण का खंडन किया, पुरातात्विक और साहित्यिक दोनों प्रकार के नए साक्ष्य प्रस्तुत किए, विभिन्न कालों के इतिहास को धर्म से अलग करके सामाजिक संरचना के आधार पर देखने का अभ्यास विकसित किया। लेकिन इतिहासकारों से रामविलासजी का यह अंतर है कि इतिहासकार प्राचीन, मध्यकालीन या आधुनिक इतिहास के विशेषज्ञ हैं, रामविलासजी इस अर्थ में न इतिहासकार हैं, न विशेषज्ञ। वे 'इतिहास विवेचक' हैं और इस विवेचन में वे विशेषज्ञता की सीमाएं तोड़कर वैदिक काल से 'सबाल्टर्न' इतिहास तक के पूरे परिदृश्य पर सांगोपांग दृष्टि डालते हैं।

रामविलास शर्मा मूलतः दार्शनिक चिंतक हैं, वे साहित्यालोचना से लेकर भाषाविज्ञान तक और दर्शन से लेकर इतिहास तक हर क्षेत्र में मौलिक ढंग से और सुव्यवस्थित रूप में विचार करते हैं। भारतीय इतिहास के विषय में वे इस उपनिवेशवादी धारणा का खंडन करते हैं कि बाहरी सभ्यताओं (हमलावरों) ने तीन युगों में तीन विजय अभियानों के माध्यम से भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ा है और उसके भौतिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील किया है। इसी क्रम में उन्होंने यह देखा है कि आर्यों को नस्ल के रूप में परिभाषित करने और उनके आक्रमण के आधार पर भारत के प्राचीन समाज की व्याख्या करने का प्रयत्न साम्राज्यवाद के हितों को मदद पहुंचाता है। आर्य जाति के सिद्धांत का उदय यूरोपीय पूर्वाग्रहों और पूर्वधारणाओं से हुआ था। इसका उपयोग भारतीय इतिहास की औपनिवेशिक व्याख्याओं के काल में प्रारंभिक भारतीय इतिहास पर

किया गया। अतीत के भारतीय इतिहास में इसकी जड़ें नहीं हैं। ये शब्द रामविलासजी के नहीं, रोमिला थापर के हैं। (उर्पयुक्त, पृ.14, अनुवाद: नरेश नदीम) रोमिला थापर ने ही यह स्पष्ट किया था कि आर्य नस्ल का सिद्धांत 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' की देन है, इतिहास की नहीं। (पृ.15) यही बातें जब रामविलास शर्मा ने कहीं तो वे हिंदूवादी हो गए, अंधराष्ट्रवादी और पुनरुत्थानवादी भी।

आर्य नस्लवाद से भारतीय संस्कृति का क्या संबंध है ? सांप्रदायिक हिंदूवाद के लिए यह सिद्धांत संजीवनी बूटी का काम करता है लेकिन भारत की सांस्कृतिक परंपरा के विकास में उसकी कोई भूमिका नहीं दिखाई देती। रामविलासजी ने 1977 में 'जाति के सांस्कृतिक विकास की रूपरेखा' शीर्षक से एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख लिखा था (परंपरा का मूल्यांकन, 1981, राजकमल, नयी दिल्ली, पृ.16-29)। इस लेख में उन्होंने दिखाया कि राम, कृष्ण (और शिव) श्याम वर्ण के हैं, वे आर्य देवता नहीं हैं। गणसमाज के प्रतिरूप हैं। उनकी अखिल भारतीय स्वीकृति से नस्ल सिद्धांत का खंडन होता है। दक्षिण में आलवार और उत्तर में वैष्णव संत, दक्षिण में नायनार और उत्तर में नाथपंथी योगी, भक्ति आंदोलन में विष्णु और शिव के माध्यम से व्यक्त होने वाली यह राष्ट्रीयता आर्य संस्कृति का प्रतिवाद है। कृष्ण की पूजा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और हिंदी प्रदेश में अत्यंत व्यापक है। रामभक्ति को तुलसीदास के ब्राह्मणवाद से जोड़ा जाता है लेकिन उत्तर में वाल्मीकि और दक्षिण में कंबन, पूरब में कृत्तिवास और पश्चिम में एकनाथ, रामकथा के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक निरंतरता प्रतिबिंबित होती है। यदि आर्य संस्कृति (आक्रमणकारी) आर्यों की देन थी तो उन्होंने अनार्य देवताओं को ही क्यों स्वीकार किया?

भारतीय काव्य के दो मूल स्रोत हैं- रामायण और महाभारत। उनमें वैदिक देवतंत्र को अपदस्थ करके राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी है। जिस तुलसी ने 'भलि भारत भूमि भले कुल जन्म' का गीत गाया था, उसी ने 'बिघिन मनावहिं देव कुचाली'— वैदिक देवतंत्र से जुड़े इंद्र आदि देवताओं को जी भरकर कोसा था। इसे आर्यविरोध मानें या आर्यवाद ? गणसमाज से लेकर वर्गसमाज तक भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के निम्न और विकास में कहीं भी 'आर्य' सत्ता का दबाव या स्पर्श नहीं दिखाई देता। गणसमाज के पुराने देवताओं को अपदस्थ करके नए देवताओं (अथवा पैगंबरों) की प्रतिष्ठा प्रायः सभी संस्कृतियों में दिखाई देती हैं लेकिन 'आर्य' नस्ल और 'आक्रमण' सिद्धांत सभी जगह आवश्यक नहीं हुआ। एक काल्पनिक सिद्धांत को संस्कृति और इतिहास विमर्श में इतना मूलबद्ध कर देने के लिए हमें अंग्रेजों का ऋणी होना चाहिए।

मध्यकालीन भारत में तुर्क, पठान, अरब, ईरानी अनेक जातियों के लोग आए। वे सभी इस्लाम के अनुयायी थे। उन्हें मुसलमान की सामान्य संज्ञा देकर इतिहास की व्याख्या से सांप्रदायिक भावनाएं उत्तेजित की जाती हैं। दूसरे मार्क्सवादी इतिहासकार 'हिंदू-मुसलमान' के इस सरल विभाजन का जैसा विरोध करते हैं, उससे ज्यादा विरोध रामविलासजी ने किया है, इस विरोध के लिए सबल तर्क दिए हैं। धर्म और संस्कृति को

अलग समझे बिना हम साम्राज्यवादी प्रभाव से बाहर नहीं आ सकते। यह दिलचस्प बात है कि आर्य नस्ल की तरह धर्म और संस्कृति के एकीकरण से साम्राज्यवादियों की तरह संप्रदायवादी भी अपने हितों का पोषण करते हैं। इसलिए हिंदुत्व के 'स्वदेशी' और साम्राज्यवाद के 'भूमंडलीकरण' का सामंजस्य आसानी से हो जाता है।

रामविलास शर्मा ने प्रमाणों के साथ दिखाया है कि तुर्क और पठान आपस में भारत आने के पहले बाहर भी लड़े, भारत आने पर भी लड़े, उनकी जातीयता एक नहीं है। तुर्कों और पठानों के जातीय (सांस्कृतिक) गुण इस्लाम से पहले विकसित हो चुके थे। इस्लाम (धर्म) के उदय से उसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। तुर्क, पठान, ईरानी अलग संस्कृतियों के लोग थे। भारतीय समाज पर उनका प्रभाव एक जैसा नहीं पड़ा। यहां उनकी भाषा और जातीयता का लोप हो गया और वे घुल-मिलकर भारत की प्रादेशिक संस्कृतियों का अंग बनी। जिसे संस्कृति कहते हैं, वह हमारे समाज की इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। भारतीय कला, साहित्य, संगीत, स्थापत्य और आर्थिक जीवन के विकास में उन्होंने योगदान किया। आज जिसे हम भारतीयता या सामासिक संस्कृति कहते हैं, वह हमारे समाज की इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है।

मध्यकाल की यह संस्कृति सबसे सशक्त, जनतांत्रिक और असांप्रदायिक रूप में भक्तिकाव्य में व्यक्त हुई है। इसे विडंबना ही मानना चाहिए कि औपनिवेशिक और सांप्रदायिक इतिहासकारों ने हिंदू–मुस्लिम टकराव की सामाजिक पृष्ठभूमि में हिंदू जनता की निराशा को भक्ति का उद्गमस्रोत बताया और उसी टकराव को आधार बनाकर वे आज के हिंदुस्तान में मुस्लिम-विरोधी घृणा का प्रचार करते हैं लेकिन वे यह नहीं देखते कि भक्ति का उदय इस्लाम के आगमन से पहले, बल्कि इस्लाम के जन्म के समानांतर हुआ था। उत्तर भारत में कबीर-जायसी-तुलसी की परंपरा, धार्मिक संकीर्णता और सांप्रदायिक विभाजन के विरुद्ध उठने वाली जनसंस्कृति की विराट अभिव्यक्ति है। उसकी टकराहट धार्मिक न होकर राजनीतिक है। जायसी ने 'दिल्ली सुल्तान' अलाउद्दीन को शैतान का ख़िताब दिया था। मीरा ने उपासना के व्यक्तिगत अधिकार की मांग करके कुल मर्यादा, राजसत्ता और धर्मतंत्र के लिए सीधी चुनौती पेश कर दी थी, तुलसी को सभी अत्याचारी, प्रजापीड़क राजा 'दसकंध ज्यों' मालूम होते थे।

भारत में धर्मनिरपेक्ष परंपराएं कितनी गहराई तक पहुंची हुई थीं, यह जनपदीय बोलियों में भी हिंदू-मुसलमानों की सम्मिलित भूमिका से स्पष्ट होता है। मिथिला में विद्यापति और आगरे में रहीम का साहित्य एक ही हिंदी जाति का साहित्य है, अवधी में जायसी, तुलसी साथ हैं, ब्रज में सूर और रसखान साथ हैं। यह परंपरा अपभ्रंश से चली आयी है। सरहपा, पुष्पदंत और अब्दुल रहमान तीनों गैर-दरबारी परंपरा के कवि हैं। सरहपा बौद्ध हैं, पुष्पदंत जैन हैं, अब्दुल रहमान किसी पंथ या संप्रदाय में न होकर लोकसंस्कृति के अंग हैं। इस परंपरा का नाश अंग्रेजी राज में हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा ने गांधी के प्रसंग में लिखा है, `भारत से दूर दक्षिण अफ्रीका में सांप्रदायिक तनाव नहीं था। गांधीजी व्यापारियों के वर्ग-हितों के लिए लड़े। अपने वर्ग-हितों के कारण हिंदू और

मुसलमान मजदूर एक साथ थे। आजाद हिंद फौज के निर्माण से बहुत पहले दक्षिण अफ्रीका में हिंदू और मुसलमान एक साथ भोजन करते थे और उन्होंने छुआछूत को दूर भगा दिया था। अंग्रेजों के सुधारों के प्रकाश में ऐसा जागरण हुआ कि समाज की जितनी प्रगतिशील परंपराएं थीं, वे नष्ट हो गयीं।' (गांधी, आंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं, 2000, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.324)

आर्यों और तुर्कों के बाद यही अंग्रेज आधुनिक काल में 'सभ्यता' का प्रसार करने आए थे। उनकी 'सभ्यता' का प्रकाश भारत से पहले अमरीकी और अफ्रीकी महाद्वीपों पर फैला था। परिणामस्वरूप वहां मूल निवासियों की अनेक जातियां नष्ट हो गयीं, अनेक दर-बदर भटकने पर मजबूर हो गयीं, उनका विज्ञान-कला-कौशल लुप्त हो गया, भाषा और संस्कृति लापता हो गयी, नस्लवाद का सबसे घिनौना रूप—रंगभेदवाद-चट्टान की तरह दृढ़ हो गया। आधुनिक साम्राज्यों का विस्तार करने वाली दूसरी यूरोपीय जातियां हिंसा और क्रूरता में अंग्रेजों से मात खा गयीं। भारत में अंग्रेज अपनी 'सभ्यता' का प्रकाश पूरी तरह नहीं फैला सकें क्योंकि भारतीय समाज का आर्थिक ढांचा बहुत मज़बूत था, जिसे उन्होंने तहस-नहस किया, फिर भी उसके मूल प्रेरक तत्व–यहां के श्रमजीवितों की रचनाशीलता और जीवट– अक्षुण्ण रहे दूसरे, अंग्रेजों को अपने आगमन के दिन से महाप्रस्थान के दिन तक जनता के प्रतिरोध का लगातार सामना करना पड़ा।

जो विचारक जाने-अनजाने आर्य नस्लवाद, तुर्की मानववाद और अंग्रेज प्रगतिवाद में विश्वास करते हैं, वे बाहरी 'धक्कों' के बिना भारतीय समाज में किसी गति की कल्पना नहीं करते। इस धारणा का सहज परिणाम यह होता है कि आज भारत की प्रगति के लिए विश्वबैंक-मुद्राकोष-व्यापार संगठन और बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से अमरीकी पूंजी का वर्चस्व अनिवार्य है। रामविलासजी ने यह दिखाया है कि सामाजिक प्रगति के स्रोत सामाजिक संरचना और आर्थिक संबंधों में निहित होते हैं, बाहरी संपर्क उसे गति दे भी सकते हैं, गति रुद्ध भी कर सकते हैं। तुर्क और पठान तो भारतीय समाज का अटूट अंग बन गए लेकिन 'शासक' अंग्रेज काले नेटिव लोगों में घुल-मिल नहीं सकते थे, वे भारत की सामाजिक शक्तियों के दमन, विखंडन और इस्तेमाल में लगे रहे, ब्रिटिश शासन में सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का संबंध जनता के प्रतिरोधी आंदोलनों से है। इसीलिए 1875 का स्वाधीनता संग्राम और 1946 का नाविक विद्रोह रामविलासजी के सांस्कृतिक इतिहास लेखन में आधुनिक युग के दो महत्वपूर्ण पड़ाव हैं। दोनों आंदोलन अहिंसावाद की परिधि से बंधे नहीं थे, अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य से संबंधित थे और उन्होंने समाज के सभी स्तरों को सक्रिय किया था इसलिए राष्ट्रीय आकांक्षाओं को व्यक्त करते थे।

रामविलासजी ने स्वाधीनता के साथ विकसित होने वाली राष्ट्रीय संस्कृति को विश्व के साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों से जोड़कर देखा है। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में गिरमिट प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया था। 'ब्रिटिश पूंजीवाद के विकास और प्रसार का गहरा संबध दासों की प्राप्ति का अटूट स्रोत अफ्रीका नाम का विशाल प्रायद्वीप था। (गांधी,

आंबेडकर, लोहिया, पूर्वोक्त, पृ.37) दासों के व्यापार से मिलती-जुलती गिरमिट की प्रथा थी। अंग्रेज अधिकारी जिस दस्तावेज पर 'ऐग्रीमेंट' करके मजदूरों को भारत से बाहर भेजते थे, उसी को जाहिल-नेटिव लोग 'गिरमिट' बोलते थे। गिरमिटिया मजदूर फिजी, गयाना, नेटाल, मॉरीशस, जमैका, त्रिनिदाद आदि अंग्रेजों के विभिन्न उपनिवेशों में भेजे गए। 'ब्रिटिश साम्राज्य विशाल था और उसी के समान गिरमिट प्रथा का विस्तार भी था, वह लगभग विश्वव्यापी थी और गिरमिटिया मजदूरों को प्राप्त करने का मुख्य स्रोत भारत था। (उपर्युक्त, पृ.48)

साम्राज्यवाद के साथ पूंजीवादी व्यवस्था ही विश्वव्यापक नहीं हुई, मनुष्य की नियति भी विश्वव्यापक हुई। 14 मार्च, 1993 को केप के सर्वोच्च न्यायालय ने गैर-ईसाई ढंग से संपन्न विवाहों को अवैध करार दिया, जिससे भारतीय गिरमिटियों और व्यापारियों की पत्नियां रखैल की स्थिति में आ गयीं और उनकी संतानें पैतृक अधिकार से वंचित हो गयीं। गांधीजी के नेतृत्व में आंदोलन शुरू हुआ। व्यापारियों ने सहयोग किया, लेकिन गरीब हिंदुस्तानियों ने अपार साहस और त्याग का परिचय देते हुए संघर्ष चलाया। बहुत से अफ्रीकी व्यापारियों और मजदूरों की सहानुभूति इन हड़तालियों से थी। आखिरकार समझौता हुआ, मांगें अंशतः मानी गयीं। पराधीन देशों और उपनिवेशों के साम्राज्यविरोधी आंदोलन में यह हड़ताल ऐतिहासिक महत्व की थी। (उपर्युक्त, पृ.90)

हड़ताल के महत्व का पता इसी से चलता है कि इसी दौरान जोहांसबर्ग में सोने की खानों में गोरे मजदूरों ने भी हड़ताल कर दी। हिंदुस्तानियों से हुए समझौते का अंग्रेज़ सरकार खुला उल्लंघन करने लगी थी। गोरे मज़दूरों की एक सभा में कहा गया कि सरकार एशियाइयों की तरह गोरे मजदूरों को भी धोखा न दे, इस बात का ध्यान रखना चाहिए। (गांधीजी की रिपोर्ट, उद्धृत, उपर्युक्त, पृ. 93) गोरे मजदूर एशियाइयों से सहानुभूति रखते थे, उनके प्रति धोखा हुआ, इसे समझ रहे थे, सबसे बड़ी बात यह थी कि बहुत से गैर-मजदूर गोरों को हिंदुस्तानी मज़दूरों से सहानुभूति थी।' (उपर्युक्त, पृ. 95)

खान मज़दूरों के साथ रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर दी। उन लोगों ने गांधीजी से बात की कि वे उनके साथ आ जाएं। 'एक सत्याग्रही की भांति मुझे ऐसा न करने के निर्णय में एक क्षण की भी देर न लगी।' (उद्धृत, पूर्वोक्त, पृ.95) इससे कई बातें पता चलती हैं। राजनीतिक चेतना चाहे जितनी अलग रही हो लेकिन एक ही शत्रु ब्रिटिश साम्राज्य का सामना करते हुए गोरे और काले मज़दूर और गैर-मजदूर आपसी एकता का महत्व पहचान रहे थे। यह अंतर्जातीय चेतना साम्राज्यवाद-विरोधी अंतरराष्ट्रीय प्रतिरोध का पूर्वरूप है। गांधीजी भारतीय मजदूरों और व्यापारियों को मिलाकर 'सत्याग्रह' चलाने के पक्ष में थे, लेकिन गैर-भारतीय मजदूरों से मोर्चा बनाकर साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को क्रांतिकारी मोड़ देने के पक्ष में नहीं थे।

इस प्रकार, पूंजीवादी विषयवस्तु और राष्ट्रवाद की राजनीतिक संरचना में गहरा अंतर्संबंध है। मजदूर वर्ग की चेतना सहज रूप में अंतरराष्ट्रीयतावाद की ओर प्रवाहित होती है। आधुनिक भारत के और विश्व के सांस्कृतिक विकास का गहरा संबंध राजनीतिक

आंदोलनों की वर्गीय अंतर्वस्तु से था। साम्राज्यवादी व्यवस्था की तरह पूंजीवादी राष्ट्रवाद और श्रमजीवियों का अंतरराष्ट्रीयतावाद भी विश्वव्यापी था और दोनों तरह की नीतियां भावी संस्कृति को प्रभावित करती थीं। 1913 में गांधीजी ने व्यापक साम्राज्य-विरोधी मोर्चा न बनाकर भारतीय राष्ट्रवाद का प्रयोग किया और इससे लाभ साम्राज्यवादियों को हुआ। (उपर्युक्त, पृ.95) लेकिन 1917 में लेनिन ने रूस की क्रांति की और इससे साम्राज्यवाद का घेरा टूटा और पराधीन देशों के मुक्ति संघर्ष को रूसी क्रांति ने गहराई से प्रभावित किया। (उपर्युक्त, पृ.100) सुसंगत साम्राज्यवाद-विरोध से क्रांतिकारी आंदोलन आगे बढ़ता और जनचेतना का निर्माण यथार्थवाद की दिशा में होता, समझौतावादी नीति से आंदोलन कुंठित हुआ और निराशा और भाग्यवाद का असर दृढ़ हुआ।

गांधीजी की पूंजीवादी राजनीति का सामाजिक संस्कृति पर वस्तुगत रूप में अंततः यह प्रभाव पड़ा। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सचेत रूप में भाग्यवाद का प्रचार करते थे। अहिंसा के दायरे में रहते हुए गांधीजी हजारों मजदूरों के शौर्य भरे प्रतिरोध के आधार पर 'नए भारतीय राष्ट्र के निर्माण' का सपना देख रहे थे। (उद्धृत, उपर्युक्त, पृ.89) यह नया राष्ट्र मध्यकालीन धर्म पर आधारित नहीं था। गांधीजी ने लिखा था कि हिंदुओं और मुसलमानों का धर्म युग-युग से अपनी शिक्षा द्वारा उनकी भौतिक परिस्थितियों के प्रति उदासीन रहना सिखाता है। रामविलासजी ने इस पर टिप्पणी की है कि- 'अवश्य ही राजनीतिक आंदोलन से वह धर्म के इस प्रभाव को मिटा रहे थे और जिन भौतिक प्रवृत्तियों के प्रति भारतवासी उदासीन थे, उनके प्रति आकर्षित कर रहे थे।' (उपर्युक्त, पृ.70)

लेकिन समाज में पिछड़ेपन के भौतिक आधार बने हुए थे, बल्कि अंग्रेजी राज में सामंती व्यवस्था नया जीवन पाकर और सुदृढ़ हो गयी थी। इसलिए पिछड़ेपन के सांस्कृतिक रूप भी जमे हुए थे। गांधीजी के ईश्वर और विज्ञान संबंधी विचारों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करने के बाद रामविलासजी ने लिखा ' गांधीजी की यह बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने धर्म को राष्ट्रीयता से अलग रखा। वह सभी धर्मों में सत्य खोजते थे। धर्म उनके लिए नैतिक आचरण का पर्याय था। एक धर्म के ईश्वर से दूसरे धर्म के ईश्वर में अंतर नहीं है। सभी धर्मों की परिणति सत्य में होती है। इसलिए ये सारे धर्म राष्ट्रीयता से परे हैं।' जहां उन्होंने धार्मिक विद्वेष फ़ैलाने के लिए मुल्लाओं और पुरोहितों की निंदा की है, वहां उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास दूर करने के लिए आधुनिक विज्ञान की प्रशंसा की है। विज्ञान के प्रसार द्वारा अंधविश्वासों को खत्म करना, यह सूत्र गांधीजी की विरासत का बहुत ही मूल्यवान अंश है। आज के भारत में इसे चरितार्थ करने की आवश्यकता बनी हुई है। (उपर्युक्त, पृ. 436)

संक्षेप में, रामविलासजी ने आधुनिक भारतीय संस्कृति के विकास में वैज्ञानिक तर्कवाद, अंतरराष्ट्रीयतावादी सारतत्व और क्रांतिकारी श्रमिक नेतृत्व का महत्व पहचानकर न केवल अतीत का मूल्यांकन किया, बल्कि आज के भारत में उनकी प्रासंगिकता स्पष्ट की। गांधी जी ने धर्म से राष्ट्रीयता को अलग अलग रखते हुए संस्कृति से राष्ट्रीयता का

संबंध भली-भांति समझा था। उन्होंने दर्शन, गणित, खगोलशास्त्र, भाषाशास्त्र, न्यायशास्त्र, चिकित्साविज्ञान, विकास-सिद्धांत जैसी विभिन्न उपलब्धियों में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक योगदान से परिचय प्राप्त किया और राजनीतिक आंदोलन में उसका उपयोग किया। रामविलासजी के अनुसार, 'भारत के इतिहास का ज्ञान और भारत के महत्व की पहचान गांधीजी के प्रचारकार्य की आधारशिला थी।' (उपर्युक्त, पृ. 71) गांधीजी की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था। वामपंथी आंदोलन के अलोकप्रिय रहने का भी एक कारण यह है। जैसे-जैसे पश्चिमी काट के 'बुद्धिजीवियों' का प्रभाव वामपंथी नेतृत्व में बढ़ता गया है, भारत के इतिहास और संस्कृति के महत्व के प्रति उदासीनता बढ़ती गयी है, वैसे-वैसे वामपंथ का असर कम हुआ है।

गांधीजी के राष्ट्रवाद की एक विशेषता थी भारतीय समाज के सभी वर्गों को एक साथ रखने के लिए क्रांतिकारी और अंतरराष्ट्रीयतावादी कार्यनीति का बहिष्कार, दूसरी विशेषता थी संस्कृति को धर्म से अलग करके ऐतिहासिक ज्ञान और परंपरा से जोड़ना। जिस तरह उनके सचेत प्रयास के विपरीत उनके समझौतावाद के फलस्वरूप जनता में निराशा और भाग्यवाद के संस्कार जड़ जमाते थे, उसी तरह उनकी इच्छा के न रहने पर भी आधुनिक भारतीय संस्कृति पर अंतरराष्ट्रीय घटनाचक्र का असर पड़ता था। आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद और जनवादी संस्कृति के विकास को इन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों के अंतर्द्वंद्व में ही पहचाना जा सकता है। रामविलासजी की परंपरा-दृष्टि का गुण यह है कि अंतर्विरोधों की व्याख्या करते हुए वे अपने पाठक को न सिर्फ प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी विचारों के प्रति सजग बनाते हैं, बल्कि उन विचारों की वर्गीय भूमिका का बोध भी कराते हैं। अपने इस संघर्ष में वे सामाजिक इतिहास और सांस्कृतिक चेतना के संबंध में प्रचलित भ्रमों पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं और नयी, वैकल्पिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उन्हें यह नहीं करना पड़ता कि धर्म को 'अफीम' कहते-कहते अचानक जागकर मार्क्सवाद और धार्मिक विश्वास का ताल-मेल करने लगें! शायद यह भी इसलिए कि सार्वजनिक जीवन में संस्कृति और धर्म के परस्पर संबंध को लेकर पुराना भ्रम मिटा नहीं है।

नए 'मार्क्सवादी' नेताओं से पहले, रामविलासजी के अलावा, अनेक प्रगतिशील इतिहासकारों ने अंग्रेजों के फैलाए इस भ्रम का खंडन किया है कि भारत अध्यात्मवादी देश है। रोमिला थापर ने लिखा था 'यह अचरज की बात है कि प्राचीन भारतीयों ने खुद अपने को पास या दूर के देशों के अपने पड़ोसियों से ज्यादा आध्यात्मिक कभी महसूस नहीं किया न ही अन्य समानतः महत्वपूर्ण संस्कृतियों के यात्रियों, जैसे यूनानियों, चीनियों और अरबों ने, कोई खास उल्लेखनीय आध्यात्मिक लक्षण देखे थे।' (इतिहास की पुनर्व्याख्या, पूर्वोक्त, पृ.97) ऐसे लक्षण पहली बार अंग्रेजों ने ही देखे। अध्यात्म की चिंता पुरोहित वर्गों को ज्यादा थी, जो धर्म-अर्थ-काम से तृप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति को सर्वोपरि समझता था, लेकिन अधिकांश जनसाधारण 'भौतिक उपलब्धि और सुखों को उचित महत्व' देते थे। (उपर्युक्त)

फिर भी, रूढिवादियों और कुछ क्रांतिकारियों के दिमाग में भारत की आध्यात्मिक छवि बसी हुई है। आध्यात्मिक भारत की सांस्कृतिक छवि का गहरा संबंध खेतिहर भारत की आर्थिक छवि से है। अंग्रेजों ने अपने 'इतिहास' लेखन और अपनी 'नयी' शिक्षा के माध्यम से यह बात विश्वास के रूप में जमा दी है कि भारत कृषि प्रधान देश था। उसकी उत्पादन-पद्धति 'एशियाई' थी, जिसका अर्थ है ग्राम समाजों का स्वायत्त जीवन बिताने वाला अपरिवर्तनीय ढांचा। यही सामाजिक अपरिवर्तनीयता विचार-क्षेत्र में सनातनवाद के रूप में व्यक्त होती है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि आधुनिक सभ्यता का प्रकाश लेकर अंग्रेज न आते तो भारत अपनी चिर-निद्रा में सोया रहता या फ्रांसीसी-पुर्तगाली लुटेरों का शिकार बना रहता।

जिन प्रगतिशील इतिहासकारों ने भारत की आध्यात्मिक छवि का खंडन किया है, उन्होंने कृषि प्रधान आर्थिक ढांचे पर ज्यादा संदेह नहीं किया है। जिन दार्शनिक विचारकों ने प्राचीन भारत में भौतिकवादी चिंतनधाराओं पर बल दिया है, उन्होंने भी इस यथार्थवाद के भौतिक आधार पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। रामविलासजी प्राचीन भारत के संदर्भ में भौतिकवाद की जगह यथार्थवाद पद का उपयोग करते हैं। सौभाग्य से इसमें उनका हिंदूवाद नहीं देखा जाता! यहां महत्व केवल शब्दों के हेर-फेर का नहीं है। भौतिकवाद एक विशेष दार्शनिक अर्थ में निश्चित हो चुकी अभिधा है। भाववाद के विपरीत उसका दृष्टिकोण आधुनिक संदर्भ लिए हुए हैं। प्राचीन समाजों में भाववाद के आविर्भाव से पहले, अर्थात् वर्गों के विभाजन के कारण दार्शनिक नजरिए में आने वाले अयथार्थवादी और परोक्ष-सत्तावादी रुझानों के उदय से पहले, यथार्थवादी चिंतनधाराओं का ही प्रमाण मिलता है।

वैदिक समाज मूलतः कृषि समाज है और वहां पशुचारण के अलावा शिल्प और कारीगरी के अनेक रूपों का विकास हो गया है ? किसानों के अलावा विभिन्न पेशों के श्रमिकों ने ऋग्वेद के अनेक मंत्र रचे हैं। भौतिक संपदा पर अधिकार कायम करने वाला अवकाशभोगी वर्ग अभी विकसित हो रहा है। इसी के साथ पुरोहित वर्ग का भी अभ्युदय हो रहा है। जैसे अवकाशभोगी वर्ग दूसरे के रचे भौतिक साधन हथियाता है, वैसे ही पुरोहित वर्ग दूसरे के रचे मंत्र गाता है। भौतिक और सांस्कृतिक स्तर पर एक वर्ग रचना करता है, दूसरा उस पर अधिकार करता है। यथार्थवाद रचना करने वाले वर्ग की चेतना है, भाववाद अधिकार करने वाले वर्ग का दर्शन। वैदिक कवियों ने श्रम के महत्व का प्रतिपादन करते हुए और पुरोहित वर्ग का उपहास करते हुए अनेक ऋचाएं लिखी हैं। यह भारत की प्राचीन संस्कृति का जनवादी स्वरूप है। यह संस्कृति एक विशेष सामाजिक संरचना में विकसित हुई है। उसमें मनुष्य के आर्थिक संबंध और उन संबंधों के प्रति भिन्न-भिन्न वर्गों के दृष्टिकोण प्रतिबिंबित होते हैं।

बौद्धधर्म का उदय विकसित सामंती समाज में हुआ। पुरोहितवाद के विरुद्ध जन असंतोष से बुद्ध की शिक्षाओं का संबंध यह प्रमाणित करता है। बौद्ध धर्म का विश्वव्यापी प्रसार व्यापारिक मार्गों से हुआ। उसके प्रसार का संबंध प्राचीन विश्व में भारत के अंतरराष्ट्रीय व्यापार से है। इतना विस्तृत व्यापार खेतिहर पैदावार का न होता होगा।

बिकाऊ माल के इस बड़े पैमाने के उत्पादन से कृषि समाज के ढांचे में कोई आधारभूत फर्क पड़ता था या नहीं ? बिक्कू माल के साथ कारीगर-व्यापारी संबंधों का विकास किस रूप में हुआ ? यह रूप दास-प्रथा का था या वर्ण-व्यवस्था का ? या उससे अलग पगार-प्रथा का ? रोमिला थापर ने वर्ण व्यवस्था और दास प्रथा को एक मानने का खंडन किया है यह सही है। जाति-प्रथा और पगार-प्रथा का क्या संबंध है ? दास-प्रथा की संस्कृति, वर्ण-व्यवस्था की संस्कृति और पगारजीवी स्वतंत्र श्रमिकों की संस्कृति में अंतर है या नहीं ?

विश्व-बाजार में भारत के श्रमजीवियों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के साथ-साथ यहां के सर्जकों-विचारकों द्वारा ज्ञान-विज्ञान-कला का अन्य संस्कृतियों पर प्रभाव पड़ा। एच.एस. मेन ने लिखा था कि भारत के बौद्ध लोग पत्थर की भवन-निर्माण-कला में अत्यंत कुशल थे, उन्होंने शिलाएं काटकर विहार और मठ बनाए थे, 'असंभव नहीं कि यूरोप के गिरिजाघरों की मीनारें बौद्ध स्तूपों से ही विकसित हुई हों।' (उद्धृत : गांधी, अंबेडकर, लोहिया, पूर्वोक्त, पृ.68) इस संभावना को कोरी कल्पना नहीं कहा जा सकता क्योंकि बौद्ध धर्म का अंतरराष्ट्रीय प्रसार ईसाइयत के जन्म से कई शताब्दी पहले हो चुका था, ईसाइयत का प्रसार काफी बल प्रयोग करते हुए अपने जन्म के पांच सौ साल बाद हुआ था। उसके गिरिजाघर उसी के बाद बने। बौद्ध संरचनाएं उससे पहले अपना उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थीं।

बौद्ध धर्म की महत्ता सभी स्वीकार करते हैं पर यह दावा कोई नहीं करता कि उसका उदय विदेशी आक्रमण के कारण हुआ। बौद्ध धर्म वैदिक परंपराओं का विरोधी है और यदि वैदिक सभ्यता आक्रमणकारी आर्यों की थी तो बौद्ध चिंतन को उस सभ्यता के विरुद्ध 'भारतीय' प्रतिक्रिया मानना चाहिए। सौभाग्य से बौद्ध धर्म पर नस्ल सिद्धांत लागू नहीं किया है। बौद्ध धर्म भारत में उत्पन्न हुआ और व्यापार के साथ उसका बाहर प्रसार हुआ। प्राचीनकाल से भारत का विश्व के अन्य भागों के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध था। इस व्यापार से भारत की समृद्धि जुड़ी हुई थी। इस समृद्धि से आकर्षित होकर अनेक जातियां भारत आती थीं। वे हमलावर रूप में भी आती थीं। छठवीं और पांचवीं सदी ईसा पूर्व में आने वाली जातियां ऐसी ही थीं। यह भी अन्य रूप में संपर्क का उदहारण है।

आक्रमण सिद्धांत के अनुसार नतीजा यह निकलेगा कि 'जड़' भारतवासी कहीं आते-जाते नहीं थे, बाहर के आक्रमणकारी ही आते थे। वे संपदा से आकृष्ट होकर आते थे और कुछ तो लूटपाट कर चले जाते थे, कुछ यहीं रह जाते थे या अपने वंशजों को छोड़ जाते थे। यह संपदा खेतिहर उत्पादन से उत्पन्न होती थी या व्यापारिक गतिविधियों से नगर केंद्रों में ? बौद्ध धर्म व्यापारिक मार्गों से फैला—अर्थात भारतवासी व्यापार के लिए बाहर भी जाते थे, वे उतने आत्मतुष्ट न थे, उनके साथ उनका सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रभाव भी जाता था, यह समाज उतना जड़ नहीं था। सौभाग्य से यह कहने का प्रयास अब तक नहीं हुआ कि गिरमिटियों की तरह इन व्यापारियों और बौद्धों को भी 'बाहरी' आक्रमणकारी

दुनिया भर में ले जाते थे। इसी के साथ, यह भी सोचना जरूरी है कि जो बौद्ध धर्म 'आक्रांता' आर्यों के विरुद्ध 'भारतीय' प्रतिक्रिया सिद्ध होता है, उसका भारतभूमि से उन्मूलन क्यों हुआ ?

प्राचीनकाल में बौद्ध धर्म के प्रसार से लेकर दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह के आरंभ तक भारत की सांस्कृतिक परंपरा और विकास को विश्व संदर्भ में देखने की आवश्यकता और संभावना है। रामविलासजी ने यह कार्य व्यवस्थित रूप में किया है। जितना ही भारतीय समाज और संस्कृति का अध्ययन विश्व संदर्भ में किया जाएगा, उतना ही भारत की परंपरा का और रामविलासजी के चिंतन का महत्व उजागर होगा। स्वभावतः रामविलासजी के विवेचन में संस्कृति एक व्यापक अवाधारणा के रूप में मौजूद है। सांस्कृतिक विकास को उत्पादन की उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों से जोड़कर देखा गया है। जहां इस संबंध की व्याख्या में बाधा आती है, वहां नए प्रश्नों और तथ्यों के साथ सामाजिक इतिहास पर भी पुनर्विचार किया गया है। स्वभावतः बहुत से रूढ़िबद्ध ढांचे टूटे हैं और इतिहास विवेचन की नयी रूपरेखा उभरी है। इस बात का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि परंपरा का अध्ययन करते हुए रूढ़िवादी (और साम्राज्यवादी) विचारक भौतिक जीवन और सांस्कृतिक मूल्यों का आपसी संबंध मिटा देते हैं, अनेक भौतिकवादी (और मार्क्सवादी) चिंतक भी इन संबंधों को भूलकर संस्कृति की व्याख्या करते हैं। रामविलासजी ने यह अत्यंत कठिन, परिश्रमसाध्य और मौलिक कार्य किया है, इसलिए उन्होंने नयी राहें भी खोली हैं और विवादास्पद भी बने हैं।

सबसे बड़ी बात यह कि सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रवादी रुख नहीं अपनाया उनके समूचे लेखन पर ध्यान दिए बिना हम न इस इतिहास को समझ सकते हैं, न रामविलासजी के दृष्टिकोण को। भारतीय वेदांत का प्रभाव अगर सूफियों और यूरोपीय रोमांटिक साहित्यकारों पर पड़ता है तो फ्रांसीसी क्रांति और रूसी क्रांति का प्रभाव भारत के स्वाधीनता आंदोलन और सांस्कृतिक विकास पर पड़ता है। ('फ्रांसीसी राज्यक्रांति और मानवजाति के सांस्कृतिक विकास की समस्या', आस्था और सौंदर्य, 1961, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा परिवर्धित संस्करण 1990. पृ. 196-257)। रामविलासजी के लिए भारतीय-अभारतीय का प्रश्न नहीं है। मार्क्सवाद ने उन्हें श्रम की संस्कृति और अंतरराष्ट्रीय परंपरा के महत्व का विवेक प्रदान किया है। यह सही है कि भारतीय संस्कृति के प्रति जितना ही अंधरराष्ट्रवादी उन्माद और 'क्रांतिकारी' अस्वीकार बढ़ता गया है, रामविलासजी के लेखन में उसका प्रगतिशील और यथार्थवादी स्वरूप उतना ही स्थापित किया गया है। विवादात्मक लेखन का यह अत्यंत रचनात्मक पहलू है। उनकी विवादात्मक शैली का स्रोत है प्रतिरोध की चेतना और यह चेतना उनके लेखन में एक जुझारू तेवर पैदा करती है, इसीलिए उनका दर्शन और इतिहास संबंधी विवेचन भी निर्जीव नहीं होता, बल्कि अत्यंत सीधी-सरल भाषा में भी ऊर्जा और तर्कशीलता मौजूद रहती है।

परंपरा के मूल्यांकन में रामविलासजी की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण हर प्रकार की यांत्रिकता से दूर रहता है। वे जितने सुनियोजित ढंग से काम

करते हैं, वह किसी प्रकार की यांत्रिकता से संभव नहीं है। 1977 में 'हिंदी जाति के सांस्कृतिक विकास की रूपरेखा' लिखते हुए उन्होंने भारत की यथार्थवादी और जनवादी राष्ट्रीयता का जो खाका पेश किया था, (परंपरा का मूल्यांकन, पूर्वोक्त. पृ. 16-29) वह अत्यंत भरे-पूरे रूप में 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (1999, दो खंड, किताबघर, नई दिल्ली) में विकसित होकर आया है। लेकिन इस कार्ययोजना का दूसरा पक्ष विषयवस्तु के प्रति दृष्टिकोण है।

बिंब-प्रतिबिंब के सिद्धांत पर चलते हुए यांत्रिक भौतिकवाद यह मानता है कि एक जैसी भौतिक परिस्थितियों में एक जैसी संस्कृति का जन्म होगा और समाज का भौतिक ढांचा बदलते ही सांस्कृतिक प्रतिबिंब भी लुप्त हो जाएगा। रामविलासजी ने द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से इस समस्या पर विचार किया। अमरीका ने एटम बम बनाया, रूस ने भी बनाया, पर शेक्सपियर के नाटकों जैसी चीज का उत्पादन दोबारा इंग्लैंड में भी नहीं हुआ। (परंपरा का मूल्यांकन, पूर्वोक्त, पृ.12) भौतिक और सांस्कृतिक उत्पादन में यह अंतर है। वस्तुगत तथ्य यहां स्वयं तर्क बन गए हैं इसलिए अकाट्य हैं।

सांस्कृतिक उत्पादन भौतिक परिस्थितियों के साथ ही जातीय परंपरा, जनसमुदाय की विशेष भूमिका असाधारण प्रतिभाशाली मनुष्यों के कार्यकलाप से संबंधित है। मनुष्य की सचेतन इच्छाशक्ति और उसकी इच्छातीत परिस्थिति में द्वंद्वात्मक संबंध होता है, एक पर दूसरे का पूर्ण और निरपेक्ष नियंत्रण नहीं होता। इन जटिलताओं को समझे बिना हम यह नहीं देख सकते कि एक जैसी परिस्थितियां होने पर भी कला का समान विकास क्यों नहीं होता। प्राचीन एथेंस में दासप्रथा थी और आधुनिक अमरीका में भी दासप्रथा थी, लेकिन महान संस्कृति की रचना एथेंस में हुई, मध्यकाल में सामंतवाद पूरी दुनिया में था, लेकिन श्रेष्ठ कला का निर्माण भारत और ईरान में हुआ, आधुनिक संसार में पूंजीवादी व्यवस्था यूरोप भर में थी, लेकिन रैफेल, माइकेल एंजेलो, लिओनार्दो द विंची इटली में ही हुए।

अभ्युदयशील वर्गों की संस्कृति पूरे समाज के हित प्रतिबिंबित करती हैं इसलिए जिन परिस्थितियों में वह जन्म लेती है उनके मिट जाने पर भी उसका मूल्य बना रहता है। यही नहीं, पुराने समाज में वर्गों की रूपरेखा और उनका टकराव निखरे हुए रूप में नहीं रहते इसलिए प्राचीन संस्कृति को सदा वर्ग संघर्ष के आधार पर नहीं परखा जा सकता। वर्गों का उदय हो जाने पर भी मनुष्य की प्राकृतिक परिस्थितियां एक जैसी होती हैं, आर्थिक संबंधों के अलावा प्राणीरूप में जीवन का सामान्य धरातल भी होता है। यह समानता साहित्य में प्रतिफलित होती है और संस्कृति में बहुत से समान तत्वों का अस्तित्व मिलता है।

संस्कृति केवल विचारों की अभिव्यक्ति नहीं है, उसमें इंद्रियबोध, भाव और आंतरिक प्रेरणाएं भी व्यक्त होती हैं। विचारधारा यदि भौतिक परिस्थितियों से सीधे प्रभावित होती है तो सौंदर्यबोध उस प्रभाव के परे व्यापक आधार प्रस्तुत करता है। मनुष्य को सिर्फ सामाजिक सत्ता के रूप में देखना यांत्रिक नजरिया है, उसे जैविक और सामाजिक सत्ता का

योग मानकर देखना द्वंद्वात्मक नजरिया है। रामविलासजी ने संस्कृति की स्थितिबद्धता और अतिक्रमणशीलता का द्वंद्वात्मक विवेचन करते हुए श्रमिक संस्कृति के निर्माण का विवेकसंगत आधार प्रस्तुत किया।

भवभूति और शेक्सपियर भिन्न-भिन्न देश और काल के नाटककार थे, परंतु दोनों के नाटकों में विभाजित नायकों की पीड़ा का चित्रण है। करुणा और त्रासदी का संयोग समान परिस्थितियों के कारण हुआ है। शेक्सपियर ने भवभूति को नहीं पढ़ा था। लेकिन आज हम इन दोनों के वैशिष्ट्य और समानता को पहचान कर अपने सांस्कृतिक विकास में सहायता ले सकते हैं। इस प्रकार की तुलना करके सांस्कृतिक जीवन की विशेषता और समानता के बारे में इतने महत्वपूर्ण निष्कर्ष उनके कितने विरोधियों ने दिए हैं ? रामविलासजी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि साहित्य और इतिहास के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन के बारे में इतने बड़े निष्कर्ष प्रतिपादित करते हुए भी वे अपनी भाषा और भंगिमा में अत्यंत सहज बने रहते हैं।

रामविलासजी श्रमजीवियों के लिए जिस संस्कृति का निर्माण करते हैं, वह एक ओर शोषण की व्यवस्था का अंत करने वाली है, दूसरी ओर पूरी मानव सभ्यता की उपलब्धियों को आत्मसात करने वाली है। 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' (1986, राजकमल, नई दिल्ली) में रामविलासजी ने दिखाया था कि वैज्ञानिक भौतिकवाद के विकास में 'पिछड़े' हुए समाजों की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा का बहुत अधिक महत्व है। खुद मार्क्स साहित्य और दर्शन के साथ गहराई से जुड़े थे। प्राचीन यूनानी नाटककार-कवि ईस्खिलुस, पुनर्जागरणकालीन नाटककार-कवि शेक्सपियर और आधुनिक जर्मन नाटककार गेटे मार्क्स के अत्यंत प्रिय थे। दर्शन परंपरा में प्राचीन यूनान के एपीकुरुस, पुनर्जागरण काल और 18वीं शताब्दी के प्रबोधन काल की नवचेतना तथा 19वीं सदी के जर्मन दार्शनिक हेगेल, सभी से मार्क्स ने प्रभाव ग्रहण किया।

खुद रामविलासजी में संसार के श्रेष्ठ साहित्य और दर्शन की भव्य परंपराएं समाहित होकर उत्कर्ष पर पहुंची हैं। विश्व के क्रांतिकारी इतिहास में जो कार्य मार्क्स-एंगेल्स ने किया है, भारत की समाजवादी संस्कृति की आधारशिला बनाने में वही कार्य रामविलासजी ने किया है। उन्होंने ज्ञान और संवेदना के विश्वकोष से तत्व लेकर अपनी जातीय भूमि पर नए भारत की श्रमशील संस्कृति का आधार निर्मित किया है। इस आधार पर संस्कृति के प्रासाद निर्मित करने का काम श्रमिक वर्ग और इतिहास को करना है। इसी की प्रतीक्षा रामविलासजी की चिंताओं को हमारे सपनों से जोड़ती है।

मूल्यवादी आलोचना के प्रधान नायक रामविलास शर्मा

कृष्णदत्त पालीवाल

मूल्यवादी-मार्क्सवादी आलोचक के रूप में डॉ. रामविलास शर्मा पिछले छह दशकों की हिंदी आलोचना का सबसे बड़ा नाम है। उनके जन्मशताब्दी वर्ष पर साहित्यकारों की उपेक्षा भरी चुप्पी हृदय में पीड़ा पैदा करने वाली है। कल तक, जो प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी उनकी महिमा गाते थे- उनके आतंक से अभिभूत थे- आज वे ही उनकी आलोचना-दृष्टि की जड़ों में मट्ठा डालते हुए उन्हें भारत व्याकुल संप्रदायवादी हिंदू मानसिकता का आलोचक सिद्ध कर रहे हैं। प्रश्न उठ रहे हैं ऐसा क्यों?

साहित्य के समर्पित अध्येता डॉ. रामविलास शर्मा ने भाषा एवं साहित्य को नयी प्रगतिशील दृष्टि के नए प्रतिमान दिए हैं। उन्हें कवियों में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, आलोचकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कथाकारों में प्रेमचंद अतिशय प्रिय रहे हैं। निस्संदेह यह तीनों महान चिंतक उनके आलोचनात्मक प्रतिमानों के आधार रहे हैं। बड़ी बात यह है कि वे मार्क्सवाद के कोरे सैद्धांतिक रूप का ही प्रतिपादन नहीं करते, बल्कि वे मार्क्सवादी प्रतिमानों की मूल्य दृष्टि से संपूर्ण साहित्य पर नए कोणों से नया पाठ प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं अलग-अलग अपनी आलोचना-कृतियों के माध्यम से आधुनिक साहित्य का लगभग पूरा इतिहास ही लिख देते हैं। भारतीय साहित्य तथा नवजागरण पर उनके विचार क्रांतिकारी हैं। हिंदी जाति की उनकी अवधारणा एकदम अपूर्व है। वाल्मीकि-व्यास, भवभूति, कालिदास, शेक्सपियर, प्रेमचंद, निराला, रामचंद्र शुक्ल एवं तुलसीदास पर उनका विश्लेषण विवेचन एवं मूल्यांकन चकित करने वाला है। समस्त भारतीय साहित्य के साथ वे विश्व के साहित्य से निकट संपर्क स्थापित रख सके। उनका दृढ़ विश्वास रहा है कि

'जो लोग साहित्य में युग-परिवर्तन करना चाहते हैं, जो लकीर के फकीर नहीं हैं, जो रूढियां तोड़कर क्रांतिकारी साहित्य रचना चाहते हैं, उनके लिए साहित्य की परंपरा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है। (परंपरा का मूल्यांकन) आगे यह कहना भी वे नहीं भूलते हैं कि जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है।

हिंदी के मार्क्सवादियों पर परंपरा और संस्कृति की उपेक्षा का आरोप लगता रहा है। इस उपेक्षा के विचार को दूर करने का अरमान लेकर उन्होंने माना है कि इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है। वैसे भी प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धांतों का संकलन नहीं है, वह साहित्य की परंपरा का मूर्त ज्ञान है और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परंपरा। साहित्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन से संबंधित है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत सी आदिम भावनाएं प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं है कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इंद्रिय-बोध, उसकी भावनाएं, उसकी आंतरिक प्रेरणाएं भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का यह पक्ष अपेक्षाकृत स्थायी होता है। जो साहित्य दूसरे देशों के साहित्य की नकल करके लिखा जाता है उसमें साहित्य की परम्पराएं विकृत रूप में सामने आती हैं और सांस्कृतिक असमर्थता का संकेत देती हैं। ध्यान रखना होगा कि भौतिकवाद दो तरह का है एक यांत्रिक भौतिकवाद, दूसरा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद। यांत्रिक भौतिकवाद की विशेषता यह है कि वह चेतना को आर्थिक संबंधों का प्रतिबिंब मात्र मानता है। प्रतिबिंब यांत्रिक होता ही है। जब चेतना प्रतिबिंब है, तब संस्कृति भी प्रतिबिंब है, साहित्य भी प्रतिबिंब है। इस स्थिति में पुराना आर्थिक ढांचा बदलने पर संस्कृति का ताना-बाना पूरी तरह बदल जाता है। भौतिकवाद का अर्थ मानववाद नहीं है। मनुष्य और परिस्थितियों में द्वंद्वात्मक संबंध है। यही कारण है कि साहित्य सापेक्ष रूप में स्वाधीन होता है। पूंजीवादी विकास यूरोप के तमाम देशों में हुआ पर रैफेल, लियोनार्दो दा विंची और माइकेल एंजेलो इटली की देन हैं। कला चिंतन का विकास विशेष परिस्थितियों में होता है, जिसमें असाधारण प्रतिभाशाली मनुष्यों की अद्वितीय भूमिका होती है फिर साहित्य के मूल्य राजनीतिक मूल्यों की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं। विशेष बात यह भी है कि साहित्य के विकास में प्रतिभाशाली मनुष्यों की तरह जनसमुदायों और जातियों की विशेष भूमिका होती है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में हिंदू-मुसलमानों ने इस देश की एकात्मकता स्वीकार की और अंग्रेजी उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का विरोध किया। बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से भारत का मुकाबला कोई देश नहीं कर सकता। यूरोप कभी एक राष्ट्र नहीं रहा इसलिए भारतीय संस्कृति के संदर्भ में यूरोपियन संस्कृति की बात करना ही बेतुकी है। भारत में राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। वह हमारे इतिहास और संस्कृति की

देन है। 'इस देश की संस्कृति के निर्माण में देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को निकाल दें तो भारतीय साहित्य की आंतरिक एकता टूट जाएगी। किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना इस देश के लिए है।' डॉ. रामविलास शर्मा जीवन भर यह कहते रहे कि भारत की राष्ट्रीय क्षमता का विकास समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है। क्या करें सोवियत संघ के टूटते ही आज यह विश्वास खंडित हो गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा लगभग सात दशकों तक साहित्य समीक्षा में सक्रिय रहे। सन् 1934 से 2000 तक उनकी सौ से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन इस अवधि में हुआ और हर बार परती जमीन तोड़ी। मार्क्स और लेनिन से लेकर ऋग्वेद से लेकर तमाम भारतीय साहित्य तक। जाति की अवधारणा के रूप को प्रस्तुत करते हुए 'जाति का साहित्य' लिखा। तत्पश्चात् 'भाषा और समाज' 1961, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' 1977, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' 1986, 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' 1982, 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' 1992, 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो खंड 1999) आदि पुस्तकें। उन्होंने अनेक तर्कों से यह सिद्ध किया कि भारत में अंग्रेजों की भूमिका विध्वंसकारी और विघटनकारी रही है। प्रथम बार उन्होंने भाषा, साहित्य एवं सामाजिक विकास को साहित्य के विकास से जोड़ने का प्रयत्न किया। उनका एक लंबा लेख पार्टी के प्रमुख पत्र कम्युनिस्ट में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने 'हिंदुस्तानी जाति' पर विचार प्रस्तुत किया। आज यही लेख 'राष्ट्रभाषा की समस्या' शीर्षक से 'भारत की भाषा समस्या' पुस्तक में संकलित है। उन्होंने जनपदों के आधार पर जाति के विभाजन को दुर्भाग्यपूर्ण कदम बताया और हिंदी -उर्दू की एकता पर बल दिया। उसी समय हर बोली के लिए अलग जनतंत्र बनाने की बात उठी तो कहा- 'प्रश्न यह है कि अवधी, ब्रज भाषा, बुंदेलखंडी आदि बोलियां हैं या भाषाएं ? उनके बोलने वाले हिंदुस्तानी जाति के अंतर्गत हैं या भिन्न-भिन्न स्वतंत्र जातियों के रूप में होंगे ? ऐसी मांग कर रहे थे राहुल सांकृत्यायन जबकि रामविलास शर्मा इस मांग को 'प्रतिगामी' कह रहे थे- क्योंकि यह मांग केवल सामंती हितों के समर्थन में है। उन्होंने एक नए तर्क से हिंदी जाति को हिंदू राष्ट्र से दूर रखा। बांग्ला बोलने वालों की एक बांग्ला जाति है तो हिंदी बोलने वालों की एक जाति क्यों नहीं हो सकती ? हिंदी भाषी जाति एक है, जिसे फिरंगी शासकों ने तोड़ने की चाल चली- 'अंग्रेजों ने 1857 से सबक लेकर हमारे इलाके को सबसे ज्यादा टुकड़ों में बांटा है। सदियों से साथ रहने वाले आगरा और दिल्ली भी अलग हो गए।' भाषा, क्षेत्र, धर्म, संप्रदाय, जातिवाद, भारत की राजनीति में अलगाववाद के प्रमुख बीज-बिंदु रहे। इन बीज बिंदुओं का अलगाववादी तत्वों ने दुरुपयोग किया। अलगाववादी देशी-विदेशी शक्तियों ने यहां की जातियों के स्वाभाविक विकास में अनेक बाधाएं पैदा की हैं। साम्राज्यवादियों के इस चक्रव्यूह को अकेले रामविलास शर्मा ने तोड़ने

का प्रयत्न किया। इसलिए यह प्रयत्न कि पूरे विश्व में हिंदी जाति सबसे बड़ी जाति है। हिंदी जाति की आंतरिक एकता को हर कीमत देकर बनाए रखना हिंदू-मुसलमान दोनों का दायित्व है।

दुर्भाग्यपूर्ण था वह दिन जब साम्राज्यवादियों ने धर्म को आधार बताकर जाति को तोड़ने की राजनीति चलाई। गिलक्राइस्ट ने धर्म के आधार पर भाषा को विभाजित किया। पीड़ा भरे हृदय से उन्होंने 'भाषा और समाज' पुस्तक में लिखा- 'जो एक सांस्कृतिक भेदभाव की बात थी- उसे गिलक्राइस्ट ने बढ़ा-चढ़ाकर धार्मिक भेदभाव की बात बना दिया। अवध, ब्रज, बुंदेलखंड, भोजपुरी जनपदों आदि के गांवों में हिंदू और मुसलमान कहां अपनी-अपनी भाषाएं बोलते हैं? धर्म के आधार पर उनमें कहीं भी अलगाव नहीं है। इस बात को उन्होंने बिल्कुल भुला दिया।' इस तरह रामविलास शर्मा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद विरोधी धाकड़ किस्म के आलोचक हैं। उनके चिंतन में एकता पर जोर है- वहीं आलोचक रामचंद्र शुक्ल का 'विरोधों-विरोधियों में सामंजस्य' स्थापित करने वाला सिद्धांत मान्य है। साम्राज्यवाद चाहे भाषाई साम्राज्यवाद हो या अमरीकी साम्राज्यवाद- वह मनुष्य की स्वाधीनता पर प्रहार है। जीवन भर वे सामंतवाद-पूंजीवाद-अधिनायकवाद, फासिस्टवाद, व्यक्तिवाद, साम्राज्यवाद के विरोध में डटे रहे। एक ढंग से वे स्वतंत्रता आंदोलन के विचार नायक थे- देशभक्त कर्मठ चिंतक नायक। चंद्रशेखर आजाद और मास्टर रुद्रनारायण से उन्होंने बहुत कुछ सीखा था। चार-पांच अंग्रेजी पुस्तकों को छोड़कर उनका समस्त लेखन हिंदी में है। हिंदी साहित्य में कभी उन्होंने समझौते की राजनीति को प्रश्रय नहीं दिया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने इतिहास दृष्टि का निर्माण इतिहास विवेचन से जोड़कर विकसित किया है। यह इतिहास दृष्टि साम्राज्यवाद विरोध, अमेरिकी पूंजीवाद विरोध तथा सामंतवाद विरोध तीनों के एक ऐतिहासिक नैरंतर्य और जन साधारण के जागरण से जोड़कर देखी गयी है। लोकभाषा में सृजन कर्म को वे जाति के गठन से जोड़कर उसे 'सामंत विरोधी जागरण' मानते हैं। प्लासी के युद्ध 1757 तथा 1857 की लड़ाई को वे 'जनजागरण' का दूसरा दौर कहते हैं। वे इस लड़ाई को 'साम्राज्यवाद- विरोधी जागरण' की बड़ी शुरुआत मानते हैं। 1857 की क्रांति को उन्होंने भारतेंदु युग की स्वाधीन राष्ट्रीय चेतना का विस्फोट माना है। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (1982 दो खंड) तथा 'मार्क्स और पिछड़े समाज' (1986) इन कृतियों में अंग्रेजी राज की नाशकारी भूमिका का विवेचन किया है। एडम स्मिथ तथा एडमंड बर्क की पुस्तकों का हवाला देकर उन्होंने स्पष्ट किया कि अंग्रेजों ने अपने लूटतंत्र से भारत का विनाश किया। भारत के गांव अंग्रेजी शोषण से तबाह हो गए। अन्नदाता किसान दाने-दाने को मोहताज होकर या तो मजदूर बन गया या फिर भिखारी। भारतेंदु के 'अंधाधुंध मची चहुं देसा' के कथन में इसी सच की गहरी व्यंजना है। अंग्रेजों ने भारत की औद्योगिक व्यापारिक प्रगति रोककर भारत को कच्चा माल पैदा करने वाला खेतिहर देश बनाया। इतिहास और समकालीन परिदृश्य दोनों को जोड़कर देखने के लिए उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के माध्यम कार्यान्वयन

निदेशालय के लिए चार पुस्तकों का मनोयोगपूर्वक लेखन किया। इन पुस्तकों 'स्वाधीनता संग्राम और बदलते परिप्रेक्ष्य' (1992), 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992), 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' (1994), तथा 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' (1994)। हिंदी जाति की अवधारणा को साम्राज्यवाद विरोध से जोड़कर नए वैचारिक प्रतिमान प्रस्तुत किए। उन्होंने यह विचार बार-बार व्यक्त किया कि जाति व्यवस्था सामंती व्यवस्था की वह देन है, जो संप्रदायवाद को पालकर तगड़ा बनाती है। यह संप्रदायवाद एक व्यापक अर्थ में साम्राज्यवाद का पोषण करता है। प्राय: वे संप्रदायवाद-अलगाववाद को साम्राज्यवाद की शक्ति कहते रहे हैं। इस साम्राज्यवाद की चरम अवस्था है- पूंजीवाद। पूंजी की तीन अवस्थाएं- महाजनी, व्यापारी, औद्योगिक पर गहन विचार मंथन करने के बाद कहते हैं 1857 में महाजनी पूंजी नहीं थी। भारत को अंग्रेजों ने औद्योगिक पूंजीवाद से प्राप्त किया। यहां व्यापारिक पूंजीवाद ने जातिवाद को दृढ़ किया। तर्क देकर वे बारहवीं शताब्दी से हिंदी को जातीय भाषा मानते हैं और इसी समय से आधुनिक काल का आरंभ भी। उनकी इस तरह की स्थापनाएं हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए एक नई दृष्टि देती है।

दरअसल, रामविलास शर्मा ने मानव समाज के गठन को भाषा संस्कृति साहित्य से जोड़कर 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' (1986) जैसी पुस्तक लिखी। यहां कहा है कि 'किसी भी भाषा के इतिहास को लिखना हो, इस बात पर विचार करना आवश्यक होगा कि इस भाषा के व्यवहार करने वाले मानव समाज के गठन का रूप कौन सा है?` वे ऐतिहासिक सामाजिक कारकों का अनुसंधान 'भाषा और समाज' (1961) से लेकर 'संस्कृति और समाज' (1948) 'प्रगति और परंपरा' (1948) 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' (1954) जैसी पुस्तकों से निरंतर करते रहे। पूरे भारतीय साहित्य एवं संस्कृति पर व्यापक दृष्टि से 'प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (तीन खंड, 1979, 1980, 1983) के साथ 'भारतीय साहित्य की भूमिका' (1986) में लगातार विचार करते रहे। एक दिन उनके आलोचक के सामने ऐसा भी आया, जब उन्होंने 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो खंड- 1999) 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' (2006) 'संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्याएं' (2010) जैसी पुस्तकों में विस्तृत भारतीय परिप्रेक्ष्य में पाठकों के लिए एक नया भाष्यपरक बहुलार्थक पाठ (टेक्स्ट) प्रस्तुत किया। पूरे एशिया पर दृष्टि केंद्रित करते हुए 'मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज' (1986) तथा 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' (1994) पर गहन अनुसंधान कार्य किया। रामविलासजी को किशोरीदास वाजपेयी के 'हिंदी शब्दानुशासन से नए भाषा चिंतन के विचार सूत्र मिले जिसका विस्तार उन्होंने अपनी बहुत सी पुस्तकों में किया और यथास्थितिवादी ग्रियर्सनी पाठ का विरोध।'

डॉ.रामविलास शर्मा की एकदम मौलिक देन है, 'हिंदीं नवजागरण की अवधारणा' भारतेंदु हरिश्चंद्र के उदय के साथ हिंदी में नए युग का प्रवर्तन हुआ। इस नए युग को 'नवजागरण' नाम देने का पूरा श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को है। 'महावीर प्रसाद द्विवेदी

और हिंदी नवजागरण' (1977) शीर्षक पुस्तक द्वारा उन्होंने नवजागरण की संकल्पना को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया। यह सच है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से भारत में एक नया बौद्धिक प्रकाश फैला जिसके अग्रदूत थे- राजा राममोहन राय। इस प्रकाश की चेतना को यूरोप के 'रिनेसांस' की तरह 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' नाम दिया गया। प्रकाश चेतना का यह प्रवाह पूरे देश में फैला, किंतु इसकी चर्चा 'बंगाल नवजागरण' नाम से अधिक हुई। 1857 के प्रथम भारतीय मुक्ति संग्राम के बाद यह नवजागरण का प्रवाह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों तक पूरी ताकत से रहा। दुर्भाग्य यह भी रहा कि अंग्रेजी पढ़े लिखे बौद्धिक 'हिंदी नवजागरण' की चर्चा नहीं करते। यहां कहना होगा कि हिंदी जानने वाले आधुनिक बौद्धिक भी अपनी परंपरा-संस्कृति की समृद्ध विरासत से भली-भांति परिचित नहीं हैं। इस तथ्य पर कम ध्यान दिया गया कि अखिल भारतीय नवजागरण की बहुत सी विशेषताएं हिंदी नवजागरण ने आत्मसात की हैं। 1857 की क्रांति का प्रमुख केंद्र हिंदी प्रदेश ही था इसलिए हिंदी नवजागरण की प्रकृति पर प्रथम स्वाधीनता संग्राम की स्मृति की ध्वनियां मिलना स्वाभाविक ही है। हिंदी नवजागरण का बीज मंत्र भारतेंदु पढ़ते हैं और उस युग के सभी लेखक इस बीज मंत्र से प्रेरित प्रभावित होते हैं। सभी में 'भारतीय अस्मिता की पहचान' का भाव जाग उठता है। यह हिंदी नवजागरण मूलतः सांस्कृतिक नवजागरण था- इसमें प्राचीन सांस्कृतिक विरासत की रक्षा का प्रयत्न प्रमुख था। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी नवजागरण के तमाम पक्षों पर विचार किया और कहा 'समाज जब एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में पहुंचता है उस संक्रमण को हम नवजागरण की संज्ञा दे सकते हैं (भारतीय नवजागरण और यूरोप)।' उन्होंने भारत में चार नवजागरणों की चर्चा की- (1) ऋग्वेदकालीन नवजागरण (2) उपनिषद्कालीन नवजागरण (3) भक्ति आंदोलन तथा (4) उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण। इस नवजागरण के भाव को मथते हुए भक्तिकाल के नवजागरण को 'लोकजागरण' की संज्ञा दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आधुनिक नवजागरण के चार चरण माने हैं - (1) सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम, (2) भारतेंदु युग, (3) द्विवेदी युग तथा (4) छायावाद युग। इस युग में निराला, प्रेमचंद, प्रसाद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विशेष प्रभाव रहा। आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रखर बौद्धिकता से हिंदी आलोचना का पूरा रीतिवादी पाठ ही बदल दिया। पहली बार हिंदी को नया समीक्षाशास्त्र नसीब हुआ। डॉ.रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' (1955) पुस्तक में इसी सच को रेखांकित किया, साथ ही छायावाद-विरोधी आलोचकों के तर्कों को ध्वस्त किया। 'निराला की साहित्य साधना' डॉ.रामविलास शर्मा की साधना भी है। तीन खंडों की यह कृति अपूर्व है। उसके बाद 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1944) की क्रांतिकारी चेतना का प्रकाश है। उन्होंने माना है कि हिंदी नवजागरण की सबसे बड़ी विशेषता सामंतवाद-साम्राज्यवाद विरोधी चेतना है। दुर्भाग्यवश इधर हिंदी के कुछ प्रतिबद्ध आलोचक आज रामविलासी नवजागरण की अवधारणा का विरोध कर रहे हैं। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह नवजागरण की इस पूरी अवधारणा से गौतम बुद्ध को बाहर पाकर

चकित हैं कि रामविलास शर्मा ने ऐसा क्यों किया कि बुद्ध के विवेकवाद को भूल गए। अद्भुत अनेकांतवाद। जिस एक से 'नवजागरण' अनेक हुआ है वह है ऋग्वेद। भारतीय नवजागरण का मूल स्रोत, चाहें तो मूलाधार भी कह लें। कहना न होगा कि नवजागरण की इस मूल परिकल्पना में एक प्रकार की बुनियादपरस्ती है, जिसका प्रचलित नाम 'फंडामेंटलिज्म' है। रामविलासजी की इस परिकल्पना के प्रेरणास्रोत हैं- स्वामी दयानंद सरस्वती (हिंदी का गद्य पर्व- 'इतिहास की शवसाधना' पृ. 198)। प्रो. नामवर सिंह को आश्चर्य है कि स्वामी दयानंद के देश प्रेम से रामविलासजी इतने अभिभूत कैसे हो गए ? वे 'स्वामी श्रद्धानंद के इस कथन को भूल गए कि स्वामी दयानंद ब्रिटिश सरकार के समर्थक थे' (आर्यसमाज एंड इट्स डिट्रैक्टर्स 1911 में प्रकाशित)।

यह बात भूलने के विरुद्ध है कि हिंदी आलोचना में डॉ.रामविलास शर्मा का प्रवेश निरालाजी पर लिखे गए ज्योतिप्रसाद निर्मल के लेख से हुआ। 23 जुलाई 'अभ्युदय' में निर्मलजी ने निराला पर तमाम प्रहार किए। रामविलास शर्मा ने उस लेख का प्रत्याख्यान करने के लिए 'निरालाजी की कविता' शीर्षक लेख लिखा। अपने विरोधी को रौंद-रौंद कर मारने में रामविलासजी शुरू से ही प्रवीण रहे। उन्होंने निराला काव्य के 'नवीन सौंदर्य बोध' को रीतिवादी सौंदर्यबोध से अलग पहचानने की सलाह दी। इस लेख के बाद वे कभी रुके न झुके। उनकी पहली पुस्तक 'प्रेमचंद' (1941) में आई। प्रेमचंद को लेकर लिखा- 'क्या राजनीति, क्या साहित्य में उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रांतिकारी था।' अत: प्रेमचंद की शरद बाबू से तुलना गलत है। शर्माजी का ध्यान प्रेमचंद के युग पर गया। प्रेमचंद ही क्यों निराला, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल सभी को युग संदर्भ में गूंथकर प्रस्तुत किया। कलावादी रीतिवादियों की उन्होंने अच्छी खासी खबर ली और अकेले दम पर हिंदी की प्रगतिशील परंपरा को विश्लेषण-विवेचन के नए पाठ के साथ आगे बढ़ाया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर चौतरफा आक्रमण से क्षुब्ध होकर उन्होंने 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, (1955) जैसी पुस्तक लिखी और कहा कि 'शुक्लजी ने न तो भारत के रूढिवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया।' छायावादी कविता पर प्रहार होते देखकर वे उसकी रक्षा में डट गए। प्रगतिवादी कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन और मुक्तिबोध पर लेख लिखे। इन लेखों को 'नई कविता और अस्तित्ववाद' (1978) पुस्तक में स्थान मिला, लेकिन हिंदी आलोचना में अज्ञेय का विरोध उन्होंने 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फोरम' जैसे लेखों से किया। दिलचस्प बात यह है कि अज्ञेय पर वे बिना प्रमाण के अनाप-सनाप आक्षेप लगाते रहे। आज अज्ञेय को लेकर रामविलास शर्मा द्वारा की गई आलोचना से सहमत हो पाना कठिन है जबकि अज्ञेय ने 'तारसप्तक' (1943) में बड़े सम्मान से रामविलास शर्मा को स्थान दिया। आगे रामविलास शर्मा के

'रूपतरंग' (1956) तथा 'सदियों के सोये जाग उठे' जैसे काव्य संग्रह 'चार दिन' (1936), 'महाराजा कठपुतली सिंह' उपन्यास 'पाप के पुजारी' (1994) जैसा नाट्क छपा लेकिन सृजन क्षेत्र में नाम नहीं कमा सके। 'भक्ति और वेदांत' (1933), 'कर्मयोग' (1936), 'राजयोग' (1936) जैसे विवेकानंद के लेखों का अनुवाद, मार्क्स के ग्रंथ का 'पूंजी' नाम से अनुवाद किया (दूसरे खंड का)। समय के साथ बढ़ते हुए 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी' का इतिहास (1944) माओत्से तुंग ग्रंथावली के प्रथम भाग का (1957) तथा प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पामदत्त की पुस्तक 'इंडिया टुडे' का 'आज का भारत' शीर्षक से (1977) में अनुवाद किया। 'मित्र संवाद (1992) रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के पत्रों का विशिष्ट संग्रह है। 'तीन महारथियों के पत्र' (1994), 'कवियों के पत्र' (2000) और अमृतलाल नागर के पत्र 'पत्र पुष्पं तथास्तु' नाम से पाठकों के सामने आए हैं। 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया' पुस्तक नई राजनीतिक जागृति का दस्तावेज है। इधर तीन खंडों में प्रकाशित उनकी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' उनकी मानसिक बनावट को ठीक से समझने के लिए आवश्यक कला कृति है। सोवियत संघ के विघटन के बाद वे निराश नहीं हुए। उन्होंने 'आज की दुनिया और लेनिन' में साम्राज्यवाद की पोल खोलने के लिए तेरह लेखों का संकलन तैयार किया और समालोचक पत्रिका जिसके वे संपादक थे उसके 24 अंकों को चार खंडों में प्रकाशित किया और तमाम साक्षात्कारों में अमेरिकावाद की कठोर आलोचना करते रहे। वे मानते रहे कि भूमंडलीकरण, विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष के जरिए तीसरे देशों को पुन: गुलाम बनाने की सोची-समझी साजिश है। सच्चे अर्थों में वे सत्ताधारियों के 'हिडेन एजेंडे' को खोलकर जनता को सावधान करने वाले महान आलोचक थे। जीवन के अंतिम दौर में वे हिंदी मिथक पुरुष बन गए थे और हिंदी तथा साहित्य के प्रधान नायक। 'परंपरा का मूल्यांकन' तथा 'आस्था और सौंदर्य' जैसी उनकी पुस्तकें आलोचना परंपरा का गौरव कही जा सकती हैं। उनके पाठकों ने उन्हें 'मार्क्सवादी ऋषि' कहा और मुक्तिबोध ने जिसे 'सभ्यता समीक्षा' कहा है उसके पर्याय अकेले रामविलास शर्मा ही रहे हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने शुक्लोत्तर आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विरोध करने की बजाय शुक्लजी के विचारों का पुनर्भाष्य करते हुए पुनर्नवा रूप प्रस्तुत किया। छायावाद के कुछ आलोचक तो शुक्लजी के विरोध में डटे हुए ही थे- प्रगतिवादी आलोचक भी उन्हें 'ब्राह्मणवादी', 'वर्णवादी', 'निर्गुट विरोधी', 'एकांगी समाजशास्त्री' कहकर 'प्रतिक्रियावादी' सिद्ध कर रहे थे। इस प्रकार हिंदी आलोचना में आचार्य शुक्ल का विरोध अपनी प्रगतिशीलता को सामने लाने के लिए एक फैशन बन गया। ऐसे विरोधी वातावरण में डॉ. रामविलास शर्मा ने छाती तानकर कहा- 'हिंदी साहित्य में शुक्लजी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचंद या कवि निराला का' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना भूमिका)। शुक्लोत्तर आलोचना में आचार्य शुक्ल विरोध की जो आंधी उठी थी उसने डॉ.शर्मा को धूमाकुलित नहीं किया। संत साहित्य, रीतिकाल का दरबारी साहित्य तथा छायावाद को लेकर, जो आचार्य शुक्ल को लेकर चक-चक शुरू हुई थी उसके मूल में

'ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण' था। ध्यान देने की बात है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने 'संत साहित्य में योगियों की भूमिका' शीर्षक के अंतर्गत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तमाम भूलों-विसंगतियों, वैचारिक विभ्रमों की विस्तृत समीक्षा के साथ हिंदी भाषा जनता के नवजागरण को महत्व दिया। डॉ. नगेंद्र के मत की बखिया उधेड़ते हुए 'दरबारी साहित्य' के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के विचारों की पुन: प्रतिष्ठा की। ऐसे ही आचार्य शुक्ल के छायावादी विवेचन में कहा- डॉ. शर्मा ने कि शुक्लजी ने छायावाद की नयी काव्य संवेदना शिल्प-दृष्टि का विरोध नहीं किया, केवल अगोचर, अरूप, अमूर्त पक्ष का विरोध किया है। आचार्य शुक्ल ने कहीं भी छायावाद की स्वाभाविक रहस्य भावना का विरोध नहीं किया। यदि आचार्य स्वच्छंदता के पथ के विरोधी होते तो रीतिमुक्त कविता में घनानंद तथा देशी स्वच्छंदतावाद को लेकर श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी पर मुग्ध न होते।

आज रामविलास शर्मा के जन्म शताब्दी वर्ष में यह सच दूध में मक्खन की तरह उभरकर सामने आ गया है कि उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विरासत को आगे बढ़ाते हुए हिंदी की जनवादी-लोकवादी परंपरा को नया रूप स्वरूप दिया है। डॉ. शर्मा ने 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की परंपरा' तथा 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण' जैसी प्रेरणा भरी आलोचना से एक नया मार्ग सुझाया कि अपनी परंपरा से जातीय स्मृति से जुड़ना आवश्यक है। छायावाद में आने पर डॉ.शर्मा ने निराला-लोक का विस्तृत भाष्य से साक्षात्कार कराने के साथ 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोजस्मृति' 'तुलसीदास' जैसी लंबी कविताओं की अद्भुत सर्जनात्मक आलोचना से पाठकों का साक्षात्कार कराया। 'निराला की साहित्य साधना' के तीनों खंड उनकी साहित्य साधना के चरम शिखर हैं।

आलोचना का प्रमुख दायित्व है कि वह बड़े रचनाकारों की नवीन व्याख्या या पुनर्भाष्य करे। यह दायित्व डॉ. शर्मा ने निराला प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, भारतेंदु, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, तुलसीदास आदि के भाष्य से पूरा किया है। एक तरह से निरंतर बिना थके हुए इस तपस्वी आलोचक ने, हिंदी आलोचना में वह काम किया, जिसके लिए आगे की पीढियां उनकी कृतज्ञ रहेंगी। विध्वंसात्मक विवाद शैली में लिखी उनकी आलोचनाएं हमारी स्मृति को धक्का देकर जगाती रहेंगी। इसके साथ ही हिंदी आलोचना की सहज भाषा के निर्माण के लिए भी उन्हें याद किया जाएगा। जटिल से जटिल विचार को बोलचाल के गद्य में सुलझाकर कहने की कला के तो वे सिद्ध साधक हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएं' शीर्षक लंबे लेख में बड़े कृतज्ञ भाव से लिखा है- 'अपने ढंग से, डॉ. रामविलास शर्मा चिढ़ते-खीझते, तड़पते-छटपटाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार अपनी सारी क्षमताओं और अपनी सारी सीमाओं और कमजोरियों के साथ इस ओर, इस क्षेत्र में काम करते रहे हैं।'

आलोचना में समाज दर्शन, साहित्य-दर्शन, सौंदर्य दर्शन तथा नई समीक्षा के प्रश्नों पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा सदैव याद किए जाएंगे। हिंदी के नामी गिरामी आलोचक भले ही 'इतिहास की शव साधना' लेख लिखकर

डॉ. शर्मा पहुंचे ऋग्वेद पर अपने अंतिम अरण्य में। प्रगति के पथ पर चलते-चलते।' कहते रहें, क्या फर्क पड़ता है ? एक समय ऐसा भी था, जब डॉ. रामविलास शर्मा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को पुनरुत्थानवादी घोषित करते रहे। 'लोक जागरण और हिंदी साहित्य' (1985) नामक पुस्तक की 'भूमिका' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चिंतन को हिंदू पुनरुत्थानवादी से गंभीर रूप में सबंद्ध सिद्ध माना है।

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पूरा पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड / मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में: लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गये पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक,अप्रकाशित, अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com, amitbishwas2004@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मो. नं. 09422386554

रामविलास शर्मा के अघोषित काव्य प्रतिमान

विजेंद्र

दरअसल 'मित्र संवाद' कवि केदारनाथ अग्रवाल तथा आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के बीच 1935 से 1991 तक हुए पत्राचार का संकलन है। यह परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद से 1992 में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका में डॉ. शर्मा ने बताया है कि इस संवाद का प्रारंभ 1935 से हुआ। 1942 तक अकेले डॉ.शर्मा ही बोलते रहे हैं। पर कुछ न कुछ केदार बाबू को ऐसा बताते रहे, जिससे उनकी कविता को बल मिले। उनका मानना है कि संवाद एक ही तरह के लोगों के बीच हो तो रुचिकर न होगा। यानी 'राग-विस्तार' के लिए 'वादी के संवादी स्वर' जरूरी है। डॉ. शर्मा केदार बाबू को, 'लिरिकल कवि' मानते हैं। यदि केदार बाबू तथा डॉ. शर्मा की साहित्यिक बनक का अध्ययन करना हो तो यह कृति एक क्लासिक है। मुक्तछंद केदार बाबू की 'जान है'। तुकांत में वह अपने काव्य की 'हत्या' देखते हैं। डॉ. शर्मा छंद पर जोर देते हैं। उन्होंने डॉ. शर्मा से कहा कि 'तुकांत' की उनकी सलाह 'पसंद तो है' 'ग्राह्य नहीं'। तुकांत को केदार बाबू 'दगाबाज' कहते हैं।

3 जनवरी 1936 के एक पत्र में रामविलास शर्मा केदार बाबू को सलाह देते हैं कि कवि 'दूसरों को भी जानने की चेष्टा करें।' खुद को जानकर दूसरे को जानना, फिर खुद को परखना। किसी भी कवि को इस परस्पर संवेदन-संज्ञान की द्वंद्वमय प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। यहां अन्य से अभिप्राय व्यक्ति से ही नहीं है बल्कि अपने परिवेश से भी है। डॉ. शर्मा मानते हैं कि कवि को अपनी भाषा सुधारने के लिए गद्य की पुस्तकें भी पढ़नी चाहिए। मैं यहां इतना जोड़ना चाहूंगा कि कवि को अपनी 'आत्ममुग्धता' तोड़ने के लिए वैचारिक गद्य द्वारा खुलकर संघर्ष भी करना जरूरी है। 1946 के आसपास डॉ. शर्मा केदार बाबू को सुझाते हैं कि वह 'चीजों को दोहरा रहे हैं' यानी 'निम्न मध्यवर्ग के प्रति

उनकी सहानुभूति विभिन्न प्रतीकों से प्रकट हो रही है लेकिन उस, अशरीरी सहानुभूति से वह आगे नहीं बढ़ रहे।' वह बताते हैं कि उनकी लोकधर्मी कविताएं 'चंद्रगहना', 'काटो-काटो करबी' आदि में यह 'सहानुभूति सशरीर' है। संकेत है कि कविता को अमूर्तन से बचाने की जरूरत है। वह मानते हैं कि 'ठोस अनुभव' के लिए कवि को जनता के करीब जाना जरूरी है क्योंकि इस समय उन्हें हिंदी कविता में ठहराव' आ रहा लगता है। डॉ. शर्मा कविता में 'सपाटबयानी' की जगह 'संश्लिष्ट ऐंद्रियता तथा गहन भावबोध' पर जोर देते हैं। इसके लिए उन्होंने केदार बाबू को अंग्रेजी के प्रख्यात कवि जान कीट्स की कविता, 'ओड टू द नाइटइंगेल' को ध्यान से पढ़ने का आग्रह किया है। उनके अनुसार यहां अनेक प्रकार के इंद्रियबोध जाग्रत होते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि। गहन ऐंद्रिय संवेदनों की चरमावस्था यहां है। अपने पत्रों में यह बात उन्होंने बार-बार दोहराई है। ध्यान देने की बात है कि किसी भी उत्कृष्ट कविता के लिए समृद्ध ऐंद्रियता एक कसौटी है। कीट्स में इंद्रियबोध तो सघन है पर उसके विचार मध्यकालीन हैं। आज की कविता जिस सपाटबयानी के बंजर से गुजर रही है उससे मुक्त होने के लिए यह एक विकल्प है।

केदार बाबू की कविताओं का एक प्रमुख गुण वह उसे 'लोक कलाओं के करीब होना मानते हैं। किसी भी कविता को लोक तथा लोक कलाओं के करीब होना उसे पाठकों में अधिक संप्रेषणीय बनाता है। वैसे भी कविता में लगभग सभी ललित कलाओं का सामंजस्य होता ही है। डॉ. शर्मा ने केदार बाबू को सलाह दी है कि 'किसी की राय की चिंता किए बिना वह 'भूमिसुतों' की कविता लिखें। उन्हें यहां के कठिन श्रमी किसान में ही `धरतीपुत्र' दिखाई देता है। संकेत है कि आज की कविता का खनिज हम श्रमी किसान तथा श्रमिकों से ही उत्खनित करेंगे। लोकतंत्र में यह जरूरी है। सार्थक भी। क्या आज के कवि भी इससे कुछ ग्रहण कर पाएंगे। यह सवाल बुनियादी है कि लोकतंत्र में कविता का क्या रूप हो! कवि कर्म का क्या दायित्व! कविता सहजता से जन्मे। उसके लिए उन्होंने अंग्रेज़ी का उदाहरण दिया है, 'पोइट्री शुड कम लाइक लीव्ज़ टू ए ट्री और इट हैड बैटर नाट कम एट आल' अर्थात् कविता ऐसे फूटे जैसे पेड़ से पत्तियां अन्यथा उसका सृजन हो ही नहीं। डॉ. शर्मा बार-बार 'अनुभूति को रिफ्रैश' करने की बात कहते हैं। साथ ही भाषा, इमेजरी, छंद वगैरह पर और अधिक मेहनत करने की बात भी। वह कविता को 'सुंदर कल' मानते हैं।

वह कविता में यथार्थ का रंग, स्थानीय आदमियों की उभरती शक्ति, सादगी आदि पसंद करते हैं। डॉ. शर्मा 'लोक कवि' को बहुत महत्व देते हैं। केदार बाबू की कविता के बारे में कहते हैं कि 'तुम्हारी कविताओं की भाषा, शैली, व्यंजना का ढंग सब ऐसे हैं जो लोक कवि को ही संभव है और संसार में थोड़े बहुत बड़े कवियों को ही सुलभ होते हैं, इनमें जहां-तहां एकाध पंक्ति में कुछ भारी भरकम शब्द आ जाते हैं जो 'लोक रस में बाधक' होते हैं। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की काव्य भाषा के बारे में कई सवाल उठाए जा सकते हैं।

जैसा पहले भी कहा है कि वह कविता में इंद्रियबोध को उत्कृष्ट कविता की कसौटी मानते हैं। उसी से जुड़ी बात है गहन भावबोध। केदार बाबू की कविता के बारे में कहा है कि, 'तुम्हारा इंद्रियबोध तगड़ा है, वैसा ही दृढ़ भावबोध भी पर इन चीजों के साथ 'विचार और चिंतन की गहराई' होना बहुत जरूरी है। वह केदार बाबू में नहीं है। ऐसे गुण दांते, शेक्सपियर आदि उच्चतम कवियों में हैं। इसलिए केदार को वह 'सहज कवि' मानते हैं, दार्शनिक कवि नहीं। फिर भी वह उन्हें 'आधुनिक हिंदी में-नई पीढ़ी और दिनकर- बच्चन वाली पुरानी पीढ़ी दोनों में ही श्रेष्ठ कवि माना है। कहा है कि 'इंद्रियबोध के टक्कर की विचार गरिमा यदि होती तो केदार शेक्सपियर और दांते की तरह विश्ववंद्य' हो जाते। इससे साफ है कि कविता में समृद्ध इंद्रियबोध तथा सघन भावबोध के अनुकूल विचार और चिंतन की गहनता नहीं है तो कविता उत्कृष्टता की अपेक्षित ऊंचाइयां नहीं छू सकती।

1968 के आसपास उन्हें लगा कि छायावाद के बाद हिंदी कविता को विकसित करने का 'श्रेय प्रगतिशील कवियों' को है। इसमें उन्होंने केदार बाबू की भूमिका को 'प्रमुख' माना है। नामवर सिंह को डॉ. शर्मा ने 'नई कविता का नया वकील' बताया है।' 'कविता के नए प्रतिमान' पर बड़ी सार्थक टिप्पणी करते हुए उन्होंने इसे 'प्रगतिशील कविता के समग्र विकास को दरकिनार' करने वाली पुस्तक कहा है। ध्यान रहे यह पुस्तक 1968 में ही प्रकाशित हुई है। डॉ. शर्मा ने ही सबसे पहले इस पुस्तक को प्रगतिशील कविता के विरोध में खड़े होने वाली पुस्तक कहकर बुनियादी सवाल उठाया था। यह भी संकेत दिया है कि नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', वीरेश्वर आदि उस समय के यशस्वी कवि या तो 'खामोश' हो गए या दल बदलकर निर्जीव पर केदार बाबू को उन्होंने 'मैदान में डटे' रहने वाला कवि कहा है। इससे उन्हें बेहद प्रसन्नता भी है। संकेत है कि कवि हो या आलोचक 'अवसरवाद' तथा 'विचारधारा' से पथभ्रष्ट होकर वह निर्जीव, तुच्छ तथा प्रभावहीन बनता है। बाद में इतिहास भी उसे नकार देता है। उनके अनुसार नामवर सिंह के 'अवसरवादी रुझान' तथा 'मार्क्सवाद से पथभ्रष्ट' ने जनवादी-प्रगतिशील कविता तथा समीक्षा दोनों का ही क्षरण किया है।

डॉ. शर्मा राजनीतिक संकट को सांस्कृतिक संकट से जोड़कर देखते हैं। पर किसी भी संकट में वह सृजन को 'निर्बाध' मानते हैं। कहा है कि 'हिंदुस्तान में राजनीतिक संकट के साथ सांस्कृतिक संकट भी है फिर भी कलम में बड़ी ताकत है। संकट आएंगे-जाएंगे। कलम की उपज बनी रहेगी।'

वह आज के वैज्ञानिक युग में भी 'विवेक' के साथ 'सहृदयता' को ज़्यादा महत्व देते हैं। कहा है कि 'विवेक तो बहुतों के पास है। 'सहृदयता की पूंजी' बहुत कम लोगों के पास रह गई है। इसी के सहारे भविष्य को देखते हैं, जीते हैं।

1969 आते-आते उन्हें अनेक चिंताएं सताने लगीं। फिर भी 'दुख और चिंताओं से ऊपर उठकर' अपना रचनाकर्म किया। किसी भी रचनाकार को यह बात सीखने की है। प्रतिकूल स्थिति में भी अपनी सृजन क्षमताओं को संतुलित बनाए रखना। शेक्सपियर के संदर्भ में कीट्स ने ऐसी क्षमता को 'निगेटिव कैपेबिलिटी' (निषेधी क्षमता) कहा है।

शेक्सपियर में यह क्षमता शिखर पर है। कालिदास ने इसे सृजन के लिए 'समाधि अवस्था' कहा है। जिन महान लेखकों में यह 'निषेधी क्षमता' होती है वे जीवन में पथभ्रष्ट भी नहीं होते। न उन्हें तुच्छताएं आकर्षित करती हैं। उनका जीवन एक बेहतरीन इंसान की तरह अनुकरणीय होता है। सृजन उनका उत्प्रेरक। इसके लिए जीवन में त्याग, धैर्य तथा बड़े सामाजिक सरोकारों के प्रति अविचिलित दृढ़ता जरूरी है। उन्होंने बड़ी मार्मिकता से कहा है कि किसी महान लेखक को यह समाज उसके जीवनकाल में कितना तिरस्कृत करता है, उसकी घोर उपेक्षा करता है पर मृत्यु होने पर 'उसी को पूजने' लगता है। 1969 के अपने एक पत्र में उन्होंने निराला के संदर्भ में यह विचार व्यक्त किए हैं। कहा है, 'विश्वविद्यालयों के द्वारपाल निराला के लिए लाठी लिए खड़े रहे कि कहीं भीतर न घुस आएं, जब वह न रहे तब 'उन्हें संत और ऋषि' बनाकर पूजने लगे। सत्य से आंखें मिलाने का साहस उनमें नहीं हैं। उनसे बहुत महत्वपूर्ण बात सीखने की है उनका प्रकृति प्रेम। रामविलास शर्मा के लिखे कई पत्रों में ऐसे प्रसंग भरे पड़े हैं, जहां उनका सहज प्रकृति प्रेम खुलकर सामने आया है। यह बात मैं पहले भी कह चुका हूं, जैसे 1969 के आसपास उन्होंने केदार बाबू को एक पत्र में लिखा है, 'हवा में ठंडक है, धूप में वह तेजी नहीं, ढलते सूरज का सोना और गाढ़ा हो गया है, कमरे के बाहर सवेरे हरसिंगार के फूल बिछ जाते हैं। शरद ऋतु आ गई-तुम्हारी कविता में सूर्य की तरह-वसंत की मादकता से दूर, मन की धरती पर दमकते शांत प्रकाश की तरह। केन का थिराया पानी इस समय बहुत अच्छा लगता होगा।'

1970 के आसपास उन्होंने महाकवि भवभूति के काव्य गुण खोजकर उन्हें शेक्सपियर, दांते तथा मिल्टन के समकक्ष बैठाया है। यहां संकेत है हिंदी कवि को अपने महान क्लैसिक्स को जानना, समझना और गुनना एक अनिवार्य शर्त है। कहा है कि केवल भवभूति को पढ़ने के लिए मनुष्य को संस्कृत जानना चाहिए।

1971 के आसपास वह निराला की कविताओं से जूझ रहे थे। लिखा है कि, 'सवेरे से दोपहर तक निराला के साथ रहते हैं। उनकी कविताएं पढ़ते हैं। कुछ लिखते हैं। अक्सर दूसरे दिन उसे काट देते हैं। खीजते हैं, रीझते हैं फिर आगे बढ़ते हैं, इससे लगता है वह गद्य के रचाव तथा स्थापत्य को लेकर, उतने ही चिंतित हैं, जितने कविता के शिल्प तथा संरचना को। 1972 में वह केदार बाबू को बसंत की बधाई देते हुए एक बार फिर प्रकृति की ओर लौटते हैं, 'बसंत की बधाई लो। बरामदे में आधी धूप, आधी छाया में तुम्हें कार्ड लिख रहे हैं। कार्ड लिखते समय याद आया, इस बार खेतों में सरसों देखने नहीं गये। आज जाएंगे। दो साल से गेंदे भी नहीं लगाए। गुलाब अलबत्ता गहगहा रहा है, इन दिनों वह भाषा विज्ञान से जूझ रहे थे। इसी समय लिखे एक पत्र में उन्होंने फिर प्रकृति के करीब जाने की ललक व्यक्त की है। उन्हें 'सरसों के फूल' और 'गेंदा' बेहद पसंद हैं। वह आगरा मथुरा रोड के घने पेड़ों से 'कोयल की आवाज़' सुनते हैं। सामने सड़क पर 'अमलतास की पीली डालें' कहीं भीतरी आग से दमक उठती हैं। गुलमोहर के लाल झंडे आसमान की तरफ उड़ने लगते हैं। इस उम्र में वह अपने प्रेम को अब लपटहीन' बताते

हैं। वह 'निर्धूम है। पर उसकी 'दहक' बिना कहे सुने चौबीस घंटे प्रतिक्षण अनुभव करते हैं। सोकर उठने पर एक दूसरे का मुंह देखकर समझ जाते हैं-कैसी नींद आई। वह इस उम्र में चाहते हैं कुछ ऐसा लिखना, जिसमें मनुष्य के मन की गहराई दिखाई दे। पर लिखने से पहले वह उस भाषा को समझना चाहते हैं, जिसमें उसे लिखना है। बस यह आखिरी साल फिर विदा भाषाविज्ञान। विदा आलोचना। तब फिर क्या लिखेंगे ? कहते हैं कि अब वह उसे लिखेंगे, 'जिसमें हिंदी भाषा का छिपा हुआ सौंदर्य, उसकी भाव शक्ति उजागर हो'।

अब 1972 के आसपास वह जिस्मानी तौर पर कुछ शिथिल अनुभव करने लगे हैं। दांत बोल चुके हैं। 'हड्डियों के जोड़ तो दुरुस्त हैं, पर पैरों की नसें उभर आई हैं। चलने में दर्द होने लगता है। चेहरे पर बहुत तो नहीं है बुढ़ापा, पर दाढ़ी की खाल 'नापसंद ढंग से ढीली' हो गई है। भाषा विज्ञान के अध्ययन में जुटने को उन्होंने, 'एक तिलस्मी खोह में' फंस जाना कहा है। वह चाहते हैं केदार बाबू उनके पास आएं। कहा है कि, 'भाषा विज्ञान की बातें न करेंगे, बस कविता पढ़ेंगे, गुनेंगे, सुनेंगे। इससे लगता है कि, जब सब चीज से तबियत ऊबने लगती है तो हम कविता की ओर ही लौटते हैं। कैसा जादू है कविता में ? डॉ. शर्मा ने चाहे जो लिखा। मन कविता में ही रमा है।

1973 के आसपास डॉ.शर्मा 'निराला की साहित्य साधना' के तृतीय खंड से जूझ रहे हैं फिर भी केदार बाबू को लिखते हैं कि 'ढलते सूरज की खूबसूरती गजब' की होती है। खासकर इन (नवंबर) के दिनों में। केदार बाबू से कहा तुम 'ऐसे ही जियो, बहुत दिन जियो, खूब लिखो, हर सवेरे नई आग लेकर'। वह प्रेम और कविता दोनों को 'आग' के रूपकों तथा बिंबों से समझते-समझाते हैं। आंच से ही ऋग्वेद की प्रथम ऋचा भी शुरू होती है- 'अग्निम् ईले पुरोहितम्'। अग्नि चेतना का सर्वोत्तम रूप है, इसमें क्रांतिदर्शिता निहित है। लेखक का 'विराट विज़न'। सृजन-सक्षम वाणी का तेज।

1974 आते-आते भाषाविज्ञान से ऊब होने पर वह तुलसी पढ़ते हैं। कहा है कि राम-लछिमन-भरत-सीता-हनुमान से बहुत अच्छे लगते हैं तुलसीदास। सतह पर काफी सेवार बहता दिखाई देता है। नीचे बहुत जोरदार रूढियों की चट्टानों जैसी टकराती हुई धारा है। 'लोक को न डर परलोक न सोच देव सेवा न सहाय गर्व धाम को, न धन को' इस उक्ति में सभी रूढियों के ऊपर तुलसी की कविता धारा बह रही है। जब वह 'भावातिरेक' में होते हैं तब उनके मन के साथ उनका शरीर, शरीर का रोम-रोम भाव में डूब जाता है। 'सजल नयन गदगद गिरा गहवर मन पुलक शरीर'। एक पंक्ति में भावातिरेक का ऐसा चित्रण दूसरी जगह नहीं देखा। उन्होंने नोट किया है कि तुलसी 'रामचरितमानस' में 'सन् शब्द' का प्रयोग बहुत करते हैं जबकि 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में नहीं। लगता है तुलसी इसे अवधी का रूप मानते हैं।

1974 के आसपास वह कहते हैं कि 'दुनिया बदलने के लिए कलम काफी' नहीं है। क्या करें! बुढ़ापा आया नहीं, तो आ रहा है। लिखने के अलावा और कुछ करने के काबिल रहे नहीं। खैर दुनिया बदलने वाले और भी हैं और अबेर-सबेर जागेंगे, जोर

लगाएंगे ही। 'इन्हीं दिनों उन्होंने भाषा को 'मनुष्य की अर्जित संपत्ति' कहा है, उसकी सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण अंग, उसके सांस्कृतिक विकास का महत्वपूर्ण उपकरण। बताया है कि तीन साल से भाषा विज्ञान के काम में लगे हैं और अभी साल दो साल और लगना पड़ेगा। अब शरीर पहले से दुर्बल है। प्रतिदिन किसी अंधेरे कोने में नया प्रकाश देखकर वह विह्वल हो उठते हैं। 'अयोध्या कांड के भरत' जैसे दशा अपनी बताई है। इन्हीं दिनों उन्होंने 'केदार' शब्द की व्युत्पत्ति केदार बाबू को बताई। अनेक द्रविड़ भाषाओं में 'केत' या 'केद' (जोती बोई जाने वाली जमीन) खेत को कहते हैं, उसका बहुवचन रूप है 'केदार'।

1974 के आसपास केदार बाबू ने डॉ. शर्मा को लिखा कि बहुत यत्न के बाद भी वह, 'बहुत अच्छी रचनाएं' क्यों नहीं दे पाते। उन्होंने इसके लिए अपने 'दिमाग की कमजोरी' या फिर 'चीजों को न पकड़ पाने' या शायद 'भाषा को कमी माना है।' इससे बहुत कह नहीं पाता। इस आत्मालोचन पर उन्होंने केदार बाबू को बधाई दी। उन्हें भरोसा दिलाया कि अब वह 'पहले से और अच्छी' यानी पहली रचनाओं से बढ़कर कविताएं लिखेंगे। उनका संकेत है कि एक जागरूक कवि को निर्मम आत्मालोचन करते रहना उसकी रचना प्रक्रिया का जैविक हिस्सा होना चाहिए। बाद में केदार बाबू को 'सहज कवि' बताया है। यह भी कि वह अपने 'समय में अद्वितीय' हैं। उन्होंने केदार बाबू में न तो दिमाग की कमजोरी मानी न भाषा की। उन्होंने कहा कि मन की कितनी पर्तें खुलेंगी, आगे क्या दिखाई देगा कोई कवि नहीं कह सकता।

हिंदी में अनेक बड़े-छोटे ऐसे अकादमिक आलोचक हैं जो प्रकृति के सान्निध्य को कविता में न तो जरूरी मानते हैं न उसकी चर्चा करते हैं। क्या यही वजह नहीं कि हिंदी की अधिकांश कविता इकहरेपन से जूझ रही है। कविता के प्रतिमानों में प्रकृति को भी श्रेष्ठ कविता का एक आधार बनाना जरूरी है। यह बात डॉ. शर्मा के विस्तृत 'मित्र संवाद' से ध्वनित होती है। कालमार्क्स ने प्रकृति को सदा 'मनुष्य का विस्तार' कहकर उसे जीवन से कभी अलग नहीं माना। यह बात आज के हर कवि तथा आलोचक को सीखने की है।

'मित्र संवाद' से पता लगता है कि 1976 के आसपास डॉ. शर्मा अपनी पत्नी की सेहत को लेकर पेरशान हैं। फिर भी अपने काम के लिए समय निकाल लेते हैं और मन सधा रहता है। यही है 'निगेटिव कैपेविलिटी' यानी 'निषेधी क्षमता'। अभिप्राय है प्रतिकूलतम स्थितियों में भी सृजन कर्म के लिए स्वयं को साधे रखना। हमारे यहां इसे 'सृजनसमाधि' कहा गया है। इन्हीं दिनों वह मार्क्स की अमर कृति 'पूंजी' खंड दो का अनुवाद पूरा करते हैं। बताया है कि इस बीच मालकिन (पत्नी) दो बार बीमार पड़ीं। इस पुस्तक का अनुवाद करते समय उनको लगा कि वह 'मार्क्स के दिमाग की सारी कार्यवाही बहुत नजदीक' से देख रहे हैं। इस पुस्तक का, उन पर बहुत असर हुआ है। दूसरे, उन्होंने देखा कि मार्क्स का विचार क्षितिज बराबर बदल रहा है, इसे उन्होंने गांठ बांध लिया। यह भी कि मार्क्स का अनुयायी होने का मतलब उनके सूत्रों को दोहराना नहीं है। मार्क्स की

मान्यताओं में 1860 के आसपास मौलिक परिवर्तन हुए थे। इन परिवर्तनों का उल्लेख उन्होंने अन्य कहीं नहीं देखा। इन्हीं दिनों उनके दिमाग में 'ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारत' पुस्तक लिखने की बात पैदा हुई।

1977 के आसपास डॉ. शर्मा ने कविता में 'क्षणिक अनूठेपन' के प्रतिमान को प्रतिष्ठित करने का दर्शन बताया है। कहते हैं, 'कि संसार में जो कुछ महत्वपूर्ण हैं, सुंदर है, वह क्षणिक' ही होता है जैसे- शरद की सांझ। वैसे शरद ऋतु हर साल आती है और सांझ भी होती है पर हमेशा एक सी नहीं होती। इन क्षणों को अमर बना देना कविता का काम है। उन्होंने कविता को मौत से आदमी की कभी न खत्म होने वाली लड़ाई का नतीजा बताया है। जो अशाश्वत है, उसे दूसरों के लिए अपेक्षाकृत शाश्वत बनाकर छोड़ जाती है कविता। शाश्वत का चित्रण करके ही नहीं, अशाश्वत को उसी क्षण में हमेशा के लिए बंदी बनाकर।

एक जगह उन्होंने केदार बाबू की कविता पढ़कर 1978 के आसपास उन्हें 'भीतर से सूफी' बताया है। यह भी कि केदार बाबू की कविता उनकी 'क्षणिक अनूठेपन' की धारणा को परिपुष्ट करती है। केदार बाबू को कहा है कि वह, 'कालातीत' होने के स्वप्न में सौंदर्य के प्रतीक 'गुलाब' की तरह हैं। इन्हीं दिनों उन्होंने नए कवियों की 'वर्णन क्षमता के ह्रास' की बात कही है। कहते हैं कि अंग्रेजी में पहाड़ों, मैदानों पर बहुत सी अच्छी कविताएं हैं,पर समुद्र पर कम हैं और जो हैं, उनमें भवोद्गार अधिक है समुद्र कम। नई कविता के प्रवाह में 'हमारे कवियों की वर्णन क्षमता का ह्रास' हुआ है। इन्हीं दिनों उन्होंने पाश्चात्य आलोचना की 'शास्त्रीयता को दरिद्र' बताया है। पर जहां वह कवियों के अनुभव प्रस्तुत करती हैं,वहां 'मनन करने योग्य' है। ध्यान रहे वह यहां केवल 'सर्जनात्मक चेतना के रूपों' पर बात कर रहे हैं।

1982 के एक पत्र में 'क्रांति और कविता' की प्रक्रिया को लगभग एक सा बताया है। कहा है, 'क्रांति की तरह कविता सुविचारित योजना और स्वत:स्फूर्त कार्यवाही' का परिणाम होती है। बाद में यह भी कहा है कि इन दोनों का अनुपात हर क्रांति या कविता में एक सा नहीं होता। इसी पत्र में उन्होंने केदार बाबू की कविता को 'सहजबोध' की कविता कहा है। केदार बाबू को अपनी कविता तथा सृजनशक्ति पर विश्वास करने का सुझाव दिया है। उसे कम करके न आंकने को भी कहा है। एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है कि कवि को 'ध्यान रचना पर केंद्रित' करना चाहिए। उसकी 'व्याख्या की चिंता' न करना ही बेहतर है। उनके अनुसार, 'अच्छी कविता अपना मर्म शब्दों के भीतर छिपाए रहती है और उस तक लोग धीरे-धीरे पहुंचते हैं। यानी कविता में छाया प्रतीतियों के गर्भ में ही सार तत्व निहित होता है। दोनों को ही समझना कविता को समग्र समझना है। कुछ कवि वैज्ञानिक विश्वदृष्टि के अभाव में आजीवन छाया प्रतीतियों को ही यथार्थ मानकर शब्द क्रीड़ा करने में आनंद लेते रहते हैं। बुर्जुआ मन हमें सार तत्व तक पहुंचने ही नहीं देता। छाया प्रतीति को भेदकर सार तत्व को वही कवि या समीक्षक पा सकता है, जिसके पास भौतिक द्वंद्वमय वैज्ञानिक दृष्टि है।

1982 के एक पत्र में वह केदार बाबू की कल्पना को 'यथार्थोंमुख' बताते हैं। अत: उसमें 'भ्रम की संभावना' नहीं है।

1983 में वह उनको मार्क्स और मार्क्सवाद के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें बता रहे हैं। कहा है कि 'मार्क्स जब दर्शनशास्त्र पर लिखते हैं, तब अर्थशास्त्र उनके साथ रहता है। जब अर्थशास्त्र पर लिखते है तो दर्शनशास्त्र साथ रहता है। इसी पत्र में 'कविता की व्याख्या कैसे की जाए' सवाल का जवाब दिया है। उनका मानना है कि, 'विशेष कविताओं की व्याख्या किए बिना निर्विशेष कविता की व्याख्या हाथ न लगेगी। यदि कोई आलोचक किसी कवि का सही अध्ययन करता है तो वह कविता मात्र के अध्ययन से कवि का और उसकी रचना का मार्ग प्रशस्त करता है। फिर केदार बाबू को सावधान करते हुए कहा कि यहां के असरदार बुद्धिजीवी कहीं न कहीं अमरीका और उसकी एजेंसियों से जुड़े हुए हैं। कम्युनिस्ट पार्टियां उत्तर भारत में लगभग निष्क्रिय है, इसलिए बिखराव है।

14 अगस्त, 1983 को सबेरे अचानक दिल का दौरा पड़ने से डॉ. शर्मा की पत्नी का देहांत हुआ। एक वाक्य से केदार बाबू को बताया कि 'मालकिन (पत्नी) ने एक ही झटके में खाई पार कर ली। 12 मार्च, 1985 को उन्होंने केदार बाबू को 'काल देवता के चक्र' के बारे में बताया है। काल देवता की घटनाएं अपने हिसाब से घटित होती हैं। उनकी चपेट में बूढा आ रहा है या जवान, कवि या आलोचक, इससे उसे कोई वास्ता नहीं। कुछ परिस्थितियों से तो आदमी लड़ सकता है, पर कुछ ऐसी भी होती हैं, जिनसे लड़ना संभव नहीं। आदमी चुपचाप सहने के अलावा कुछ नहीं कर सकता। रहस्यवादी कवियों को भले आदमी कहा है, पर वह आनंदविभोर तभी तक रह सकते थे जब तक उन पर घनचोट न पड़े। भवभूति, निराला तथा शेक्सपियर- ये सब 'घनचोट के कवि' हैं और डॉ. शर्मा के प्रिय 'कवि' हैं। सचमुच दु:खद क्षणों में वह भीतर से डोल गए थे। उस मनोरचना का जवाब कविता लिखकर ही दिया जा सकता है। पर वह अभी गद्यलोक' में हैं। यहां कवि को सीखने की बात है कि बड़ी त्रासदी के बाद भी सृजन में कोई व्यतिक्रम नहीं है न बनक टूटी है, न आस्थाएं खंडित हैं, न जीवन से विराग है। यहां फिर 'निषेधी क्षमता' का अच्छा प्रमाण डॉ. शर्मा दे पा रहे हैं। मैंने ऐसे लेखक देखे हैं, जो थोड़ी सी त्रासदी में अपने सारे संकल्प ही खो बैठते हैं। देश छोड़कर विदेश भागते हैं। मार्क्सवादी दर्शन त्याग अध्यात्म की गुफाओं में बचाव देखते हैं।

18 सितंबर, 1985 को डॉ. शर्मा ने केदार बाबू के प्रेम कविता संग्रह, 'हे मेरी तुम' पर कुछ कहा है। दोनों महान लेखक बुढापे की 'घन चोट' सह-सह कर सृजनरत हैं। इस संग्रह में डॉ. शर्मा को एक ओर 'प्रेम का दमकता उजाला' दिखता है, दूसरी ओर वृद्धावस्था की छायाएं भी। उनका कहना है कि पत्नी को केदार बाबू ने बहुत प्यार दिया है, बहुत प्यार उनसे पाया भी है पर अशक्त होने पर उसे संभालने का दायित्व भी कवि का है। यह सहज है कि परस्पर स्नेह जितना गहरा होता है, विछोह की संभावना उतनी ही मर्मांतक पीड़ा देने वाली होती है।

इसी पत्र में उन्होंने केदार बाबू की कविता के कथ्य के आधारों को बताया है। केदार बाबू ने प्रकृति (अपने और किसान के प्राकृतिक परिवेश) पर लिखा है। उन्होंने सामाजिक यथार्थ पर (भारत के जनांदोलन पर, वर्तमान व्यवस्था पर) लिखा है, उनके अनुसार केदार बाबू ने प्रेम पर (अपनी जवानी से लेकर बुढ़ापे तक प्यार की विभिन्न मंजिलों पर) लिखा है। उनके अनुसार जहां केदार बाबू ने अपने ऊपर लिखा है वहां इन्हीं संदर्भों में लिखा है। इस सबको समेटने वाली कवि की एक व्यापक निष्ठा है-कविता के प्रति। वह केदार बाबू को संबोधित करते हुए कहते हैं कि, 'प्रकृति ने मनुष्य जीवन की सीमाएं निर्धारित कर दी हैं। इन सीमाओं पर मनुष्य विजय पाता है कविता में। जो मर्मांतक पीड़ा है, उसे भी वह अपनी कविता का विषय बनाता है।' इस तरह वह विष को अमृत में परिवर्तित कर देता है- अपने लिए, उससे ज्यादा दूसरों के लिए।

यहां तक आते-आते डॉ. शर्मा केदार बाबू की कविता के बारे में पूर्ण आश्वस्त तथा गंभीर दिखाई देते हैं। उन्हें अब कवि के जीवन तथा कविता में एकात्म भाव दिखाई देता है। जैसे उनकी कविता पढ़ना उनकी 'जीवन यात्रा' का भी अध्ययन हो। वह केदार बाबू की कविता को अब, 'हिंदी कविता की विजय' मानने लगे हैं, क्योंकि उनकी कविता में उनके परिवेश का ऐसा प्रतिबिंबन है जिसमें कवि के 'भीतर' निहित साधना की लौ जीवित है। यानी किसी कविता में परिवेश का प्रतिबिंबन तभी सार्थक होगा, जब उसमें कवि के हृदय की ऊष्मा का भी अनुभव विस्तार हो सके। मार्क्स ने इसे 'वस्तु की आत्मपरकता' कहा है। डॉ. शर्मा यह देख-सुनकर दु:खी हैं कि उनके सामने 'राजनीति में काफी अवसरवाद' प्रवेश पा चुका है, उसके ही अनुरूप 'मार्क्सवादी लेखकों में अवसरवाद गहरे घर' कर गया है, इससे उनकी सृजन क्षमताओं में गिरावट आई है। उनकी बनक खंडित हुई है। दूसरे, लेखकों की विश्वसनीयता का भारी क्षरण हुआ है फिर भी एक ईमानदार मार्क्सवादी की तरह उनको भरोसा है कि यह 'अवसरवाद छंट' जाएगा। 'राजनीति और साहित्य में मार्क्सवाद का सूरज' फिर चमकेगा। संकेत है, अवसरवाद की जड़ें बहुत कमजोर होती हैं। वह एक दिन बेनकाब होकर अपना अस्तित्व खो देती है। एक लेखक का अपनी आस्था पर अडिग होना, उसकी ईमानदारी की पहली शर्त है। वह यह भी कहते हैं कि, जब मार्क्सवादी चेतना फिर लौटेगी, तब केदार तथा केदार जैसे कवियों को जनता में लोकप्रियता मिलेगी।

वह यह भी मानते हैं कि 'मार्क्सवाद की सही समझ के बिना' वर्तमान व्यवस्था बदली नहीं जा सकती। उनका संकेत है कि पथभ्रष्ट मार्क्सवादियों ने इतिहास और मार्क्सवाद के बारे में बहुत भ्रम फैलाए हैं। केदार बाबू जैसे कवियों को ऐसे भ्रमों से बहुत सावधान रहने की जरूरत है। कहते हैं कि निराला और केदार बाबू ने 'एक साथ में नये यथार्थवाद' की शुरुआत की थी। केदार बाबू की 'सही जमीन यथार्थवाद' की है। कवि ने इस नए यथार्थ की जमीन पर 'चलते हुए अर्ध शताब्दी' पूरी की है। यह आज की कविता की बड़ी उपलब्धि है। अत: वह कवि केदार का, 'अभिनंदन' करते हैं। संकेत है कि ऐसी ही कविता से आज 'सही तथा लोकोन्मुख काव्य प्रतिमान' रचे जा सकते हैं। कविता

के नए प्रतिमान, जो आज तक रचे गए हैं वह सामाजिक यथार्थ विरोधी अमरीकी रूपवादी समीक्षा से उधार लिए गए प्रतिमान हैं। संकेत यह भी है कि ऐसे अमरीकी प्रतिमानों से केदार बाबू तथा उन जैसे प्रगतिशील किसी भी कवि की 'यथार्थवादी कविता' को नहीं परखा जा सकता। दूसरे, कविता के नये प्रतिमानों में केदार बाबू, नागार्जुन, त्रिलोचन, शील तथा मुक्तिबोध आदि की उपेक्षा मार्क्सवादी आलोचना का अवसरवादी विघटित रूप है। यही वजह है कि ऐसे काव्य प्रतिमानों को आज खारिज कर दिया गया है। इतिहास ऐसे भूसे को बहुत जल्दी फटककर अलग होता है।

22 दिसंबर, 1985 के एक पत्र में उन्होंने कविता के बड़े प्रयोजन की ओर संकेत कर कहा है कि उसमें, 'मनुष्य को संभालने की अमिट शक्ति' है। इस शक्ति के स्रोत कवि में ही होते हैं। सामान्य जीवन में सामान्य शक्ति से काम चल जाता है। जब ऊपर से गहरी चोट पड़ती है, तब विचलित होते हुए भी कवि शक्ति के नए स्रोत खोज लेता है। कवि परिवार का होता है, उसी के साथ वह समूचे देश का भी होता है। देश का ध्यान कवि को टूटने से बचाता है। संकेत है कि जिस कवि के, जितने बड़े सामाजिक सरोकार होंगे, उसमें जनता की पीड़ा से एकात्म होने की उतनी ही ज्यादा ललक होगी। बड़े सामाजिक सराकोरों से ही कविता बड़ी बनती है। कवि दिक्काल का अतिक्रमण, तभी कर सकता है।

'मित्र संवाद' से लगता है कि 1986 तक आते-आते डॉ. शर्मा के पत्रों का कथ्य ज्यादा चिंतनपरक, दार्शनिक तथा व्यापक हुआ है। वह केदार बाबू से उन बातों का साझा करना चाहते हैं, जो कवि और आलोचक, समाज तथा व्यक्ति के लिए बहुत जरूरी हैं। 23 जनवरी, 1986 के एक पत्र में उन्होंने जीवन को समझने के लिए 'झील' का सांग रूपक चुना है। उन्हें मनुष्य जीवन 'एक झील' लगने लगा है। जन्म और मृत्यु एक ऐसा 'घेरा' है, जो सतह के हर बिंदु से दिखाई देता है। बिंदु से परिधि तक का विस्तार मनुष्य के हाथ में नहीं होता। मनुष्य के कर्म इस विस्तार को कुछ कम जरूर कर देते हैं। आगे कहा है कि 'झील की गहराई' मनुष्य के हाथ में है। कवि जब भावों में निमग्न होता है तो वह अपने को 'अथाह जल' में पाता है। इस संदर्भ में वह अंग्रेजी कवि शेली का कथन उद्धृत कर बताते हैं कि हर 'बड़ी कविता में अर्थ की असीमता' होती है। यह 'असीमता' भले ही निरपेक्ष रूप में अनंत न हो, पर वह आयु की निर्धारित सीमा से तो बढ़कर है ही। फिर उन्होंने निराला की 'वन वेला' की एक पंक्ति दी है 'मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल वास।' उनका मानना है कि जिस पार्क में 'वन वेला' खिली थी, उसकी चौहद्दी दिखाई देती थी, पर जहां से वह गंध लेकर उठी है, वह अतल था। गहराई ऊपर के विस्तार से कहीं ज्यादा थी। जैसे हिमनद के दिखाई देने वाले भाग से नीचे छिपा भाग तीन गुना बड़ा होता है। वह यह भी मानते हैं कि, 'मनुष्य में गहरे डूबने की क्षमता' है। चाहे एक क्षण को ही डूबे। वह इतने गहरे डूबता है कि ऊपर काल प्रवाह बहुत छोटा लगता है। कवि इस तरह मृत्यु को जीतता है। अपने प्रेम के अनुभव को अपने लिए और

दूसरों के लिए अमर कर जाता है। जहां 'मानव प्रेम है वहां वैराग्य' के लिए गुंजाइश नहीं है। 'रस विशेष जाना तिन नाही'।

इसी पत्र में डॉ. शर्मा भावातिरेक के स्वभाव को बताते हैं। यह एक प्रकार से 'आपे से बाहर' होना है। इस तरह का भावावेश आनंद के अतिरेक का ही परिणाम होता है। भवभूति और शेक्सपियर ने शोकग्रस्त मन की एक्स्टेसि (भावातिरेक) का वर्णन किया है। निराला की 'सजग संज्ञा शून्यता' यही शोक वाली एक्स्टेसि है- 'अवसन्न भी हूं प्रसन्न मैं प्राप्त वर' अथवा 'स्नेह निर्झर बह गया है/रेत ज्यों तन रह गया है।'

डॉ. शर्मा भवभूति और शेक्सपियर से निराला की त्रासद एक्स्टेसि (भावातिरेक) का फर्क बताते हैं। निराला टूटकर भी कर्म विमुख नहीं होते। जैसे, 'वह एक और मन रहा राम का जो, न थका' यह अथक मन बराबर संघर्ष करता हैं। जैसे वाल्मीकि ने शोक को श्लोक बना दिया। शोकः श्लोकत्वमागतः। लगभग वैसे ही निराला ने। शोक, प्रेम से भिन्न रूप में जुड़ा हुआ शोक, कर्म की जबर्दस्त प्रेरणा बन सकता है। जैसे कच्चे लोहे में विषैला रसायन मिलाकर इस्पात बनाया जाए, वैसे ही 'शोक में गुणात्मक परिवर्तन' होने पर वह कर्म की प्रेरक ऊर्जा बन जाता है।

इसी लंबे पत्र में वह कवि केदार बाबू को प्रतिबिंबन तथा मनुष्य की मेधा के चमत्कार के बारे में बताते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य का चित्त प्रतिबिंब ग्रहण करता है। साथ ही उनके आपसी संबंध पहचानता है। प्रतिबिंब ग्रहण झील की परिधि की तरह है। विचार क्षमता गहरे डूबने की तरह हैं। मनुष्य का एक चित्त वह है जो अनेक प्रकार की संभव असंभव कहानियां गढ़ लेता है। दूसरा वह चित्त है, जो वैज्ञानिकों ने प्रकृति की शक्तियों को पहचानने में लगाया है, जो है नहीं उसकी कल्पना कर प्रकृति को पहचानना मनुष्य की 'मेधा का चमत्कार' है, वह विचार और भाव दोनों में गहराई आंकते हैं। दोनों ही कवि के सृजन के जरूरी उपकरण हैं। दोनों का संबंध कर्म से है। श्रेष्ठ विज्ञान, श्रेष्ठ कला कालजयी है। शोक से मनुष्य टूटता नहीं है। उसका सामना करने के लिए वैराग्य के बदले वह मनुष्य की अप्रतिहत रचनात्मक क्षमता का भरोसा करता है। भारतीय साहित्य का यही स्वर उसका केंद्रीय बिंदु है। यह सकर्मक तथा ऊर्जावान दर्शन उस पतनशील दर्शन से भिन्न है जो मनुष्य को पस्तहिम्मत, अवसादग्रस्त तथा जीवन विमुख होने को अभिशप्त बनाता है। इसी पत्र के नीचे केदार बाबू का पत्र है। 28 जनवरी, 1986 को शाम 6 बजकर 15 मिनट पर उनकी पत्नी का देहांत हो गया। इस पर बनारस से 5 फरवरी, 1986 को डॉ. शर्मा ने अपने प्रिय कवि को सांत्वना देते हुए कहा कि 'पुरुष सब कुछ सहने के लिए समर्थ है। उसके लिए पत्नी संसार है। पत्नी का संसार उसका पति है, वह केदार की कविता को नई शक्ति दे गई। स्वयं उसमें अमर हो गई।

केदार ने डॉ. शर्मा को लिखा, 'मैं अपने को संभाले हूं। पर सब कुछ तो मुझ पर नहीं है। महाकाल की कुमति करनी का कोई भरोसा नहीं कि कब पकड़ ले जाए, वैसे मैं 'उन्हें (कालदेव को) हड़काए' रहता हूं। इस पर 17 मार्च, 1986 को डॉ. शर्मा ने, महाकाल

की कुमति करनी पर टिप्पणी की है, 'साहित्यकार सूरमा है, लड़ते-लड़ते खेत रहे, इसी में उसकी शान है' प्रसाद की पंक्ति दी है 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर' इस संदर्भ में कबीर की पंक्ति याद आती है 'लागै ठोकर पीठ ने देवै/सूरा सन्मुख जूझै।'

20 मार्च, 1986 के एक पत्र में उन्होंने कवि केदार बाबू का शोकाकुल ध्यान मोड़ने के लिए उन्हें बांदा की प्रकृति की याद दिलाई है। कहा कि बांदा में कवि के काफी परिचित और मित्र हैं। जैसे 'टुनटुनिया' पहाड़ और 'केन' नदी। फिर लिखते हैं कि धूप तेज होने लगी हैं। यहां आमों में खूब बौर आए हैं। इस विश्वविद्यालय (काशी हिंदू वि.वि. जिसके परिसर में आम के सघन वृक्ष हैं) में ये पेड़ ही अब देखने और बात करने लायक रह गए हैं। केदार बाबू को डॉ. शर्मा प्रकृति की बार-बार याद दिलाते हैं। संकेत है कि गहरे शोक और अवसाद में प्रकृति ही हमें साधती है। राम सीता के वियोग में वृक्षों, पशु, पक्षियों से बात करते हैं, उनसे सीता के बारे में पूछते हैं।

1986 आते-आते डॉ. शर्मा के लिए 'अकेले यात्रा करना संभव नहीं' रहा था। अब उन्हें प्रगतिशील लेखक संघ की स्थिति पर अफसोस होने लगा है, क्योंकि उसकी स्वर्ण जयंती पर उ.प्र. के किसी कार्यक्रम में सबसे पहले 'राजीव गांधी का संदेश' पढ़कर सुनाया गया था। 28 अप्रैल, 1986 के एक पत्र में उन्होंने केदार बाबू से अफसोस जाहिर करते हुए कहा, 'कहां निराला और प्रेमचंद, कहां आज का यह प्रगतिशील लेखक संघ'। उन्हें विश्व स्तर पर भी समाजवादी व्यवस्था में निहित विकृतियों से उत्पन्न खतरे दिखाई देने लगे थे। इसी पत्र में उन्होंने केदार बाबू से कहा कि, 'रूसी शराब पीना बंद कर दे तो यह दूसरी अक्टूबर क्रांति होगी, दरअसल डॉ. शर्मा केदार बाबू को के मार्क्सवादी लेखकों के चारित्रिक पतन के बारे में बार-बार सजग कर रहे हैं। इन्हीं दिनों उन्होंने केदार बाबू को रूस के बदलते घटनाचक्र के बारे में सजग किया था। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की गोर्बाचोव द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट पढ़ने को भी कहा है, उसमें मद्यपान कम करने के अलावा तलाक की दर घटाने की बात कही है। सुदृढ़ परिवार बनाने पर भी जोर दिया है। समाजवादी रूस में भ्रष्टाचार फैला है, इसका भी उल्लेख है। साम्राज्यवादी देश अमरीका की युद्धोन्मादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए 'अमरीकियों की सूदखोरी' बंद करने का सुझाव है। संकेत है कि एक जनवादी प्रतिबद्ध कवि को दुनिया के राजनीतिक घटनाचक्र पर बराबर दृष्टि रखने की जरूरत है। कोई कवि आज राजनीति से निरपेक्ष होकर बड़ा नहीं बन सकता, तभी कविता अपने देश की विकृतियों तथा असंगतियों का प्रतिरोध कर पायेगी। इसी से कवि की वैज्ञानिक विश्वदृष्टि निर्मित होगी। बड़ी तथा प्रभावी कविता तभी संभव है।

27 जून, 1986 के एक पत्र में वह केदार बाबू के काव्य विकास के पड़ावों का उल्लेख करते हैं। वह मानते हैं कि, 'विकास की मंजिलें स्पष्ट हो गई हैं। एक- 1944 तक यथार्थवाद का प्रारंभिक विकास। दो- 1945 से 1947 का संघर्षों वाला दौर यानी राजनीतिक पैनापन। तीन- 1948 से 1953 के दौर में संघर्षों तथा राजनीतिक पैनापन की

चेतना का बना रहना। 'राजनीतिक कवि रूप में' रामविलास शर्मा ने नागार्जुन को 'इसी दौर का कवि' माना है। इसके साथ ही प्रयोगवाद की धारा क्षीण होती गई है। चार 1954 से 1956 तक तीसरे दौर की धारा (राजनीतिक चेतना का पैना होना) जारी रही है। तीसरे दौर की धारा कवि केदार बाबू तथा नागार्जुन की कविता में प्रवाहित है। डॉ. शर्मा इसे 'नई कविता का प्रसार' मानते हैं। 1945 से 1956 तक मूलत: एक ही 'संघर्षोन्मुख राजनीति' बनी रही है। 1956 से डॉ. शर्मा कविता में 'विघटनकारी प्रवृत्तियों का उभार' देखते हैं। इस पत्र में उन्होंने भीष्म साहनी का कथन दिया है, जिसमें प्रगतिशील कविता को 'असहाय वेदना की आवाज' कहा गया है। 1956 में केदार बाबू तथा नागार्जुन के अलावा त्रिलोचन, मुक्तिबोध तथा शील की सक्रिय उपस्थिति को आंख से ओट नहीं किया जाना चाहिए। 1957 तक त्रिलोचन का सानेट संग्रह, 'दिगंत' आ चुका था। यह प्रगतिशील कविता के लिए बहुत ही भरोसे की बात थी। मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदार बाबू, नागार्जुन तथा शील की जनवादी कविता नई कविता एक प्रतिवाद के रूप में पहचान बना चुकी थी। एक संभावनापूर्ण विकल्प। भीष्म साहनी का कथन कुछ अतिरंजित लगता है।

1987 में डॉ. शर्मा केदार बाबू को बताते हैं कि वह अब सुकरात पर लिख रहे हैं। एथेंस के लोकतंत्र ने उसे देशद्रोही बताकर 'मृत्युदंड' दिया था। कहते हैं मृत्यु दंड से 24 साल पहले सुकरात के विरुद्ध एक नाटक लिखा गया। उसमें दिखाया है कि सुकरात नास्तिक है। देवताओं का अपमान करता है। युवाओं को बरगलाता है। इस प्रचार के बाद नाटक के अंत में लोग उन पर पत्थर फेंकते हैं और घर में आग लगा देते हैं। सुकरात अपने शिष्यों के साथ भाग खड़े होते हैं। इसी साल अगस्त 1987 में लखनऊ में डॉ. शर्मा के 'बड़े भैया' का निधन हुआ। उनका कहना है कि तीन-चार साल की उम्र से लेकर अब तक सबसे 'दीर्घकालीन संपर्क' उन्हीं से था। इसी वर्ष डॉ. शर्मा ने केदार बाबू को बताया कि, किस तरह मार्क्स पहले अमरीका को प्रगतिशील मानते थे, पर बाद में उसके हिंसक दमनकारी रूप का उन्होंने बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। वह अपनी अगली पुस्तक में इसका उपयोग करने की बात भी कहते हैं। इसी साल डॉ. शर्मा को डि.लिट. की उपाधि आगरा वि.वि. ने दी, पर 'यात्रा कष्ट' की वजह से उसे लेने तक नहीं गए। यह फिर एक प्रमाण है कि वह उन तुच्छताओं में कतई लिप्त न थे जिन्हें पाने को आज शिखर पुरुष तक बेचैन रहते हैं। फिर डॉ. शर्मा प्रकृति की ओर लौटते हैं। कहा है, 'आज सबेरे घनघोर कुहरा था और दिन 6 बजे घूमने जाता था। आज 7 बजे गया। आम के पत्ते, पीपल के पत्ते, बरगद के पत्ते, सबसे ओस की बूंदें टपकने का इस्टाइल अलग-अलग था, दिन के तीन बजे भी गोभी के पत्तों पर ओस की बूंदें देखी।

8 जनवरी, 1988 के एक पत्र में उन्होंने केदार बाबू को बताया कि 26 जनवरी, 1988 को उन्होंने शमशेर और त्रिलोचन को टी.वी. पर देखा। शमशेर की 'अत्यधिक कमजोरी' का उल्लेख है। यह भी कि उन पर शोध करने वाली छात्रा उन्हें 'चम्मच से खाना खिला' रही थी।

एक अत्यंत महत्वपूर्ण पत्र डॉ. शर्मा ने केदार बाबू को 15 मई, 1988 को लिखा है। त्रिलोचन का प्रसंग है कि वह मिलने आये। 'अधिकतर शब्दों की चर्चा' करते रहे। यह भी संकेत है यदि त्रिलोचन जमकर काम करते तो बहुत कुछ कर चुके होते। त्रिलोचन से काव्य चर्चा कम हुई। केदार बाबू द्वारा गेंदे फूलने और बेगनबेलिया के लाल होने का प्रसंग उठाने के उत्तर में डॉ. शर्मा ने कहा 'आमों के बिना वसंत क्या- कालिदास से निराला तक बहुत से कवि गवाह हैं। यहां आम खूब बौराए हैं। दो तो हमारे कंपाउंड में ही हैं। संकेत यही है कि प्रकृति के बिना न तो जीवन में रस है न कविता में समृद्धि। केदार बाबू की कविता इस बात को खूब बताती है।

इसी पत्र में प्रताप नारायण मिश्र द्वारा 'बुढ़ापे' पर लिखी कविता का उल्लेख है। कहा है कि उनका हाल, 'हमसे भी बुरा' था और पचास पार करने के पहले ही। इसी संदर्भ में डॉ. शर्मा अपने वैदिक ऋषियों के बुढ़ापे से बचने की तीव्र इच्छा का उल्लेख करते हैं। यानी युवा जीवन जीने की तलब जैसी वैदिक ऋषियों में थी वैसी आज के लोगों में नहीं है। चिर युवा। अग्निदेव नित्यनवीन है। उसी प्रकार उषा देवी भी नित्य नवीना है। फिर कहा है कि योरोप के रोमांटिक कवियों ने प्रकृति और मनुष्य में जो वैषम्य देखा है, चिरंतन सौंदर्य की जो कल्पनाएं की हैं, वे मानो अपने आदिम रूप में सबकी सब 'ऋग्वेद' में विद्यमान हैं। बताया है कि इधर वह 'ऋग्वेद' पढ़ने में लगे हैं। वह लगातार केदार बाबू को वैदिक कविता का सौंदर्य बता रहे हैं। संकेत है हर कवि को इन महान कृतियों से गुजरना जरूरी है। साथ ही वह ऋचाओं में निहित संगीत की भी चर्चा करते हैं। कहते हैं कि वेद पढ़ने या गाने वालों में वह ऊर्जा न मिलेगी जो ऋचाओं की शब्द योजना में निहित है। ऋग्वेद में कुछ वर्णनात्मक कविताओं का उल्लेख भी किया हैं। जैसे जुआरियों वाला सूक्त। कवि दार्शनिक और पुरोहित का संघर्ष ऋग्वेद में शुरू हो गया है। 'यथार्थवादी चिंतन' से भौतिकवाद' की नींव पड़ती है। डॉ. शर्मा को समकालीन कविता से गहरी रुचि कभी नहीं रही, अतः कहते हैं कि, 'न चाहने पर भी लोग कविताएं सुना जाते हैं। यह एक तरह का तीखा व्यंग्य है, उन कवियों पर जो कविता तथा कवि कर्म को गंभीरता से नहीं लेते, जिन्हें अपनी कविता पर आलोचकों की राय की तलब लगी रहती है। 25 मई, 1988 के पत्र में डॉ. शर्मा ने बताया कि वह इधर वाल्ट व्हिटमैन को फिर से पढ़ रहे हैं। पता लगा कि अमरीकी गृहयुद्ध के दौरान उसने 'अस्पताल में नर्स का काम' किया था। वह मानते हैं कि उसकी कविताओं का स्तर ऊंचा नहीं है पर कुछ में जैसे गद्य सांचे में ढला हो। गद्य के अलावा वहां अन्य कोई छंद फिट न होता। उन्होंने माना है कि 'कविता लिखने में उन्हें आलस' लगता है। यहीं उन्होंने अथर्ववेद के वशीकरण-मारण-रोगोपचार मंत्रों के बीच सहसा कविता फूट पड़ने का उल्लेख किया है। जैसे- इंद्र यशा, अग्नि यशा, सोम (चंद्र) यशा। फिर कहा है संसार में सब प्राणियों में मनुष्य यशतम (सबसे अधिक यशस्वी) है। देखा गया है कि जिस कवि या पुस्तक का जिक्र डॉ. शर्मा करते हैं, उसे केदार बाबू जरूर पढ़ते या उलटते-पलटते हैं। व्हिटमैन की बात सुनकर केदार बाबू ने लिखा हैं कि वह 'व्हिटमैन निकालकर फिर' सूंघेंगे। इसी प्रक्रिया से केदार

बाबू के कवि व्यक्तित्व का इतना असरदार निर्माण हो पाया था। यदि उनके जीवन से डॉ. शर्मा का योगदान हटा दें तो उनकी कविता तथा उनकी बनक दोनों खंडित दिखेंगे।

1 मार्च, 1989 को डॉ. शर्मा वेदों में सरस्वती नदी के महत्व के बारे में केदार बाबू को बताते हैं। कहा है, वैदिक कवियों के लिए जो महत्व सरस्वती का था, वही या उससे मिलता जुलता महत्व तुम्हारे और तुम्हारी कविता के पाठकों के लिए केन का है। कहा है, 'एकाचेतत् सरस्वती नदी नाम' यानी नदियों में यह एक ही सरस्वती नदी चेतनायुक्त चल रही है अर्थात् उसके किनारे जो लोग रहते हैं उनकी चेतना जाग्रत है। हो सकता है बांदा में जाग्रत चेतना वाले एक (केदार बाबू) से अधिक नहीं हों? केदार बाबू को डॉ. शर्मा बराबर सुझाते रहे हैं कि, 'खूब घूमो।' उस समय केदार बाबू अपने बेटे के पास तमिलनाडु में थे। वह कहते हैं कि केरल में प्रकृति का वैभव है। तमिलनाडु में स्थापत्य और संगीत समृद्धि। जितना देखो उतना ही और देखने को मन करता है। जो सुख कविता पढ़ने में है, वही सुख बेटे के साथ रहने में। जितने दिन बांदा से बाहर रह सको, रहो प्राणवंत कवि बूढ़े नहीं होते, हिमालय की नदियों के जल ग्रहण क्षेत्र की तरह उनकी प्रतिभा नयी अनुभूतियां संजोती रहती है। बड़ी रुचिकर बात यह है कि इस उम्र में भी डॉ. शर्मा की इंद्रियां सजग सचेत हैं। उन्हें, आधे खुले दरवाजे से भीतर आती हल्की धूप में गुलमोहर की पत्तियां छाया नृत्य करती दिख रही हैं। बाहर कहीं जूही का पेड़ लगा है। देखना है, फूल आए या नहीं। शरद में तो हरसिंगार ने खूब फूल दिए। 3 मई 1989 तक आते-आते डॉ. शर्मा ऋग्वेद में और डूबे। केदार बाबू को बराबर बताते रहे हैं कि भारतीय दर्शन की धाराएं उससे कहां जुड़ी हैं। 1990 के आसपास 'मित्र संवाद' को प्रकाशित करने की ध्वनियां गूंजने लगी थीं। इन्हीं दिनों जब म.प्र. सरकार ने केदार बाबू को मैथिलीशरण पुरस्कार दिया तो डॉ. शर्मा की प्रतिक्रिया थी कि, 'बहरे सुनने लगे, अंधे देखने लगे, हार्दिक बधाई।

इस तरह इस 'मित्र संवाद' ने एक महान कवि और एक मनीषी महान आलोचक का परस्पर रचनाशील निर्माण किया है। दोनों की मैत्री में कहीं कोई फांक या दुराव नहीं दिखेगा। यह हर प्रकार से अनुकरणीय है। एक दूसरे की मैत्री ने दोनों को जीवन तथा साहित्य में संघर्ष करने की ताकत और प्रेरणा दी है। डॉ. शर्मा ने कवि केदार बाबू की कविता के बारे में जो बातें कही हैं वे बातें अन्य कवियों को भी प्रेरित करेंगी, ऊर्जा देंगी। उनको वैज्ञानिक तथा व्यापक विश्व दृष्टि निर्मित करने को खुला आकाश प्रदान करेंगी। इसमें यत्र-तत्र जो काव्य सूत्र बिखरे हैं वे इतने सार्थक और पर्याप्त हैं कि उनसे किसी भी समय की कविता के लिए प्रतिमान रचे जा सकते हैं। यही नहीं बल्कि एक कवि और आलोचक को कैसा जीवन जीना चाहिए, उसके लिए भी यहां गहरे संकेत हैं। पूरे मित्र संवाद का कथ्य इस बात को पुख्ता करता है कि कवि-आलोचक का जीवन उसकी रचना से कभी अलग नहीं है। हमारे नैतिक चरित्र में जब भी गिरावट आएगी उसका प्रतिबिंबन रचना करेगी।

भाषाविज्ञान की भारतीय ज़मीन

शंभुनाथ

हिंदी में रामविलास शर्मा अकेले आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्यिक मूल्यांकन और भारतीय सामाजिक विकास की पुनर्व्याख्या के साथ-साथ भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी गंभीरता के साथ काम किया। दुनिया में ऐसे व्यक्ति कम हैं, जो साहित्यिक-सामाजिक स्तर पर सक्रिय मार्क्सवादी हों और भाषाविज्ञान में भी तल्लीनता से प्रवेश करें। भाषा और जाति रामविलास शर्मा के चिंतन के केंद्र में शुरू से रहे हैं। उनकी पुस्तकें 'भाषा और समाज' (1961), 'राष्ट्रभाषा की समस्याएं' (1965 बाद में 1978 में संशोधित होकर 'भारत की भाषा समस्या') और तीन खंडों में 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (1979-81) प्रमाण हैं कि भाषाविज्ञान की शोचनीय हालत से वे कितने चिंतित थे और वस्तुत: उन्होंने स्थापित धारणाओं को तथ्यों के आधार पर कितना उलट-पलट दिया।

रामविलास शर्मा ने भाषाविज्ञान में हस्तक्षेप क्यों किया? ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी मानते रहे हैं कि भारतीय आर्य भाषाओं का विकास वैदिक भाषा के रूप में उपलब्ध उस आदि आर्य भाषा से हुआ, जो भारत-ईरानी शाखा की एक टहनी थी। मामला भारोपीय (इंडो-यूरोपीय) परिवार के निर्माण से शुरू हुआ था। यह धारणा उन्नीसवीं सदी के औपनिवेशिक दिमाग की उपज है कि सिर्फ आर्य ही नहीं द्रविड़, कोल, नाग भी अपने भाषा-तत्व बाहर से लाए। इनका विकास भाषा-परिवारों के परस्पर संपर्क से न होकर अलग-थलग हुआ। मुश्किल यह थी कि आर्य-द्रविड़ परिवारों में भी परस्पर संबंध नहीं ढूंढा गया। भारत के रूढ़िवादी भाषा-पंडित वैदिक भाषा को भारत-ईरानी शाखा की एक टहनी मानने को छोड़कर बाकी वही दृष्टिकोण रखते थे जो पश्चिमी भाषावैज्ञानिकों का था। उनकी

एक धारणा यह थी, 'शुद्ध लिखना हो तो अधिक-से-अधिक संस्कृत का अनुकरण करना चाहिए।' स्वाभाविक है कि रामविलास शर्मा की टकराहट दोनों से है, 'जहां तक आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास का संबंध है, भारत के पुरातनपंथी पंडित और यूरोप के आधुनिकता बोध वाले विद्वान दोनों मानते हैं कि इनका स्रोत वैदिक भाषा है, यही नहीं वैदिक भाषा के बाद संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंशवाली परंपरा भी दोनों कोटि के विद्वानों को स्वीकार है। वैदिक भाषा से भिन्न यहां एक या अनेक आर्य भाषाएं थीं, यह उनके लिए कल्पनातीत है, वैदिक भाषा से पहले भी यहां कोई प्राचीनतर आर्य भाषा थी, ऐसा सोचने का पाप न तो प्राचीनता-प्रेमी भारतीय पंडितों ने किया है, न आधुनिकता-प्रेमी पाश्चात्य विद्वानों ने।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और)। यह एक सही धारणा है कि इतनी समृद्ध वैदिक भाषा अचानक और अलग-थलग रास्ते से अस्तित्व में नहीं आ गई होगी, यह एक सुदीर्घ विकास का परिणाम है।

नृतत्वशास्त्र की तरह भाषाविज्ञान भी उपनिवेशवादियों का एक महत्वपूर्ण कूटनीतिक हथियार था। इसके बल पर वे यूरोप की श्रेष्ठता, भारत के प्रभेदों और इस मुल्क पर अपने शाश्वत प्रभुत्व का औचित्य सिद्ध करते थे। हम कहेंगे कि यह एक बड़ी राष्ट्रीय बेचैनी है, जिसकी वजह से रामविलास शर्मा ने भाषाविज्ञान जैसे जटिल क्षेत्र में हस्तक्षेप का जोखिम उठाया, 'नई सामग्री के प्रकाशन के बाद उन लोगों को सोच-विचार के लिए नया आधार प्राप्त होगा जो भाषाविज्ञान की वर्तमान स्थिति से संतुष्ट न होकर स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय भाषा परिवारों के इतिहास के सहारे इस भारत देश को समझना चाहते हैं और उसकी भाषा-संबंधी तथा अन्य समस्याओं को सुलझाकर उसे शक्तिशाली समृद्ध राष्ट्र के रूप में विकसित करना चाहते हैं।' ('भाषा और समाज' द्वितीय संस्करण की विस्तृत भूमिका, 1976)। एक मार्क्सवादी आलोचक की यह चिंता विशिष्ट और तर्कसंगत है।

दुनिया में भाषाविज्ञान पहले से काफी बदला है, यह कई सरणियों से गुजरा है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के बाद तुलनात्मक भाषाविज्ञान, विवरणात्मक भाषाविज्ञान, संरचनात्मक भाषाविज्ञान के दौर आते हैं। दरअसल भाषाविज्ञान एक अर्थ में भाषा की राजनीति का विज्ञान भी है, क्योंकि सैकड़ों साल से भाषा और राजनीति का गहरा संबंध है। खासकर संरचनात्मक भाषाविज्ञान को ज्यादा महत्व अमरीकी नव-औपनिवेशिक नीतियों की वजह से मिला था। सच देखा जाए, भाषाविज्ञान को विज्ञान कहा भर जाता है, वह पूरा विज्ञान नहीं है, जिस तरह इतिहास विज्ञान नहीं है। पुरातत्वों को सामान्य ऐतिहासिक-सामाजिक दशा के चिह्न नहीं मान लेना चाहिए। रामविलास शर्मा भाषावैज्ञानिक प्रविधिगत विशुद्धता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं जैसे- उद्योग-धंधों की एक टेक्नोलॉजी है, वैसे ही भाषावैज्ञानिक धंधे की एक टेक्नोलॉजी है। टेक्नोलॉजी स्वयं विज्ञान नहीं है, वैसे ही भाषाई विवेचन का कौशल विज्ञान नहीं है। जब भाषाई टेक्नोलॉजी में टेक्नीकल शब्दों की भरमार हो तो उसे विज्ञान समझने से बचना और भी जरूरी है।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी)। भाषाविज्ञान और इतिहास में काफी बातें

अटकल से कही जाती हैं। हम जितना ही अतीत में जाते हैं, अटकलों पर निर्भरता बढ़ जाती है। ये अटकलें राजनीतिक नीयत से तय होती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषाविज्ञान को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न छोड़ दिया जाए।

रामविलास शर्मा ने भाषा और समाज के पहले संस्करण में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की मान्यताओं का खंडन कर दिया था, यह ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की प्रचलित पद्धति का खंडन था। दूसरे संस्करण की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका में उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती स्थापनाओं को विस्तृत रूप दिया, जिसका विस्तार आगे तीन खंडों में प्रकाशित 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' में है। वह वस्तुतः ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का नया मार्ग निकालना चाहते थे। वे यह खोज ऐसे समय कर रहे थे, जब दुनिया के भाषावैज्ञानिक अध्ययनों में यह एक बंद अध्याय था। उनकी खोज उनके भीतर खौलते ऐसे सवालों से जन्मी थी, जिनकी ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिकों ने उपेक्षा की थी। इन सवालों का संबंध एक भाषाई क्षेत्र के रूप में भारत के अस्तित्व से था, भारत में सदियों से रहते आए अनेक भाषा-परिवारों के संपर्कों और उनकी उन सामान्य विशेषताओं से था, जो भारत से बाहर उन्हीं परिवारों की भाषाओं में नहीं मिलती। एक प्रश्न था, **'**संस्कृत के जो तत्व न तो यूरोप की भाषाओं में हैं और न द्रविड़-कोल भाषाओं में, वे उसके अपने तत्व हैं या नहीं ?**'** (भाषा और समाज, दूसरा संस्करण)। एक प्रश्न यह भी है कि यूरोप के भाषाई विकास में बृहद भारत के भाषा-क्षेत्र की कोई देन है या नहीं, क्या भारत सदा से भाषा-तत्वों का आयात-कैंद्र ही रहा है **?** रामविलासजी ने वस्तुतः इंडो-यूरोपीय भाषा के लिए **'**एक आदि भाषा जननी दूसरी भाषाएं पुत्रियां**'** इस धारणा का उन्होंने खंडन किया। दरअसल, भारत की भाषाओं के विकास को समझने के लिए बहुस्रोतपरकता को ध्यान में रखना होगा, उसे इकहरी कड़ी सीढ़ी से नहीं समझा जा सकता।

रामविलास शर्मा के ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की अपनी विशेषताएं हैं। वह एक भाषा-परिवार के उद्भव और विकास का अध्ययन दूसरे भाषा-परिवारों के उद्भव और विकास से जोड़कर करना चाहते हैं। वे भाषा-परिवारों के असामान्य तत्वों के साथ सामान्य तत्वों को भी रेखांकित करना चाहते हैं। वे भाषा-परिवारों के असामान्य तत्वों के साथ सामान्य तत्वों को भी रेखांकित करना चाहते हैं। सामाजिक अंतर्मिश्रण और बोलियों को दरकिनार रखकर सिर्फ ग्रंथ के शब्दों से भारतीय भाषाओं के विकास को नहीं समझा जा सकता। इसलिए रामविलास शर्मा लिखित भाषाओं की सामग्री का उपयोग करते हुए बोलियों-उपभाषाओं की सामग्री पर भी ध्यान देते हैं। वे ध्वनियों के यांत्रिक वर्गीकरण की जगह ध्वनि-प्रवृतियों को समझना चाहते हैं। उनका इरादा शब्द-निर्माण-प्रक्रिया, रूप-विकार, वाक्य-रचना और व्याकरण की विशेषताओं को अलग-थलग न देखकर उनको समग्रता में देखना है। वह पूरी संभावना देखते हैं कि किसी भाषा की व्यवस्था में ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और शब्द-भंडार के स्तर पर भिन्नताओं का सह-अस्तित्व हो सकता है।

यह भी जरूरी था कि भाषावैज्ञानिक अर्थसंदर्भ से -विचार को सामाजिक विकास- जोड़ा जाए, 'भाषाविज्ञान का कोई भी संप्रदाय हो, एक प्रश्न का उत्तर उसे देना ही होगा और वह प्रश्न यह है कि भाषा में परिवर्तन क्यों होता है ? सामाजिक संदर्भ से भाषा को अलग करके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता।' (वही)। भाषा को विवरणात्मक और संरचनात्मक भाषावैज्ञानिकों ने ही सामाजिक संदर्भों से काटकर नहीं देखा था, ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिकों ने भी काटकर देखा था। यह भाषाविज्ञान में रूपवाद है। उन्नीसवीं सदी में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विकास हो रहा था, तब आदर्श समरूपता पर जोर दिया जा रहा था, 'इंडो-यूरोपियन' की परिकल्पना की जा रही थी। रामविलास शर्मा का कहना है, 'ब्लूमफील्ड और चोमस्की ने अपनी विश्लेषण पद्धति में भाषा के प्रति प्राय: वही दृष्टिकोण अपनाया था, जो उन्नीसवीं सदी के ऐतिहासिक भाषाविज्ञानियों में प्रचलित था।' (वही)। उन्होंने विवरणात्मक भाषाविज्ञान पर यांत्रिक भौतिकवाद का आरोप लगाया, जो भाषा को महज रूप मानकर विश्लेषण करता है।

रामविलास शर्मा ने ऐतिहासिक भाषाविज्ञान और समाजी भाषाविज्ञान की पद्धतियों को मिलाकर भारत के प्राचीन भाषा परिवार के रूप में 'इंडो-यूरोपियन' से एक भिन्न संकल्पना उपस्थित की। वह भाषाओं के इतिहास की जानकारी के लिए नए मार्ग की खोज पर निकलते हैं। वह ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की इस परंपरागत धारणा का खंडन करते हैं कि 'सभी भारतीय भाषा-परिवारों के स्रोत भारत से बाहर हैं और भारत की अपनी कोई भी प्राचीन भाषा-संपदा नहीं है।' (वही)। उन्होंने भारत को 'एक भाषाई क्षेत्र' के रूप में प्रमुख अनुसंधान-भूमि मानकर हिंदी की विकास प्रक्रिया का सामाजिक संदर्भ में, खासकर बोलियों के संदर्भ में भाषावैज्ञानिक उद्घाटन किया है। उन्होंने सिर्फ हिंदी नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के विकास को अपनी विवेचना के दायरे में रखा है। एक तरह से 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' में उन्होंने भाषाविज्ञान की क्रांतिकारी संभावनाओं की खोज की है।

दरअसल रामविलास शर्मा अपनी समावेशी भाषावैज्ञानिक पद्धति से भाषाओं के विकास का, जो ज्ञान दुनिया को देना चाहते हैं, उसका कुछ प्रमुख उद्देश्य मानव संस्कृति को समृद्ध करना है, न कि औपनिवेशिक या व्यावसायिक हितों को तुष्ट करना। पिछली दो सदियों में भाषा विज्ञान का दुरुपयोग औपनिवेशिक और व्यावसायिक हितों को तुष्ट करने के लिए अधिक हुआ है इसलिए रामविलास शर्मा का काम एक खास अर्थ रखता है।

यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि दूसरे विश्वयुद्ध के पहले भाषाविज्ञान के प्रमुख केंद्र यूरोप में थे। इसके बाद अमेरिका भाषाविज्ञान का प्रमुख केंद्र बना, 'एक ओर पूंजी का केंद्रीकरण, दूसरी ओर भाषाविज्ञानियों का एकत्रीकरण- ये दोनों प्रक्रियाएं नितांत असंबद्ध नहीं हैं।' (वही)। रामविलास शर्मा यह 1976 में कह रहे थे, 'विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने वाला भाषाविज्ञान और इन विद्यालयों से संबद्ध भाषावैज्ञानिक शोधकार्य अधिकांशत: अमरीकी भाषाविज्ञान की शाखा मात्र बनकर रह गया है।' (वही)। भारत के

भाषाविज्ञानियों की परजीविता और व्यतिरेकी अध्ययनों की तरफ जरूरत से अधिक रुझान की क्या वजह है, यह समझना मुश्किल नहीं है।

भारत के बाहर की इंडो-यूरोपियन परिवार की भाषाओं पर आर्येतर भाषाओं का योगदान है, पर भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव भी है। रामविलास शर्मा के अनुसार, 'ध्वनि परिवर्तन अकारण नहीं होता, 'भ्रातर' को कुछ भाषाओं में 'फ्रातेर', अन्य ने 'ब्रदर' रूप में ग्रहण किया।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी-**1**)। इसके अलावा, 'भारत और यूरोप की भाषाओं में कृषि-संबंधी शब्दावली के अनेक स्तर सामान्य हैं।' (वही)। एक उल्लेखनीय बात यह है, 'बरो ने भारत-ईरानी शाखा के क्षेत्र को इंडो-यूरोपियन परिवार की केंद्रीय भूमि माना। यह भूमि भारत के बाहर है, किंतु भारत के पड़ोस में है और यूरोप के बाहर है।'

दुनिया में, खासकर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन, रूपतंत्र, वाक्यतंत्र और अर्थतत्व की विवेचना का स्तर समान नहीं है। इस तथ्य की ओर रामविलास शर्मा खासतौर से संकेत करते हैं कि कई भाषाओं में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विकास ही नहीं हुआ, 'दरअसल, भाषावैज्ञानिक भी अब विलुप्त प्राणी हो गए हैं, अत: रामविलास शर्मा जो शुरुआत करके गए हैं, उसे आगे कौन ले जाएगा ?'

भारतीय भाषा परिवेश में विविधता के बावजूद प्राचीनकाल से ही 'आर्य-द्रविड़ भाषा समुदाय धुरी के समान' है। रामविलास शर्मा के अनुसार, 'अत: यह स्वाभाविक है कि आर्य-द्रविड़ परिवारों के मूल तत्वों में बहुत बड़ी समानता हो। यह उस तरह की समानता है कि संज्ञा रूप द्रविड़ भाषाओं में है तो क्रिया रूप आर्य भाषाओं में। बहुत-से संस्कृत शब्दों के मूल अर्थ की व्याख्या द्रविड़ भाषाओं में उनके प्रतिरूपों का प्रसार देखकर ही की जा सकती है। भाषाओं के निर्माण की इस मंजिल पर कौन भाषा-तत्व आर्य हैं, कौन से द्रविड़, यह निर्धारित करना सरल नहीं होता।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी)। उन्होंने आर्य-द्रविड़ संपर्क की दो मंजिलें स्पष्ट कीं। पहली मंजिल वह है, जिसमें दोनों भाषा-परिवारों का निर्माण हो रहा था, दूसरी मंजिल वह है जब दोनों परिवार की विशेषताएं निश्चित हो चुकी थीं और तमिलनाडु समेत दक्षिण भारत में संस्कृत का प्रसार होने लगा था।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी- 3)। रामविलास शर्मा स्पष्ट कर देते हैं, 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के लिए पहली मंजिल अधिक महत्वपूर्ण है।' (पूर्व उल्लेखित पुस्तक)। आर्यों द्वारा द्रविड़ों की पराजय के मिथक को सत्य मानकर यूरोप की भाषाओं को द्रविड़-संपर्क से अलग कर दिया गया था, जबकि 'एक समय था, जब भाषाविज्ञानी द्रविड़ और इंडो-यूरोपियन परिवारों के आपसी संबंधों पर विचार करते थे।' (पूर्व उल्लेखित पुस्तक)। लंबे समय से बना हुआ आर्य-द्रविड़ विभाजन का औपनिवेशिक जाल रामविलास शर्मा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। उनकी भाषावैज्ञानिक विवेचनाओं का पहला और अंतिम मकसद यह स्पष्ट करना है, 'मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, प्रशांत महासागर के द्वीप समूह और यूरोप की भाषाओं से, विभिन्न युगों में,

हमारे देश के भाषा-परिवारों का संबंध रहा है।' रामविलास शर्मा इस बार भाषाविज्ञान के रास्ते से भारतीय आत्महीनता का समाधान करते हैं।

हिंदी में भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी, धीरेंद्र वर्मा के ग्रंथों को मुख्य आधार माना जाता था। आयरिश भाषावैज्ञानिक जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा किया गया भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा परिवारों की स्वतंत्र पहचान और उनका विश्लेषण शिक्षा-जगत में कुछ सुधारों के साथ अडिग है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में शब्दों की व्युत्पत्ति, उनका इतिहास बताया जाता है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर भाषा-परिवारों की चर्चा की जाती है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि ग्रियर्सन के नेतृत्व में 1894 से 1927 के बीच भारत का पहला भाषा-सर्वेक्षण हुआ था, जिससे हिंदी की बोलियों को लेकर कई अवैज्ञानिक धारणाएं जन्मी थीं। रामविलास शर्मा ने ग्रियर्सन के सामग्री-संकलन कार्य की प्रशंसा करते हुए उनके निष्कर्षों को त्रुटिपूर्ण माना, 'उनका ऐतिहासिक विवेचन संस्कृत को मूलभाषा, प्राकृत-अपभ्रंशों को आधुनिक पूर्वभाषा मानने की वजह से त्रुटिपूर्ण है।' (भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी- 3)।

आज भारत धर्म, संस्कृति और जीवन-शैली के साथ भाषा के मामले में भी बहुलता के चौराहे पर खड़ा है। इस देश में असंख्य भेदों के साथ संपर्क, आदान-प्रदान और सामंजस्य के दृश्यों को हम आज ज्यादा प्रत्यक्ष रूप से पढ़ सकते हैं। आज हमारे जीवन में जितनी विविधता का मिश्रण और बहुस्रोतपरकता है, निश्चय ही पहले कभी नहीं थी। बहुत प्राचीन अतीत में ज्यादा हलचलें नहीं थीं, पर विविधता, बहुस्रोतपरकता और अंतर्मिश्रण का एक स्तर पहले भी था।

रामविलास शर्मा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के पुराने निष्कर्षों का खंडन करते हैं और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विकास जरूरी ठहराते हैं। वे नए अध्ययन में सबसे अधिक ऋण स्वीकार करते हैं कि किशोरीदास वाजपेयी का, 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के विकास के लिए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की स्थापनाओं का महत्व स्वत: स्पष्ट हो जाता है।' (पूर्व उल्लेखित पुस्तक-1)। किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा था, 'जब वेदों की रचना हुई, इससे पहले ही भाषा का वैसा पूर्ण विकास हो चुका होगा। (वेदों की रचना से पहले) छोटा-मोटा और हल्का-भारी न जाने कितना साहित्य बना होगा, तब वेदों का नंबर आया होगा। वह सब काल-कवलित हो गया।' (वही)। रामविलास शर्मा ने यहां से सूत्र पकड़कर कहा, 'हिंदी का विकास समझने के लिए प्राचीन आर्य जनभाषा के उन रूपों पर ध्यान देना होगा, जो न वैदिक भाषा में है और न संस्कृत में।' (पूर्व उल्लेखित पुस्तक-1)।

किशोरीदास वाजपेयी ने हिंदी शब्द 'इधर' की व्युत्पत्ति और इसके स्रोत का जिक्र किया था, 'पालि में 'इध' है और संस्कृत में 'इह' है। ऐसा जान पड़ता है कि मूल भाषा में 'इध' ही था। हिंदी का 'इधर' पालि के 'इध' से जान पड़ता है।' (पूर्व उल्लेखित पुस्तक-1)। इस पर टिप्पणी करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा, 'निष्कर्ष यह निकलता है कि वैदिक भाषा से पहले जो जनभाषा-परंपरा रही है, उसे पहचानना जरूरी है, उसके प्रदेशगत

भेदों को ध्यान में रखना जरूरी है। हिंदी प्रदेश की जनपदीय भाषाओं का विवेचन किया जाए तो पुरानी जनभाषा के प्रदेशगत भेदों को समझने में मदद मिलेगी।' उन्होंने प्रादेशिक भेदों को प्राचीन गणभाषाओं के रूप में पहचाना। रामविलास शर्मा की दृष्टि में आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के अध्ययन के लिए ही नहीं, बल्कि भारोपीय भाषाओं के अध्ययन के लिए भी भारत की बोलियां मूल्यवान हैं, क्योंकि इनमें आरंभिक चरण के कई लक्षण विद्यमान हैं, जिनसे संस्कृत का भी विकास हुआ था।

रामविलास शर्मा को 'भाषा-परिवार' की अवधारणा तंग करती है, वह कहीं-कहीं उसकी जगह 'भाषा-समुदाय' रखते हैं, पर प्रचलित शब्दावली को छोड़ नहीं पाते। वे यह जरूर स्पष्ट करते हैं, 'भाषा-परिवार का निर्माण एक सुदीर्घ प्रक्रिया है। अत: यह स्वाभाविक है कि अपनी मूल विशेषताओं का विकास करते समय विभिन्न भाषा-समुदाय एक-दूसरे के संपर्क में आएं।' वे स्पष्ट करते हैं, 'कोई भाषा-परिवार किसी आदि भाषा की शाखाओं का समूह नहीं है, कोई भाषा-परिवार किसी खास नस्ल के लोगों की भाषाओं का समूह न पहले कभी रहा है, न आज है। परिवार शब्द ही भ्रांतिपूर्ण है।' इस तरह वे यह महसूस करते हैं कि कुछ विद्वानों द्वारा कल्पित 'आदि-भाषा' की अवधारणा को छोड़ा जाए और भाषाओं की बहुस्रोतपरकता की वजह से पैदा हुई जटिलता का सामना किया जाए। उनका भाषावैज्ञानिक चिंतन नस्लवाद-विरोधी और धर्मनिरपेक्ष है। वे 'इंडो' और 'यूरोपियन' शब्दों में अतिव्याप्ति दोष देखते हैं। वे भाषाओं का विकास दिखाने के लिए सामाजिक विकास के औजारों पर ज्यादा भरोसा करते हैं।

आदि-भाषा बोलने वाले एक ही गण-समाज में संगठित नहीं थे, वे विभिन्न गण-समाजों में संगठित होकर विभिन्न भाषाएं बोलते थे। इसलिए 'गण-समाज के गठन, उसके सुदीर्घ जीवन, गण-समाजों में परस्पर विनिमय, गण-संघों के निर्माण आदि पर ध्यान दिए बिना आदि इंडो-यूरोपियन भाषा और इससे फूटने वाली शाखाओं का विवरण काल्पनिक विवेचन मात्र सिद्ध होगा।' (भाषा और समाज)। रामविलास शर्मा ने दिखाया, 'भारत में वैदिक काल के गण-समाज, बौद्धकालीन महाजनपद, सूरदास-तुलसीदास के समय के जनपद और प्रेमचंद-निराला की भाषी जाति-ये सब मिलकर ऐतिहासिक विकास की ऐसी अविच्छिन्न श्रृंखला प्रस्तुत करते हैं, जैसी अन्यत्र सुलभ नहीं है।' इस तरह वह ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की पश्चिमी पद्धति और राष्ट्रीय विकास की भारतीय अंतर्वस्तु के बीच रिश्ता बनाकर भाषाओं के विकास के नए मार्गों की खोज में निकलते हैं।

रामविलास शर्मा बहुत बल देकर कहते हैं, 'जो भाषाविज्ञानी ब्रज, अवधी आदि पुरानी जनपदीय भाषाओं के साहित्य को हिंदी से अलग करते हैं वे जातीय विकास की प्रक्रिया के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करते हैं।' इतना ही नहीं, 'यह बात बहुत साफ है कि जो लोग हिंदी का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं और हिंदी भाषा की एकता खंडित करना चाहते हैं, वे कहीं-न-कहीं भारत की राष्ट्रीय एकता का भी विरोध करते हैं। कारण यह है कि इस राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का माध्यम हिंदी है।' आज किसी भी रूप में हो, बाजार और मीडिया ने हिंदी को देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचा दिया है। आज

अंग्रेजी वर्चस्व के जमाने में भी हिंदी की जरूरत बड़े पैमाने पर महसूस की जा रही है। हिंदी अपने क्षेत्र की जनपदीय सीमाओं का अतिक्रमण करके जातीय निर्माण की प्रक्रिया प्राय: पूरी कर चुकी है, भले सामंती प्रभेदों की वजह से अभी हिंदी क्षेत्र की जनता में सामंतवाद-विरोधी व्यापक चेतना की कमी हो।

हिंदी को शक्ति लोक-संस्कृति और लोक भाषाओं से ही मिल सकती है। इस मामले से रामविलास शर्मा बेखबर नहीं थे, 'यदि विभिन्न विश्वविद्यालयों में लोक-संस्कृति के अध्ययन के लिए स्वतंत्र विभाग खोल दिए जाएं, प्रत्येक जनपद में स्थित विश्वविद्यालय लोक संस्कृति संबंधी सामग्री संकलित करे, तो इससे न केवल जनपदीय संस्कृति भी समृद्ध होगी, भाषा के विकास में सहायता मिलेगी।' हिंदी कभी भी अपने क्षेत्र की लोक-भाषाओं, लोक-संस्कृति और लोक-जीवन की उपेक्षा करके पनप नहीं सकती।

दुनिया की भाषाओं की जो अपनी स्थायी विशेषताएं हैं, इनके अलावा, इन सबने जो दूसरे भाषा-समुदायों से भाषा-तत्व ग्रहण किए हैं, इससे एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि दुनिया की विभिन्न भाषाओं और सभ्यताओं के बीच बहुतरफा आवाजाही थी। दुनिया की मानवताओं ने पहले भी अलगाव में विकास नहीं किया। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि दुनिया में जब भाषाएं प्रारंभिक अवस्थाओं में थीं, वृहत्तर भारत भाषाहीन क्षेत्र न था। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि भारत सदा से भाषाओं का एक आयातक देश था। तीसरा निष्कर्ष यह है कि पर्याप्त ऊपरी भाषिक विविधताओं के बावजूद भारत की भाषाओं में एक मूलभूत भाषावैज्ञानिक एकता है, जो स्पष्ट करती है कि भाषा-बहुल देश होने के बावजूद भारत बहुत-से भाषा समुदायों का एक देश है। इसकी राष्ट्रीय अखंडता भाषावैज्ञानिक स्तर पर अधिक गहन है। चौथा निष्कर्ष निकलता है कि हिंदी हिंदी क्षेत्र की जातीय भाषा है, इसका विकास राष्ट्रीय एकता को मजबूत करेगा।

रामविलास शर्मा ने भाषाविज्ञान को एक भारतीय जमीन दी। उनके भाषाविज्ञान के काम में भारतीय स्वत्व की खोज है, किसी किस्म का श्रेष्ठताबोध नहीं। उनका काम भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक बुनियादी प्रस्थान है। यह काफी महत्वपूर्ण होते हुए भी एक शुरुआत है। इससे नई दिशाओं में सोचने की उत्तेजना मिलती है। रामविलास शर्मा जब भाषावैज्ञानिक से टेक्नोलॉजी के ज्ञान के अलावा संवेदनशीलता की मांग करते हैं, उनका लक्ष्य होता है भाषाविज्ञान-कर्म को एक मानवीय उद्देश्य से जोड़ना, इसे औपनिवेशिक और संकीर्ण व्यापारिक दुश्चक्र से मुक्त करना। रामविलासजी अपने काम के संदर्भ में किसी बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धि का दावा लेकर नहीं आते। वे बहुत स्पष्ट कह देते हैं, 'उन्होंने भाषाविज्ञान के किसी अटल नियम का प्रतिपादन नहीं किया है, अत: आप अपनी ओर से उसके आगे-पीछे 'संभव' और 'शायद' जोड़ लें। किसी भी स्थापना के लिए पूर्ण सत्य का दावा करना हास्यास्पद होगा' ((पूर्व उल्लेखित पुस्तक-1)।

रामविलास शर्मा भाषाविज्ञान में एक बड़ी मनुष्यता का स्वप्न देख रहे थे। फिर भी, बहुत संकोच के साथ अपनी बुनियादी आकांक्षा रखते हैं- 'इस पुस्तक में त्रुटियां हों, यह संभव है। पाठकों से निवेदन है कि वे इधर-उधर शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याख्या आदि में

न उलझकर विवेचन के मूल ढांचे पर निगाह जमाए रहें। यदि वे सहमत हों कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का पुराना पथ छोड़ना आवश्यक है तो मैं समझूंगा, मुझे आंशिक सफलता मिल गई।' उन्होंने जिस तरह 'ओरियंटलिज्म' और भारत में अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका की धारणा का खंडन करके भारत के सामाजिक विकास का नया चित्र खींचा, कुछ प्रगतिवादी लेखकों से टकराते हुए भारत की सांस्कृतिक विरासत का एक भिन्न मार्क्सवादी मूल्यांकन किया, उसी तरह भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के पुराने औपनिवेशिक निष्कर्षों को चुनौती देकर भारत के प्राचीन भाषा-परिवार की नई संकल्पना रखी और हिंदी जातीय निर्माण की वास्तविकता का उद्घाटन किया। इसमें संदेह नहीं कि उनके इन सभी कामों को एक-दूसरे से जोड़कर देखना चाहिए।

भारतीयता की अवधारणा और हिंदी जाति

रविभूषण

'मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य हिंदी भाषी जनता को ऊपर उठाना है, उसे जागृत करना है, उसके ज्ञान को समृद्ध करना है। इसी के साथ स्वयं को शिक्षित करना है। जो बातें हम नहीं जानते, उनको जानना, अपनी जानकारी से दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देना, इस प्रकार के लक्ष्य मेरे सामने बराबर रहे हैं। इनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मेरा सारा प्रयत्न इस दिशा में है, न तो जाति डूबे, न उसके साथ सारा देश डूबे। कला कभी भी साहित्य के ज्ञान कांड का स्थान नहीं ले सकती। मेरा कार्य जैसा भी इस ज्ञान कांड से जुड़ा है। दो समर्पित साहित्यकार, दो समर्पित संगीतकार, दो निष्ठावान कलाकार समाज में ऐसा परिवर्तन कर सकते हैं, जैसा सौ राजनीतिज्ञ मिलकर नहीं कर सकते। इसलिए अपनी विरासत से प्रेरणा लेनी चाहिए और यह विश्वास करना चाहिए कि निष्ठावान साहित्यकार या कलाकार की साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती।' (मेरे साक्षात्कार, पृ.254)

'जातीयता और राष्ट्रीयता में अंतर्विरोध नहीं है। जैसे राष्ट्रीयता के बिना अंतरराष्ट्रीयता संभव नहीं है, वैसे ही जातीयता के बिना राष्ट्रीयता का अस्तित्व संभव नहीं है। फिर चाहे राष्ट्र एक जातीय हो या बहुजातीय।' (भारतीय साहित्य की समस्याएं, 1986, पृ.39)

'हिंदी प्रदेश में क्या होता है, उस पर बहुत कुछ निर्भर है कि सारे देश में क्या होता है। यह स्थिति सोलहवीं सदी में थी, 1857 में थी, 1947 में थी और आज भी है।' वही, (पृ.52)

'बीसवीं सदी के बीस के दशक में, जब स्वाधीनता आंदोलन ने एक नयी करवट ले ली थी, गांधी और भगत सिंह की दो धाराएं प्रमुख थीं, तब 1922 में जबलपुर से प्रकाशित पत्रिका 'श्री शारदा' में धीरेंद्र वर्मा के चार लेख ' राष्ट्र' और 'सूबा हिंदुस्तान' के साथ राष्ट्र के लक्षणों का विवेचन करते हुए प्रकाशित हुए थे। 1930 में ' राष्ट्र या सूबा हिंदुस्तान' शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी दशक में रवींद्रनाथ ठाकुर यह लिख रहे थे कि भारत उनके लिए कोई भौगोलिक इकाई नहीं है। वह एक 'आइडिया' है। रवींद्रनाथ ठाकुर के लिए भारत का नक्शा महत्वपूर्ण नहीं था। महत्वपूर्ण थी भारत की सांस और धड़कन।

'भारत' नाम भरत गण से प्राप्त है। भरत, कुरु, पांचाल आदि अनेक गण-समाज वैदिककाल में थे। वैदिककाल में गण-संघ बन रहे थे। प्राचीन वैदिक रूप में संस्कृत भरत गण की भाषा है और महाभारत का युद्ध भरत गण का आपसी युद्ध है। भरत गण शक्तिशाली था। उसकी भाषा का अन्य गण समाजों में व्यवहार होने लगा था। मगध, कोसल, भरत आदि गण समाज आर्थिक केंद्र से अधिक धर्म और संस्कृति के केंद्र थे। भरत गण की भाषा होने के कारण संस्कृत के अध्ययन और प्रसार के मुख्य केंद्र उत्तर भारत में थे। ये केंद्र उन जनपदों में रहे, जो अब हिंदी भाषी जाति के प्रदेश में हैं। डॉ.शर्मा ने इसी कारण संस्कृत साहित्य के विपुल भाग को 'हिंदी भाषी जाति के पूर्वजों' द्वारा रचित कहा है। संस्कृत का केंद्र विस्तृत हुआ। एक केंद्र उत्तर में गंधार में था, जहां पाणिनि ने व्याकरण की रचना की और दूसरा दक्षिण के केरल में, जहां शंकराचार्य ने वेदांत दर्शन का प्रचार भारतीय स्तर पर किया।

बीसवीं सदी के आरंभ से ही भारत को समझने-जानने, उसके वैशिष्ट्य को रेखांकित करने तथा अन्य देशों की तुलना में उसके महत्व बताने का सिलसिला प्रमुख हुआ। भारत अपनी भारतीयता के कारण भिन्न रहा है। इस भारतीयता को समझने-समझाने की कई कोशिशें स्वाधीनता-आंदोलन के दौर में हुई। भारतीयता को देखने-समझने की कई दृष्टियां हैं। एक दृष्टि जहां धार्मिक-आध्यात्मिक है, वहां दूसरी दृष्टि सांस्कृतिक है, यद्यपि इस सांस्कृतिक दृष्टि के अंतर्गत भी धार्मिक-आध्यात्मिक दृष्टि की मौजूदगी है। प्रश्न यह है कि भारतीयता की पहचान कबसे और कैसे की जाए ? 'भारतीयता' को ही क्यों, भारत को भी क्यों नहीं देखने की एक तर्कसंगत, भाव-प्रमुख नई दृष्टि हो? भारत राजनीतिक इकाई से कहीं अधिक सांस्कृतिक इकाई रहा है। 'भारतीयता' 'भारतीय राष्ट्रवाद' और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से पहले की है। भारतीयता का उस तात्कालिकता से कोई संबंध नहीं है, जो आज चुनाव और विशेष प्रकार की पूंजी से जुड़ी है। भारतीयता का संबंध उस दीर्घकालिक संस्कृति से है, जो आज खतरे में पड़ी हुई है और जिसकी रक्षा की जानी चाहिए। यह संस्कृति सहयोग की है, एकता की है, लोकमंगल की है।

स्वाधीनता-आंदोलन के दौर में भारत संबंधी गंभीर और व्यापक चिंतन आरंभ हुआ। अंग्रेजों ने भारत के संबंध में जो धारणा निर्मित की थी और जैसा इतिहास-लेखन

किया था, उसका विरोध लाजिमी था। इतिहासकारों ने भारतीय इतिहासकारों ने भी भारत को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने के प्रयत्न नहीं किए। सांस्कृतिक विकास सामाजिक विकास की समान गति न पहले थी और न आज है। सामाजिक विकास के साथ ही यहां सांस्कृतिक विकास भी असमान रहा है। रामविलास शर्मा इतिहासकार नहीं थे, पर उनकी इतिहास-दृष्टि किसी भी इतिहासकार की तुलना में कम महत्वपूर्ण नहीं है। वे सामाजिक विकास की विविध अवस्थाओं पर ध्यान देते हैं। उनके लिए महत्वपूर्ण यह है कि मानव-समुदाय किस सामाजिक रूप में गठित है- 'वह गण-समाज है, गण-संघ है, लघु जाति है, महाजन पद में बसने वाली लघु जातियों का संघ है, आधुनिक जाति है या गणों, लघु जातियों अथवा महाजातियों का कोई विशाल राष्ट्र है।' (वही, पृ.30)। भारत को समझना और जानना आधुनिक समय में ही नहीं हुआ- महाभारत के भीष्म पर्व में धृतराष्ट्र ने संजय से भारतवर्ष के संबंध में जानना चाहा था। संजय ने उन्हें भारतवर्ष के बारे में बताया। डॉ. शर्मा उस समय भारत में दो तरह के समाज की बात कहते हैं। 'एक तरह का समाज वह है, जिसमें राजा शासक होता है; दूसरी तरह के समाज वे हैं, जिनमें कोई राजा नहीं है और जनता स्वयं अपनी शासन-व्यवस्था चलाती है।' (वही)। अगर विभिन्न जनपद आपस में संघर्ष कर रहे होते, लड़ रहे होते तो सामान्य जनता का किसी प्रकार का विकास संभव नहीं था। हम जिसे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विकास कहते हैं, वह लंबे समय तक आपसी सहयोग के बिना संभव नहीं है। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसी महान कृतियों में उत्पीड़क वर्ग का समर्थन नहीं है। देश को एकताबद्ध करने का कार्य राज्य-सत्ता से कहीं अधिक कवियों ने किया। 'जिस सामंत वर्ग के हाथ में राज्य सत्ता थी, वह राजनीतिक रूप से इस देश को कभी एकताबद्ध नहीं कर पाया। जिन कवियों के हाथ में राज्यसत्ता नहीं थी, वे इस देश को सांस्कृतिक रूप से एकताबद्ध करने में सफल हुए। सामंती व्यवस्था में संस्कृति के दो भाग हैं, एक कर्मकांड वाला भाग। रामायण और महाभारत की संस्कृति इस कर्मकांड की विरोधी है। इस सामंत विरोधी संस्कृति का मूल स्वर है भारत राष्ट्र की एकता। यह संस्कृति का दूसरा भाग है।' (वही पृष्ठ 32)।

भारत को देखने की दो दृष्टियां मुख्य रही हैं- यूरोपीय और हिंदुत्ववादी। यूरोपीय दृष्टि से भारत सदैव पिछड़ा था। भारत के पिछड़ेपन की अवधारणा का डॉ. शर्मा ने बार-बार खंडन किया है और अनेक तथ्यों, उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि भारत इंग्लैंड और यूरोप की तुलना में कई दृष्टियों से अधिक समृद्ध था। उन्होंने यूरोपीय और हिंदुत्ववादी दृष्टि दोनों का खंडन किया। रामविलासजी की चिंता में केवल 'हिंदी जाति' नहीं थी, समस्त भारत था, भारतीय समाज था, भारतीय भाषाएं थीं, भारतीय साहित्य और संस्कृति थी। उन्होंने भारतीय इतिहास की समस्याओं पर मौलिक ढंग से विचार किया और हिंदी नवजागरण के साथ भारतीय नवजागरण पर भी प्रकाश डाला। वे प्रचलित अर्थों में समाजशास्त्री, इतिहासकार, अर्थशास्त्री और भाषावैज्ञानिक नहीं थे, पर इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में उनका योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं

है। व्यवस्थित ढंग से अस्सी के दशक से उन्होंने भारत पर विचार किया। 'हिंदी जाति' से संबंधित डॉ. शर्मा की केवल एक पुस्तक है 'हिंदी जाति का साहित्य' (1986), पर भारत से संबंधित उनकी कई पुस्तकें हैं- 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खंड 1 और 2' (1982), 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' (1986), 'भारतीय साहित्य और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992), 'भारतीय साहित्य की भूमिका' (1996), 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' (1996), 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' दो खंड (1999), 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं' (2000), 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' (2001) और 'संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्याएं' (2001)। अस्सी के दशक में ही उन्होंने 'भारतीय परिवार और नारी' (1983) और 'पश्चिम की अस्वीकृति और भारतीय आधुनिकता' (1981) लेख लिखे थे, जो 'विराम-चिन्ह' (1985) में संकलित हैं।

अस्सी के दशक से भारतीयता पर नए सिरे से विचार आरंभ हुआ। निर्मल वर्मा के यहां भारतीयता का अपना एक विशिष्ट रूप स्वरूप है, जिसमें स्मृति और परंपरा प्रमुख है। निर्मल भी भारत को मात्र 'भौगोलिक टुकड़ा' नहीं मानते। उनके लिए ईश्वर और पूर्वजों की स्मृति महत्वपूर्ण है। वे नर्मदा को सहस्त्र धाराओं में फूटते देखकर जब उसे 'भारतीय संस्कृति का सबसे उजला प्रतीक' कहते हैं, तो मनुष्य जो रचयिता है, वह प्रकृति के समक्ष गौण हो जाता है। उनके लिए भारत की आध्यात्मिक परंपरा महत्वपूर्ण है, 'जहां 'आत्म' और 'अन्य' के बीच का भेद अविधा का लक्षण था, सत्य का नहीं।' ('आदि, अंत और आरंभ', 2001, पृ.14)। निर्मल को इसका दु:ख है कि भारतीय सभ्यता के आध्यात्मिक सिद्धांत की अनदेखी की गयी। उनके अनुसार 'यदि भारत का 'सभ्यता बोध' और सांस्कृतिक परंपराएं आज मौजूद हैं, तो उसका मुख्य कारण वह केंद्रीय आध्यात्मिक तत्व है, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका।' (वही, पृष्ठ 15)। निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख 'भूमंडलीकरण के दौरान भारतीय संस्कृति' ('आदि, अंत और आरंभ' में संकलित) में भारतीय संस्कृति को वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत करने में सक्षम-समर्थ माना है, पर उनके अनुसार 'हर संस्कृति का मूल चरित्र इस बात पर निर्भर करता है, कि उसमें मनुष्य का संबंध अन्य जैविक, प्राकृतिक, दैवी सत्ताओं से किस स्तर और रूप में प्रकट होता है।' (वही, पृष्ठ 83)। वे जिस भारतीय संस्कृति को बचाना आवश्यक समझते हैं, वह भारतीय संस्कृति रामविलास शर्मा की भारतीय संस्कृति से भिन्न है। निर्मल के यहां मनुष्य से अधिक महत्व देवी-देवता और प्रकृति का है, भौतिकता से अधिक महत्व आध्यात्मिकता का है। स्पष्ट है- उनकी भारतीयता भिन्न है। उनका एक लेख है- 'क्यों भारतीय संस्कृति को बचाना जरूरी है?' ('शताब्दी के ढ़लते वर्षों में' संकलित) वे बार-बार 'पश्चिमी सभ्यता' की बात करते हैं, न कि पूंजीवादी सभ्यता की। यह सच है कि पश्चिमी सभ्यता पूंजीवादी सभ्यता ही है और यह पूंजीवाद, जिसे अब विश्व पूंजीवाद कहा जाता है, जिसका सरगना अमरीका है और अमरीकी साम्राज्यवाद ने

जिस प्रकार संप्रदायवाद, कट्टरतावाद, आतंकवाद आदि को बढ़ावा दिया है, उधर निर्मल वर्मा का ध्यान नहीं है। वे भिंडरावाले की चर्चा करते हैं, जिसने 'अपनी सांप्रदायिक घृणा को स्वर्ण मंदिर की पवित्र आड़ में प्रतिपादित किया। सांप्रदायिकता के साथ सेक्युलरिज्म भी उनके लिए 'सहज धार्मिक मर्यादा के अपदस्थ और अवमूल्यित रूप' हैं। निर्मल के लिए 'धर्म' महत्वपूर्ण है। वे 'अल्पसंख्यक जातियों की जातीय अस्मिता' की बात करते हैं, जबकि धर्म का 'जाति' और 'जातीयता' से कोई संबंध नहीं होता। उनके यहां 'सार्वभौमिक धार्मिक बोध' प्रमुख है जिसने 'भारतीय जीवन-व्यवस्था' को एक जीवंत इकाई के रूप में तीन हजार वर्षों से' कायम रखा है। रामविलास शर्मा की विशेषता यह है कि उन्होंने उन ग्रंथों ऋग्वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि को पुरातनपंथियों, पुरोहितों, धर्मांधों के हाथों में जाने से रोका। उनकी 'स्मृति' और निर्मल वर्मा की 'स्मृति' में फर्क है। परंपरा में जो कुछ सार्थक, श्रेष्ठ और मूल्यवान है, उसे डॉ. शर्मा ने हमारे समक्ष रखा। उन्होंने भारतीय समाज को निरंतरता में देखा। भारत का प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल खंडों में विभाजन न कर सामाजिक गठन को मुख्य माना। उनके अनुसार हिंदी प्रदेश में बसने वाली जाति 'प्राचीन गणों' और सामंतयुगीन लघु जातियों के परस्पर घनिष्ठ संपर्क का परिणाम है। इस प्रदेश का इतिहास सारे देश के इतिहास को प्रभावित करता रहा है। 'अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष और पृथ्वीराज चौहान के युगों के बाद अकबर और औरंगजेब के जमाने तक हिंदी प्रदेश का इतिहास समस्त भारतीय इतिहास को प्रभावित करता है।' ('भारतीय साहित्य की समस्याएं, पृ.40)।

रामविलास शर्मा ने वैदिक काल से लेकर ग्यारहवीं सदी तक को सामंती व्यवस्था का समय कहा है। तमिल भाषा का प्राचीनतम साहित्य, सामंती व्यवस्था का ही साहित्य है। 'सामंती व्यवस्था और वैदिक-पौराणिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्मों का प्रसार एक अविरल भारतीय प्रक्रिया है। भारत का जो भी प्रदेश सामंती व्यवस्था में प्रवेश करता है, वह उस प्रक्रिया से अभिन्न रूप में संयुक्त हो जाता है। भारतीय समाजों के सामंतीकरण की जो प्रक्रिया उत्तर भारत में घटित होती है, वही तमिलनाडु समेत दक्षिण भारत में घटित होती है। इस प्रक्रिया का प्रधान माध्यम संस्कृत थी, तमिल साहित्य का कोई ऐसा युग नहीं है, जब उसके रचयिताओं का संपर्क संस्कृत अथवा पाली अथवा प्राकृत से न रहा हो।' (वही,पृ.80)। जहां तक भारत में जातीय गठन की प्रक्रिया का प्रश्न है, बारहवीं सदी से नयी जातियों का निर्माण होता है, जिनमें एक 'हिंदी जाति' भी है। पहली बार सुचिंतित-सुविचारित रूप में डॉ. शर्मा ने 'हिंदी जाति' की अवधारणा प्रस्तुत की। 'जाति' के महत्व से हिंदी के प्रमुख लेखक सुपरिचित थे। भारतेंदु ने 'जातीय संगीत' पर विचार किया था। 'भारत की भाषा-समस्या' (1949) लेख से लेकर दो खंडों में प्रकाशित पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (1999) तक के पचास वर्षों में उन्होंने हिंदी जाति पर विशेष ध्यान दिया, जातीय एकता की बात की क्योंकि 'किसी भी जाति के एकताबद्ध होने की प्रक्रिया साम्राज्य विरोधी प्रक्रिया भी होती है। राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि

राष्ट्र की प्रत्येक जाति स्वयं भी एकताबद्ध हो।' (भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खंड 2, 1982, पृ.234) जाति पर आज भी विचार करने वाले व्यक्ति साम्राज्य विरोध को भूल जाते हैं। अभय कुमार दुबे ने अपने लेख 'मैं' और 'वे' के बीच रामविलास शर्मा का ज्ञान कांड (तदभव, अक्टूबर 2012) में लिखा है कि वे 'इतिहास–लेखन-संबंधी अपनी मौलिक अंतर्दृष्टियों में इरफान हबीब के पूर्ववर्ती हैं, भारत की प्राक् औपनिवेशिक आधुनिकता के संधान में 'भारत का अर्ली माडर्न खोजने वाली इतिहासकार मंडली के पूर्ववर्ती हैं, सामाजिक आधार पर भाषा के विकास की जांच-पड़ताल करने में 'सोशल लिंग्विस्टिक्स' की प्रतिष्ठा के पूर्ववर्ती हैं, पर दुबे रामविलास शर्मा के साम्राज्यवाद के विरोध की अपने लंबे लेख में चर्चा तक नहीं करते। इसके विपरीत वे हिंदी जाति की थीसिस को 'वर्चस्व की रक्षा' कहते हैं, जो गलत है। दुबे यह स्पष्ट नहीं करते कि 'वे' कौन हैं, जिसकी चर्चा डॉ. शर्मा ने उनके लेख के आरंभ के उद्धरण में की है। 'वे' को अमूर्त बनाए रखने से किसका लाभ है। रामविलास शर्मा ने जिसे 'वे' कहा है, वह साम्राज्यवाद है उससे जुड़ी हुई संस्थाएं और उन संस्थाओं से जुड़े बुद्धिजीवी हैं। उन्होंने फोर्ड फाउंडेशन का नाम लिया है।

भारतीय संस्कृति से रहित किसी भारतीयता की कल्पना क्या की जा सकती है। जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आखिर है क्या ? 'भारतीय संस्कृति यहां की जातीय संस्कृतियों से अलग हटकर कोई चीज नहीं है।' हिंदी भाषी क्षेत्र में बंगाल, महाराष्ट्र और तमिलनाडु की अपेक्षा जातीय चेतना कम है। 'जब तक जातीय चेतना की कड़ी को नहीं पकड़ा जाएगा, हिंदी जाति को संगठित नहीं किया जाएगा, हिंदी भाषा के सारे जनपदों को मिलाकर एक बड़ा राज्य नहीं बनाया जाएगा, तब यहां जातीय विकास नहीं हो सकता।' ('मेरे साक्षात्कार', 330-43) 'भाषा और समाज' (1961), 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977), 'हिंदी जाति का साहित्य' (1986), 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' खंड 1 (1982), 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992) तथा 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' खंड 1 और 2 (1990) के अतिरिक्त अनेक साक्षात्कारों में जाति तथा हिंदी जाति पर उनके विचार मौजूद हैं। डॉ. शर्मा के जाति-संबंधी कई विचार मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा स्तालिन के जाति-संबंधी विचारों से आगे हैं। उन्होंने हिंदी जाति का अस्तित्व स्थापित किया और खुसरो-विद्यापति के समय से जाति की निर्माण-प्रक्रिया पर विचार किया। उन्होंने सोदाहरण यह प्रमाणित किया है कि सामंती समाज में लघु जातियों का निर्माण होता है और पूंजीवादी समाज में महाजाति का निर्माण होता है। मार्क्सवाद में जातीय गठन और निर्माण औद्योगिक पूंजी से जुड़ा है, पर डॉ. शर्मा ने कोस्मिन्स्की, स्तालिन और एंगेल्स से कुछ सूत्र पकड़कर जातीय गठन पर विचार किया और इसकी प्रक्रिया में व्यापारियों की मुख्य भूमिका मानी। व्यापारिक पूंजीवाद उनके अनुसार जातीय निर्माण का मुख्य कारक है। हिंदी जाति की अवधारणा साम्राज्यवादी, सामंतवादी और संप्रदायवादी शक्तियों के लिए नुकसानदेह है। डॉ. शर्मा जातीय चेतना को 'केवल भाषागत, प्रदेशगत चेतना' नहीं मानते। वे इसमें साम्राज्य

विरोध के साथ सामंती रूढ़ियों के विरोध और समाज को पुनर्गठित करने की अवधारणाओं को शामिल करते हैं। वे आजीवन हिंदी की जातीय एकता की बात करते रहे और उनके निधन से कुछ महीनों के बाद ही हिंदी के तीन प्रदेशों को तोड़कर तीन नए राज्य बनाए गए। 1857 से सबक लेकर अंग्रेजों ने हिंदीभाषी इलाके को कई टुकड़ों में बांटा। आगरा और दिल्ली को अलग किया। 1953 में ही डॉ. शर्मा ने हिंदीभाषी इलाके के एक होने की बात कही थी।

महत्वपूर्ण यह है कि डॉ. शर्मा का हिंदी जाति-संबंधी चिंतन स्वतंत्र भारत में विकसित हुआ। साम्राज्यवाद से जारी संघर्ष समझौते में बदल चुका था और यह समझौता बाद के दिनों में आत्मघाती सिद्ध होगा, इसे वे समझ चुके थे। साम्राज्यवाद से सहयोग कर और संबंध स्थापित कर भारत विकास नहीं कर सकता था। रामविलास शर्मा की हिंदी जाति की अवधारणा, भारतीयता की अवधारणा से जुड़ी हुई है। बंगाल के विभाजन (1905) के बाद बंगाल के बुद्धिजीवियों ने 'जाति' पर विशेष ध्यान दिया। नवंबर 1911 के 'माडर्न रिव्यू' में श्यामाचरण गांगुली ने भारत की सभी जातियों की एकता की आवश्यकता बताई थी। उन्होंने 'हिंदुस्तानी जाति की एकता' की बात कही थी। श्यामाचरण गांगुली ने 'बंगाली प्रश्न को भारतीय प्रश्न' बना दिया था। बीसवीं सदी के आरंभ में जातीय प्रश्न बनाने की कोशिश की। जातीयता और भारतीयता में कोई अलगाव नहीं है। भारत की सभी जातियों का संयुक्त होना क्या ब्रिटिश भारत में ही आवश्यक था। स्वतंत्र भारत में क्या यह आवश्यक नहीं है**?** जातीयता का विकास क्या केवल अंग्रेजों ने रोका था? आज के भारत में भारतीय जन को एकजुट होने से रोकने वाली शक्तियां प्रमुख हैं या नहीं। हिंदी जाति भारत की बहुसंख्यक जाति है। इसकी एकता साम्राज्यवादी शक्तियों और उनके सहयोगियों-अनुचरों को कभी रास नहीं आ सकती। आज हिंदी जाति पर केवल एकेडमिक ढंग से विचार नहीं किया जा सकता। हिंदी प्रदेशों में आज जिस तरह का रूढ़िवाद, अंधविश्वास, जाति-बिरादरी, संप्रदायवाद है, क्या वह स्वागत योग्य है ? हिंदी जाति का अपना सांस्कृतिक इतिहास है। डॉ. शर्मा इस सांस्कृतिक इतिहास की, समृद्ध, गौरवशाली परंपरा को सामने रखकर हमें प्रेरित करते हैं। अंग्रेजों के समय ही नहीं, स्वतंत्र भारत में भी इसकी (हिंदी प्रदेश की) कम उपेक्षा नहीं हुई है, जबकि सर्वाधिक प्रधानमंत्री हिंदी प्रदेश के ही थे।

बीसवीं सदी में 'राष्ट्रवाद' प्रमुख था। अंतिम तीन दशकों में दृश्य बदलने लगा और 'बाजारवाद' प्रमुख हो गया। हिंदी प्रदेश पहले भी पिछड़ा था। वह आज भी पिछड़ा है। जातीय चेतना के विकास के बिना यह पिछड़ापन दूर नहीं होगा। डॉ. शर्मा के अनुसार प्रदेश में 'जातीय चेतना' का अभाव उसके राजनीतिक पिछड़ेपन का प्रमाण है। विदेशी पूंजी-प्रवाह का डॉ. शर्मा ने सदैव विरोध किया और उसके बाद हिंदी प्रदेश सहित समस्त भारत में समस्याएं और विकट हो गयी हैं। हिंदी प्रदेश भारत का हृदय प्रदेश है। यह किसी भी भाषाई क्षेत्र से बड़ा है। इसकी जनसंख्या देश की कुल आबादी के पैंतालीस प्रतिशत से अधिक है। जहां एक ओर इसे पिछड़ा बनाए रखने के सारे प्रयास किए गए,

वहां रामविलास शर्माजी ने बार-बार जातीय चेतना, जातीय स्मृति आदि की बात कर इसे स्वस्थ बनाने के प्रयत्न किए। हिंदी प्रदेश में जनपदीय अलगाव बहुत है और जाति-बिरादरी के बंधन सुदृढ़ हैं। अब भोजपुरी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि बोलियां अपने को स्वतंत्र भाषाएं कह रही हैं। पृथकतावादी समूह अस्सी के दशक से बढ़े हैं। छत्तीसगढ़ जब तक मध्य प्रदेश के अंतर्गत था, वहां की भाषा हिंदी थी। अब वहां सरकारी कामकाज की भाषा छत्तीसगढ़ी है। पहले हिंदी -उर्दू का विभेद था। अब हिंदी और उसकी बोलियों के बीच विभेद है। आठवीं अनुसूची में भोजपुरी, राजस्थानी शामिल हो, इसके लिए प्रयत्न जारी हैं। जातीय चेतना गौण और जनपदीय चेतना प्रमुख। सच्चाई यह है कि जनपदीय चेतना भी नहीं है। विदेशी पूंजी, जिसकी सदैव रामविलास शर्मा ने आलोचना की, सभी क्षेत्रों में फैलकर कोहराम मचा रही हैं। भारत अन्य देशों से भिन्न है। यह बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुजातीय और बहुसांस्कृतिक देश है। इसकी विशेषता 'विविधता में एकता' की रही है। इस एकता को खंडित करने के प्रयत्न अब अनेक स्तरों पर चल रहे हैं। इसी दौर में 80 के दशक से डॉ. शर्मा साहित्यिक आलोचना-कर्म छोड़कर समाज-चिंतन और इतिहास-लेखन की ओर मुड़े।

मार्क्सवादी विचारकों ने 'जाति और राष्ट्रीयता' को एक माना था। डॉ. शर्मा का मत उनसे भिन्न है। उनके अनुसार व्यापारिक पूंजी के दौर में 'जाति' बनती है, उसका गठन होता है और औद्योगिक पूंजी के दौर में राष्ट्रीयता का जन्म होता है। इस प्रकार 'जाति' का अस्तित्व 'राष्ट्रीयता' के पूर्व है। उन्होंने भारतीय समाज को कभी स्थिर, जड़ और अपरिवर्तनशील नहीं माना। अस्सी के दशक से और मुख्यत: 1991 से, जब भारत में नवउदारवादी अर्थव्यवस्था अपना ली, सांप्रदायिकता, अंध राष्ट्रवाद, जाति विद्वेष, हिंदुत्ववाद, आतंकवाद-सब तीव्र गति से आगे बढ़ा है। इसी दौर में डॉ. शर्मा ने ऋग्वेद की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी कि वहां शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम में कोई भेद नहीं है। उन्होंने इसे केवल अतीत नहीं माना, अपितु यह भी लिखा कि हमें इसी भविष्य की ओर जाना है। आज शारीरिक श्रम करने वाले किसानों और मजदूरों की क्या स्थिति है? जो सचमुच मानसिक श्रम करने वाले हैं, उनकी संख्या कितनी है। डॉ. शर्मा ने स्वयं शारीरिक एवं मानसिक श्रम दोनों किया। ' हिंदी जाति' संबंधी उनकी अवधारणा में कइयों ने अंध हिंदी राष्ट्रवाद देखा है, जो गलत है। 'हिंदी जाति' को हिंदी क्षेत्र के बुद्धिजीवियों ने भी कम स्वीकारा है। इस पर सवाल खड़े किए हैं। डॉ. शर्मा के लिए केवल 'हिंदी जाति' महत्वपूर्ण नहीं थी। भारतीय राष्ट्र का उनके लिए अधिक महत्व था। स्वतंत्र भारत की राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति नीति आदि को सामने रखकर भी 'हिंदी जाति' पर विचार करने की अधिक आवश्यकता है। प्रत्येक अवधारणा समय-समाज सापेक्ष होती है। 'हिंदी जाति' की अवधारणा में हिंदी-उर्दू दोनों भाषाएं शामिल हैं। पी.सी. जोशी ने जब 'अवधारणाओं का संकट' की बात की थी, उसके पहले डॉ. शर्मा हिंदी नवजागरण और 'हिंदी जाति' की अवधारणा दे चुके थे। उनकी चिंता में सदैव वर्तमान भारत था। जिस दिशा में इसे ले जाया जा रहा था, उस पर उनकी बड़ी पैनी नजर थी, जिसे हम उनके

अमरीकी साम्राज्यवाद विरोध और विदेशी पूंजी के विरोध में देखते हैं। सोवियत रूस के विघटन के पहले ही अस्सी के दशक के आरंभ से पुनरुत्थानवाद, संप्रदायवाद और आतंकवाद फैलने लगा था। 1982 में जब अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष से 5 बिलियन डॉलर कर्ज लिया गया, उसके पहले क्या यह सब मौजूद था, सशक्त था ?

भारतीयता पर विचार करने वाले लेखक और बुद्धिजीवी तथा हिंदी जाति की आलोचना करने वाले अपने समय के अमरीकी साम्राज्यवाद पर विचार नहीं करते हैं, विदेशी पूंजी से विदेशी संस्कृति को जोड़कर नहीं देखते हैं। वे साम्राज्यवाद, संप्रदायवाद, कट्टरतावाद और आतंकवाद पर कम विचार करते हैं। भारतीय संस्कृति का जिस श्रम संस्कृति से गहरा रिश्ता है, वह श्रम विरोधी पूंजी और लफंगी आवारा पूंजी से कैसे प्रभावित होता है, उस ओर भी उनका ध्यान नहीं जाता। डॉ. शर्मा के लिए 'हिंदी जाति' का महत्व इसलिए है कि इस जातीय एकता से भारतीय एकता भी बनी रहेगी। स्वाधीनता आंदोलन में यह भारतीय एकता थी, आज के भारत में जातीय एकता और भारतीय एकता की जरूरत है या नहीं ? बौद्धिक उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की काट है 'हिंदी जाति'। आज एक जाति को दूसरी से लड़ाने के प्रयत्न जारी हैं। राष्ट्रीय एकता बीते दिनों की बात है। 'राष्ट्र राज्य' के स्थान पर 'कॉरपोरेट राज्य' बन रहा है। सत्ता और व्यवस्था को न भारतीय भाषाओं की चिंता है न भारतीय जन की। जो दृश्य है, वह हमारे सामने है। ऐसी स्थिति में जरूरी क्या है ? हिंदी जाति की एकता से खतरा किसे है। हिंदी समाज को जातिवाद, संप्रदायवाद, हिंदूवाद में फंसकर नष्ट हो जाना चाहिए या जातीय चेतना को विकसित करना चाहिए ? रामविलास शर्मा हिंदी भाषी जनता के भविष्य और भारत के भविष्य को लेकर सदैव चिंतित, सक्रिय और सृजनरत रहे। उनका महत्व केवल अकादमिक क्षेत्र में ही सीमित नहीं हो सकता।

रामविलास शर्मा का हिंदी नवजागरण एवं सांस्कृतिक उत्साह

श्रीप्रकाश शुक्ल

रामविलास शर्मा का हिंदी नवजागरण हिंदी भाषा के नवजागरण के साथ ही हिंदी प्रदेश के नवजागरण से संबद्ध है और भारतीय संस्कृति की जिस सामासिकता की बात की जाती है, उसका नाभिक यही हिंदी प्रदेश है। उनकी इस भावभूमि को न समझने के कारण उनके हिंदी नवजागरण और सांस्कृतिक बोध पर बार-बार सवाल उठते रहे हैं। कई बार तर्क के साथ तो कई बार तर्कातीत, वह भी तब जब उन्होंने हिंदी नवजागरण को भाषा, जाति व संस्कृति के वृहत्तर संदर्भों में समझने की कोशिश की है और कहीं भी यह नहीं कहा है कि नवजागरण, खासकर हिंदी नवजागरण, की उनकी अवधारणा पूर्णतः मूर्त रूप ले चुकी है। इस अवधारणा के साथ हमेशा यह कहा है कि ये हिंदी प्रदेश के कुछ सपने हैं, हिंदी प्रदेश को लेकर ये उनकी कुछ आकांक्षाएं हैं जिन्हें देर सबेर भविष्य में मूर्त होना है, यदि हिंदी प्रदेश को बचाना है। माने यह भी कि नवजागरण की अवधारणा संकीर्ण नहीं, मुक्त है और निष्कर्षमूलक नहीं बल्कि प्रक्रियामूलक है।

इस हिंदी नवजागरण के कई पाठ किए गए हैं। इसमें सबसे विध्वंसक पाठ वीरभारत तलवार का है जिन्होंने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' (2002) में इस पदबंध को भ्रामक माना है और हिंदी नवजागरण की अवधारणा को ही खारिज किया है। उन्होंने लिखा है कि 'बंगाल नवजागरण' की तर्ज पर 'हिंदी नवजागरण' की बात ही गलत है क्योंकि हिंदी क्षेत्रों में मुख्यतः काशी व इलाहाबाद में धर्म व समाज सुधार के व्यापक आंदोलन हुए ही नहीं, जो 'बंगाल नवजागरण' की मुख्य विशेषता रही थी। उनके अनुसार हिंदी क्षेत्रों में गोरक्षा, नागरी व हिंदी के मुद्दे प्रमुख रहे जिस कारण यहां हिंदू-मुस्लिम

वैमनस्य बढ़ा। तलवार हिंदी नवजागरण को 1857 से जोड़कर देखने के भी विरोधी हैं क्योंकि उनके अनुसार हिंदी नवजागरण पूर्णतः बंगाल नवजागरण की प्रतिक्रिया में विकसित किया गया था। तलवार के अनुसार हिंदी नवजागरण यदि कुछ था, तो वह भाषा व लिपि पर ही केंद्रित था जिस कारण स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह व बाल विवाह जैसे सामाजिक मुद्दे इसके केंद्र में नहीं आ सके। अपनी इन्हीं विफलताओं के कारण यह महज आंदोलन बनकर रह गया।

असल में तलवारजी की मुख्य समस्या हिंदी नवजागरण में बंगाल नवजागरण पार्श्व छवि की तलाश भी रही है और इसलिए बंगाल नवजागरण की हर प्रमुख विशेषता को इस क्षेत्र में खोजते हैं। यह करीब-करीब वैसे ही है जैसे कि 'हिंदी भाषा' की उत्पत्ति को बार-बार 'संस्कृत' में खोजा जाता है और इस पर विश्वास करना कठिन होता है कि की अपनी स्वतंत्र पहचान भी हो सकती है। शर्माजी ने बार-बार भाषा के धरातल पर इसका विरोध भी किया है और खड़ी बोली की अपनी स्वायत्तता की शिनाख्त की है। यह प्रवृत्ति एक प्रकार की औपनिवेशिक मानसिकता लिए हुए होती है जिसके शिकार ऐसे बुद्धिजीवी हो जाया करते हैं, जो 'हिंदी नवजागरण' की अपनी स्वतंत्र जातीय विकास की स्थितियों को नजरअंदाज करते हैं। शर्मा ने कई जगह 'हिंदी नवजागरण' को हिंदी क्षेत्र की स्वतंत्रता व जागरूकता से जोड़कर इसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने की बात की है जिसमें कहीं कहीं 'अतिशयोक्ति' हो सकती है, किंतु उसकी दिशा को प्रश्नांकित करना इतना आसान नहीं है।

इस अवधारणा का विकास करने वाले दूसरे समर्थ आलोचक नामवर सिंह हैं जो 'हिंदी नवजागरण' को भाषा से जोड़ते हैं और उसमें भी गद्य के तर्क व विचार से। (आलोचना: अक्टूबर-1986)। नामवरजी हिंदी भाषा में 'गद्य' को महत्व देते हैं किंतु 1857 से 'हिंदी नवजागरण' के संबंध को बहुत महत्व नहीं देते। वे मानते हैं कि हिंदी नवजागरण का प्रखर साम्राज्यवादी विरोध 1857 की राज्य क्रांति में स्पष्ट नहीं है। साथ ही 'नवजागरण' में 'प्रखर बुद्धिवाद' भी नहीं है क्योंकि स्वयं भारतेंदु में वैष्णव भावुकता का प्राचुर्य है। नामवरजी की उपर्युक्त बातों से एक बात तो स्पष्ट है कि वे 'हिंदी नवजागरण' को स्वीकार तो करते ही हैं। हां उसके 'स्वरूप' व 'दिशा' को लेकर डॉ. शर्मा से कई जगह सहमत नहीं होते। यह एक स्वस्थ बहस है, जिसमें 'भाषा' के भीतर 'गद्य' की 'तार्किकता' को महत्व देकर नामवरजी ने जहां 'हिंदी नवजागरण' को 'बंगाल नवजागरण' के प्रभाव से मुक्त किया है वहीं 'हिंदी नवजागरण' की अपनी विशिष्टताओं को रेखांकित करने की पहल की है। जहां तलवारजी को भारतेंदु से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक में कहीं कुछ भी अग्रगामी और विरोधी स्वर के रूप में दिखाई नहीं देता और वे 'काशी धर्म सभा' (1877) से आगे कुछ भी नहीं देख पाते, वहीं नामवरजी ने भारतेंदु के, बलिया वाले भाषण 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? (1884) पर अपनी महत्वपूर्ण राय रखते हैं- इस व्याख्या से एक ऐसे क्रांतिदर्शी कवि का व्यक्तित्व सामने आता है, जिसकी सर्जनात्मक प्रतिभा की जड़ें ठेठ अपनी परंपरा में है और जिसके हृदय

के तार 'लोक हृदय' से भी जुड़े हैं।' (आलोचना-अक्टूबर-दिसंबर 2000)। निश्चय ही यह रामविलास शर्मा द्वारा सबसे पहले 'भारतेंदु युग' (1942) में लिखी बात का ही अनुमोदन है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि इस भाषण में भारतेंदु की क्रांतिकारी सामाजिकता और राजनैतिक विचारों का उद्घाटन हुआ है।

इस रूप में स्पष्ट है कि जिन लोगों ने 'हिंदी नवजागरण' की परिकल्पना को एक सांप्रदायिक रंग देने की कोशिश की है वे सभी 1992 के बाद के सक्रिय लोग हैं जो वर्तमान व्यवस्था से अतीत का मूल्यांकन करते हैं और यह भूल जाते हैं कि यदि 'नवजागरण' वास्तविक रूप में सफल हुआ होता, तो 90 के दशक में हिंदी प्रदेश में दंगे भी न हुए होते। इसलिए हमें यह समझना होगा कि आज के हिंदी प्रदेश की मुख्य समस्या यहां पर 'नवजागरण' की 'अवधारणात्मक विफलता' नहीं है बल्कि नवजागरण की न्यूनतम उपस्थिति है जिसे और भी गतिशील बनाने की जरूरत है। इसके लिए स्वयं डॉ. शर्मा ने हिंदी प्रदेश की जातीय चेतना व सांस्कृतिक प्रवाह को समझने की सिफारिश बार-बार की है। यहां हमें डॉ. शर्मा की स्वयं की अवधारणा पर भी विचार करना चाहिए।

'हिंदी नवजागरण' पर सबसे पहले डॉ. शर्मा ने 1977 में प्रकाशित 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' नामक पुस्तक में अपनी बात कही है। इसके बाद 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं' (1985) पुस्तक में, (जो भारतेंदु हरिश्चंद्र-1953) का परिवर्तित रूप है, जिसमें भारतेंदु को हिंदी की जातीय परंपरा के संस्थापक के रूप में याद किया था। 1985 की उपर्युक्त पुस्तक में भारतेंदु को संस्थापक न मानकर विस्तारक की भूमिका में देखा है। 'हिंदी नवजागरण' के प्रश्नों को उठाया है और यह स्पष्ट किया है कि 'हिंदी जाति' व उसकी 'संस्कृति' अंग्रेजी राज कायम होने के पहले भी यहां विद्यमान थी। 'नवजागरण' की प्रवृत्ति 19वीं सदी की देन न होकर पहले से मौजूद प्रवृत्ति रही है जिसे 'भारतीय नवजागरण' का एक रूप माना जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि 1977 के आसपास द्विवेदीयुगीन नवजागरण पर काम करते हुए डॉ. शर्मा को यह लगने लगा था कि 'हिंदी जाति' की संभावनाएं, भारतीयता की वृहत्तर उपस्थिति में मौजूद रही है, जिस कारण उन्होंने 'नवजागरण' के स्रोतों को आधुनिक काल से पहले भी खोजना आरंभ किया। उन्होंने कहीं भी 'हिंदी नवजागरण' के अंतर्विरोधों को छिपाया नहीं है अन्यथा 1943 में प्रकाशित 'भारतेंदु युग' में वे यह नहीं लिखते कि 'भारतेंदु युग के साहित्य में देश के एक बढ़ते असंतोष को प्रकट करना भर न था, सदियों से चले आते समाज की हड्डियों में बसे सामंती व संस्कारों से मोर्चा भी लेना था'। यहां साफ है कि भारतेंदु का 'हिंदी नवजागरण' तत्कालीन जनता में व्याप्त असंतोष को स्वर देने के साथ-साथ सामंती कुरीतियों के प्रति विद्रोह भावना का संचार भी करना था और यह सब कुछ देशभक्ति व राजभक्ति के अंतर्विरोधों के बीच करना था। 'हिंदी नवजागरण' की यह समझ ही डॉ. शर्मा को वह दृष्टि देती है, जहां से वे 'हिंदी जाति' की परंपरा को समझने के साथ 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (1999) नामक पुस्तक भी लिखते हैं ।

'हिंदी नवजागरण' के संदर्भ में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' नामक पुस्तक का पहला ही वाक्य है- 'हिंदी प्रदेश में नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है'। यहां ध्यान देने की बात है कि वे 'हिंदी नवजागरण' न लिखकर 'हिंदी प्रदेश में नवजागरण' की बात करते हैं और इसी सिलसिले में नवजागरण की बात करते हैं जो 'भाषा' के साथ 'सांस्कृतिक क्षेत्र' से भी जुड़ता है, जिसे हम भौगोलिक क्षेत्र भी कह सकते हैं। इस प्रदेश में रहने वाला हर व्यक्ति इस 'नवजागरण' का हिस्सा है या कि होना चाहिए। इस संदर्भ में इस 'नवजागरण' को 1857 से जोड़ते हुए इसकी विशेषताओं को 'हिंदी नवजागरण' के संदर्भ में रेखांकित करते हैं, जिसमें राष्ट्रीय एकता की चेतना, सामंत विरोधी रुख का होना, वर्ण व धर्म से मुक्त किसानों के आंदोलन का होना, इसका सांप्रदायिकता विरोधी होना जैसी विशेषताएं मौजूद हैं जो क्षेत्र में चलाया गया जातीय आंदोलन ही था।

इस रूप में 19वीं सदी के 'नवजागरण' को सीधे 1857 से जोड़कर बताया कि अंग्रेजों का भारत आगमन का यह तर्क कि यहां वे सामंतवाद को मिटाने आए थे गलत है क्योंकि वे स्वयं ही 'सामंतवाद' से जुड़कर जनता का शोषण करते थे। असल में इसी संदर्भ में 1857 का सामंत विरोधी चरित्र बहुत प्रासंगिक है।

आगे वे तर्क देते हैं कि 1857, प्रदेश के हिंदी नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं और तीसरी मंजिल महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग है, जिसमें स्वयं द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के माध्यम से अंग्रेजों की आर्थिक नीति का खुलासा किया, साम्राज्यवाद का विश्लेषण किया और सामाजिक रूढ़िवाद को चुनौती दी। साथ ही भाषा परिष्कार का भी कार्य किया जो उनके काम का एक हिस्सा मात्र है, मुख्य हिस्सा नहीं। अगली मंजिल वे निराला के साहित्य को मानते हैं जो अपनी प्रतिरोधी प्रखरता के दायरे में सीधे 1857 से जुड़ते हैं। जाहिर बात है इस सब के होते, 'हिंदी नवजागरण' की अपनी विशेषताएं ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।

अपने इसी पक्ष को अपनी बाद की पुस्तक 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं' में और भी विस्तार देते हैं खासकर इसी शीर्षक से लिखे गए लेख में, जिसका पहला ही वाक्य है- 'भारतेंदु युग उत्तर भारत में जन जागरण का पहला या प्रारंभिक दौर नहीं है। वह जनजागरण की पुरानी परंपरा का एक खास दौर है'। जाहिर सी बात है कि 'जन जागरण' की यह पुरानी परंपरा क्या है, जिससे 'हिंदी' के 'इस नवजागरण' का संबंध बनता है ? यह है 12वीं सदी के 'जनजागरण' का स्वतःस्फूर्त विकास, जो अंग्रेजों की प्रतिक्रिया स्वरूप विकास की अवधारणा को खारिज करता है। माने यह कि अंग्रेजों की उपस्थिति ने नवजागरण पैदा नहीं किया, बल्कि पुराने जनजागरण को एक 'जातीय' स्वरूप दिया जिससे साम्राज्यवादी विरोध मुखर हो गया। ध्यान दें 'भक्ति' का 'लोकजागरण' भी स्वतः स्फूर्त विकास है और 19वीं सदी का नवजागरण भी। हां, अंतर यह है कि 'लोक जागरण' में सामंत विरोधी स्वर प्रमुख था और इस 'नवजागरण' में साम्राज्यवाद विरोधी स्वर लेकिन मामला कुल मिलाकर 'पुरानी

परंपरा' का अभिनव विस्तार वाला ही है। यहीं से डॉ. शर्मा का जातीय बोध व सांस्कृतिक चिंतन स्पष्ट होता है।

इसलिए हिंदी क्षेत्र का नवजागरण ही वह मुख्य प्रश्न है जिसको समझने के लिए वे 12वीं सदी में 'व्यापारिक पूंजीवाद' के बहाने जातियों के गठन की बात करते हैं और इसके पीछे के स्रोतों को तलाशते हुए ऋग्वेद में जाकर 'भारतीय संस्कृति' के वृहत्तर मूल्यों की पहचान करते हैं जिसका मुख्य क्षेत्र 'हिंदी प्रदेश' रहा है। उन्होंने साफ लिखा है कि 'जिस सामाजिक इकाई में नवजागरण के कार्य समाप्त होते हैं, उसे हम जाति कहते हैं अर्थात 'हिंदी' अपनी जातीय भाषा है क्योंकि यह भाषा के साथ भूगोल भी है जिसमें तमाम वर्ण, वर्ग, धर्म के लोग रहते हैं।

उपयुर्क्त बातों से स्पष्ट है कि आधुनिक काल में 'हिंदी नवजागरण' पर बात करते डॉ. शर्मा 'हिंदी जाति' का प्रश्न भी उठाते हैं और इसके लिए जातियों के गठन का इतिहास भी समझाते हैं। उनकी यह 'जातीय चेतना' असल में उनकी साम्राज्यवादी विरोध चेतना का हिस्सा है जो प्रतिरोध को सही परिप्रेक्ष्य देती है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि 'हिंदी नवजागरण' की बात करने वाले बहुत से बुद्धिजीवी या तो जहां हीनता बोध के शिकार हैं या फिर 'भारतीयता' के उच्चता बोध के प्रति आवेष्टित हैं, वही डॉ. शर्मा इस विषय पर जीवन भर एक 'वांछित मूल्य' धरातल पर बात करते रहे। उन्होंने 'हिंदी जाति' को 'हिंदी स्वाभिमान' से जोड़ा और इस बात पर बराबर जोर दिया कि भारत की बहुसंख्यक हिंदी जाति को अपने सांस्कृतिक इतिहास की पहचान करनी चाहिए और ध्यान दें कि इस 'पहचान' का मतलब है 'हिंदी क्षेत्र की संस्कृति की पहचान' और संस्कृति की पहचान का मतलब है हिंदी समाज में समय समय पर उठने वाली नवीन तरंग भंगिमाओं पहचान। डॉ. शर्मा की जाति के बहाने संस्कृति की इस खोज के मुख्य मायने तो अंग्रेजी सत्ता को जवाब देना था कि अंग्रेजों के आगमन के पहले ही भारत में पूंजीवाद (व्यापारिक) का विकास हो चुका था। यह भी बताना था कि सामाजिक क्रांति के लक्षण यहां 19वीं सदी से पहले भी मिलते हैं और 1857 से जोड़ने का मतलब भी यही था कि यहां हिंदू, मुस्लिम साथ मिलकर साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं और जिस सांप्रदायिकता की बात इस क्षेत्र में की जाती है, वह अंग्रेजों की देन है न कि हिंदी जाति के प्रस्तुतकर्ताओं की। 'हिंदी जाति' के सवाल को उठाते हुए डॉ. शर्मा ने अपनी किंचित अतिरेकी स्थापनाओं के बावजूद बड़ी बेबाकी से साम्राज्यवाद का विरोध किया और मध्यकाल के 'लोक जागरण' के क्रम में हिंदी नवजागरण को 1857 से जोड़कर उसके अंतर्निहित राजनैतिक आशयों को स्पष्ट करने की कोशिश की।

अपनी 'हिंदी जाति' की स्थापनाओं के क्रम में डॉ. शर्मा जातीय भाषा और साहित्य को आधुनिक मानते हैं और चूंकि अंग्रेजी राज कायम होने के बहुत पहले यहां जाति निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। इसलिए हिंदी प्रदेश में आधुनिकता अंग्रेजों के बहुत पहले से मौजूद थी। अपनी पुस्तक 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं' (1985) में डॉ. शर्मा ने 'जाति' को एक 'सामाजिक इकाई' माना है जिसमें

'नवजागरण' के कार्य संपन्न होते हैं और यदि यह सामाजिक इकाई 12वीं सदी में मौजूद है तो 'हिंदी नवजागरण' को वहां से माना जा सकता है जिसकी सटीक आभिव्यक्ति 1857 में होती है। इसके लिए वे तर्क भी देते हैं कि 'जनजागरण' की शुरुआत इस सामाजिक इकाई में तब से होती है जबसे यहां बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है जहां से जातियों का गठन शुरू होता है। यह सामंत विरोधी जागरण होता है जिसकी शुरुआत 12वीं सदी में हो जाती है जब 'विनिमय' के केंद्र स्थापित होने लगते हैं और आगरा तथा दिल्ली में बड़ी मंडियों का निर्माण होता है। इस रूप में जातियों का गठन सामंती ढांचे के भीतर होता है और बाजार व्यापारी तथा भाषाई प्रसार, इस जातीय निर्माण के उपकरण कहे जाते हैं जिसकी उपस्थिति 12वीं सदी से मिलने लगती है। इस रूप में डॉ. शर्मा 'औद्योगिक पूंजीवाद' में जातियों के निर्माण की अवधारणा को खारिज करते हैं। वे मार्क्स की इस अवधारणा से सहमत तो हैं कि 'जातियों का निर्माण पूंजीवाद' में होता है, लेकिन इस पूंजीवाद को वे अंग्रेजों से पहले ले जाकर व्यापारिक पूंजीवाद के सहारे हिंदी में 12वीं सदी में मानते हैं। उन्होंने लिखा भी है कि 'यदि व्यापार के विकास के साथ जाति के निर्माण और उसकी भाषा के प्रसार की ओर ध्यान दें तो आधुनिक काल की शुरुआत 19वीं सदी के मध्य से और काफी पहले निश्चित करनी होगी' (पृ. 22- भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं) और यह समय 12वीं सदी है जहां व्यापारिक पूंजीवाद की उपस्थिति है, जिसमें मुख्य अंतर्विरोध जमींदारों व किसानों-कारीगरों का है, जबकि बाद के औद्योगिक पूंजीवाद के मुख्य अंतर्विरोध उद्योगपतियों व सर्वहारा के बीच होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'व्यापारिक पूंजीवाद' में जाति का निर्माण होता है और औद्योगिक पूंजीवाद में यह जाति कायम रहती है। यह वही 'व्यापारिक पूंजीवाद' है जो सौदागरों के माध्यम से खड़ी बोली को हिंदी प्रदेश से बाहर तक ले गया। यह 'व्यापारिक पूंजीवाद' सामंती व्यवस्था के गर्भ से पैदा होता है, जब सामंती व्यापार (सीमित) टूटकर 'व्यापारिक पूंजीवाद' (12वीं सदी) बदल रहा होता है। इसका बहुत ही रोचक विश्लेषण करते हुए और हिंदी जाति के गठन में सामंती राजसत्ता की भूमिका तलाशते वे लिखते हैं कि- 'राजसत्ता के जिस स्वरूप को निरंकुश कहा जाता है वह 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी का चलाया हुआ था। उसके समय में राज्यसत्ता की एक विशेषता सामंतों पर नियंत्रण की रही। दूसरी विशेषता नौकरशाही का प्रसार। तीसरी स्थायी सेना का गठन। चौथी उत्पादकों से सीधा संबंध जिस कारण से शासन तंत्र में वित्त की प्रधानता हुई। इस रूप में अलाउद्दीन की वित्तीय नीति विखरे हुए सामंतों के हित में न थी। वह व्यापारिक पूंजीवाद के हित में थी जो अर्थतंत्र में वित्त की प्रधानता का कारण था (भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद-खंड-2 पृ. 276) यहां यह भी ध्यान रहे कि डॉ. शर्मा इस पर भी बल देते हैं कि तुर्कों के आक्रमण के समय भारत में व्यापार की अनेक मंडिया थीं जिसे इन लोगों ने लूटा। यह 12वीं सदी का भारत है। इस प्रकार व्यापारिक पूंजीवाद में जनपदों का अलगाव दूर हुआ और लघुजातियों (जैसा कि मैनेजर पांडेय कहते हैं) के साथ महाजातियों का गठन भी आरंभ हुआ।

यहां डॉ. शर्मा मध्यकाल के सामंत विरोधी लोक जागरण में किसानों व कारीगरों की भूमिका की तलाश करते हैं, जिनके भीतर व्यापारिक पूंजीवाद के कारण असंतोष पनपता है। इसलिए भक्ति साहित्य की रचना में व्यापारिक वर्ग की भूमिका नगण्य है। मुख्य भूमिका किसानों व कारीगरों की है। व्यापारी अभी भी 'धर्म' व 'पाप' की आड़ में किसानों के क्रोध से बच जाता है। यह भक्ति-साहित्य जनभाषा में जनता की आकांक्षाओं का जातीय साहित्य है, जिसे उत्तर भारत की राजसत्ता ने 'फारसी' को राजभाषा बनाकर अवरुद्ध करने की कोशिश की। यही नीति अंग्रेजों ने अपनायी और जब अंग्रेजों की इस सांप्रदायिक नीति का विरोध हुआ तो उसने 'हिंदी प्रदेश' को ही 'सांप्रदायिकता' के रंग में रंग दिया। इस कारण भक्ति आंदोलन की जनवादिता व जातीयता, यहां तक आते-आते कमजोर पड़ गई जिसके विरुद्ध 1857 ने विद्रोह किया।

इसी के साथ डॉ. शर्मा ने, यह भी कहा है कि भारत बहुजातीय देश है। यहां राष्ट्रीय एकता का अर्थ जातीय विशेषताओं का लोप नहीं है। यहां एक जाति के साथ दूसरी का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इस रूप में 'हिंदी जाति' की संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक हिस्सा है। अपने एक लेख (1977) 'हिंदी जाति के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा' (जो परंपरा का मूल्यांकन (1981) में संकलित है) में वे लिखते हैं कि 'हिंदी जाति की संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंग है। जब वेद मंत्र रचे गये तब उस युग के आसपास सिंधु घाटी की महान सभ्यता विकसित हुई थी। संस्कृत ग्रंथों के एक छोर पर तक्षशिला में पाणिनि हैं तो दूसरे छोर पर केरल में शंकराचार्य हैं। आधुनिक भाषाओं में लगभग चौथी शताब्दी से अब तक तमिल साहित्य की अटूट गौरवशाली परंपरा है। जातीय चेतना का प्रसार महाराष्ट्र के संतों के द्वारा हुआ और समर्थ गुरु रामदास ने समस्त मराठी भाषियों को एक झंडे के नीचे संगठित होने को कहा। महाराष्ट्र में शिवाजी ने मराठी भाषी जनता की जातीय राजसत्ता स्थापित की। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद और रवींद्रनाथ ठाकुर के बंगाल ने भारतीय नवजागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही'। (पृ. 28). इसके बाद हिंदी प्रदेश का मूल्यांकन करते कहते हैं कि अन्य प्रदेशों की तुलना में हिंदी प्रदेश में जातीय चेतना का अभाव है क्योंकि यहां जाति बिरादरी के बंधन बहुत हैं और जनपदों में काफी अलगाव है। हिंदी का भेद भी इसका एक प्रमुख कारण है और यहां का शिक्षित वर्ग अपनी भाषा के प्रति उदासीन है। निष्कर्ष स्वरूप वे कहते हैं कि जब तक राजनीतिक आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रदेश की जनता अपना रूपांतरण नहीं करती, तब तक वह स्वयं तो अपाहिज रहेगी ही सारे देश को आगे बढ़ने से रोकेगी। हिंदी जनता के सर्वांगीण विकास में उसकी सांस्कृतिक परंपरा एक महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति बन सकती है' (पृ. 29-वही)। स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा हिंदी प्रदेश की जनता को उसकी सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराना चाहते हैं और इसी की फलप्राप्ति में प्रकाशित उनकी पुस्तक है- 'भारतीय संस्कृति व हिंदी प्रदेश'। इस रूप में डॉ. शर्मा के नवजागरण व जातीय चिंतन में सांस्कृतिक महत्व की चीजों का होना आवश्यक है। वे हिंदी प्रदेश के इस अधूरे कार्य को, जिसमें साम्राज्यवादी

व सामंतवादी विरोध शिथिल है आगे बढ़ाना चाहते थे और उनका हिंदी 'नवजागरण' यहीं पर हमारी मदद करता है।

अब तक यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि डॉ. शर्मा ने सबसे पहले 'हिंदी नवजागरण' के जातीय स्वरूप को समझा। तत्पश्चात् इस 'जातीय स्वरूप' के सांस्कृतिक इतिहास को समझने की कोशिश की। उनका यह सांस्कृतिक उत्साह, कई बार विरोधियों की तीखी आलोचना का कारण भी बना, तो कई बार इसकी गलत व्याख्याएं भी हुईं। इस उत्साह में कुछ महत्वपूर्ण छूट भी गया जिसकी चिंता डॉ. शर्मा ने न तो की और न ही इसमें कोई रुचि दिखाई।

बहरहाल 'हिंदी नवजागरण' ही वह 'टार्च' है जिसके सहारे वे 'भारतीय संस्कृति' को हिंदी प्रदेश में खोजते हैं। इसमें हिंदी की जातीयता के साथ 'स्वचेतना' की गूंज-अनुगूंज भी मौजूद हैं। यह 'हिंदी प्रदेश' उनके यहां एक 'पाठ' है, जिसका व्यवस्थित अध्ययन करते हैं। इसमें साहित्य के साथ यहां के इतिहास व संस्कृति को भी समझते हैं। साहित्य मुख्य है, जिसमें कहीं-कहीं कुछ 'अतिरिक्त' निष्कर्ष भी निकाल लेते हैं, जिससे उसी साहित्य के समानांतर 'कुछ महत्वपूर्ण' उपेक्षित हो जाता है। जाहिर बात है हाथ में 'हिंदी नवजागरण' की टार्च है तो सुविधानुसार रोशनी भी मारते हैं और उन जगहों पर कुछ ज्यादा ही, जो उनके अपने पक्ष में होती है। वे अपने ढंग से चुनाव करते हैं, जो कि साहित्य का दायित्व भी होता है, लेकिन यही चुनाव कहीं-कहीं उनके समर्थकों को भी असहज बना डालता है।

अपने एक निबंध 'संस्कृति व जातीयता' (1955) में वे लिखते हैं- 'आज के भारत की एक अमिट सचाई है- विशाल हिंदी जाति। उससे आंख चुराकर कोई समस्या हल नहीं हो सकती। अब समय आ गया है कि अपनी जातीय एकता कायम करने के लिए हिंदी भाषी जन आगे आएं' (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, 1984 में संकलित) इसी निबंध में आगे वे लिखते हैं- 'जातीय गठन को रोकने का अर्थ है- भाषा और संस्कृति के विकास की-समृद्धि को रोकना'।

इस रूप में जातीय स्वरूप व सांस्कृतिक बोध यहां आकर जुड़ जाते हैं। यहां यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है कि जाति व भाषा के गठन के साथ 19वीं सदी में 'सांस्कृतिक नवजागरण' की बात हिंदी प्रदेश में बराबर उठती रही है और देशभक्ति राजभक्ति में संतुलन स्थापित करने के बावजूद भारतेंदु को इसका श्रेय मिलना ही चाहिए। 19वीं सदी में जब लोगों को लगने लगा कि राजनीतिक स्वाधीनता पाना कठिन है तब लोगों ने 'सांस्कृतिक स्वाधीनता' का स्वर बुलंद किया और फिर सांस्कृतिक मोर्चे पर स्वत्व की रक्षा के लिए एक जीवंत एवं प्रेरणादायक 'आत्मछवि' को खड़ा करने की कोशिश थी। डॉ. शर्मा ने भी इसी जीवंत एवं प्रेरणादायक 'आत्मछवि' को रेखांकित किया और सांस्कृतिक मोर्चे पर हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक उपलब्धि को रेखांकित किया। यहां वे सबसे पहले भारतेंदु की एक स्वस्थ छवि बनाते हैं, फिर इसी के सहारे ऋग्वेद की यात्रा करते हैं। इस प्रकार वे हिंदी प्रदेश की 'आत्मछवि' खड़ा करने में कई बार 'अतिरंजनाओं' का शिकार हो

जाते हैं लेकिन हिंदी प्रदेश में मौजूद विपुल सांस्कृतिक उपलब्धियों की अनदेखी नहीं करते और 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' में विस्तार से इसकी चर्चा करते हैं।

अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व नामवर सिंह के साथ बातचीत में (संदर्भ- 'तदभव' 8, वर्ष 2002) डॉ. शर्मा ने कहा था कि इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय संस्कृति के 2000 वर्षों के इतिहास पर काम किया है। इसमें उन्होंने बार-बार कहा है कि आर्य कोई अखंड इकाई नहीं हैं जिसे विजेता या विजित के अर्थ में ही समझा जाए। 'नस्ल' के आधार पर कभी भी भारतीय समाज का गठन नहीं हुआ है। वे बताते हैं- 'यहां जो ऐतिहासिक भाषा विज्ञान है, वह द्रविड़ परिवार पर काम करता है तो नस्ल के आधार पर। इंडो यूरोपीयन परिवार पर काम करता है तो नस्ल के आधार पर। वे समझते हैं कि एक भाषा परिवार शून्य से विकसित होता है और दूसरे भाषा परिवारों से उसका संपर्क नहीं होता। इसलिए द्रविड़ तत्व आर्य में हो, यह उनके लिए कल्पनातीत है। आर्य भाषाओं में इसलिए हैं कि आर्यों ने द्रविड़ों को जीता लेकिन ग्रीक भाषा में द्रविड़ के तत्व हो सकते हैं, फारसी में द्रविड़ के तत्व हो सकते हैं, यह उनके लिए कल्पनातीत है'।

डॉ. शर्मा ने यहां इस बात का बार-बार खंडन किया है कि किसी आदि भाषा से अन्य भाषाओं का विकास होता है। आदि भाषा की कल्पना, हिंदू राष्ट्रवादियों में है और पूंजीवादी तथा कथित वैज्ञानिक चिंतकों में। हम गण भाषाओं की बात करते हैं' यहां साफ है कि 'हिंदू राष्ट्रवादियों' से डॉ. शर्मा अपने को कैसे अलग करते हैं। फिर भी यदि डॉ. शर्मा को 'हिंदुत्व' के एजेंडे से ही समझने की कोशिश है तो महत्वपूर्ण आलोचक अजय तिवारी के इस वक्तव्य की तरफ भी ध्यान जाना चाहिए जिसमें वे लिखते हैं- 'नये उपनिवेशीकरण के वर्तमान दौर में अतीत के साम्राज्यवादी विरोध, राष्ट्रीय एवं जनवादी मूल्यों को पहचानने के बदले हिंदुत्व के एजेंडे के अनुरूप तथ्यों को काट छांटकर पाठ निर्मित करने की रणनीति वास्तव में भूमंडलीकरण-उदारीकरण का समर्थन है। यह प्रगतिशील संस्कृति के विरूद्ध कुलीनतावादी संस्कृति का अनुमोदन है'। (हिंदू जागरण का साहित्यिक एजेंडा: 'आलोचना' 5, अंक 2001)।

रामविलास शर्मा ने दो खण्डों में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' में इसका गहन विश्लेषण किया है। वे इस बात को बार-बार कहते हैं कि जिन कवियों की जातीय चेतना प्रखर होती है, वे अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करते हैं। इसी गर्व बोध से स्वयं डॉ. शर्मा हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत की बात करते हैं। वे भारत की प्रचीन संस्कृति का अध्ययन वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों के लिए अत्यंत आवश्यक मानते हैं। उनके लिए प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की उपेक्षा और वर्तमान सांस्कृतिक समस्याओं के अध्ययन की उपेक्षा वास्तव में लोक मानस की उपेक्षा है। वे इस बात को बताते हैं कि संन्यास भारतीय संस्कृति की मूल धारा नहीं है और स्वयं ऋग्वेद किसी भारतीय विकासमान भाषिक परंपरा की देन है। भारतीय संस्कृति का इतिहास लोक विरोधी रूढ़ियों और प्रगतिशील विचारधाराओं के सतत् संघर्ष का इतिहास है। इस संस्कृति के लिए वे पाटलीपुत्र, काशी, मथुरा व उज्जयिनी को महत्वपूर्ण

व्यापारिक केंद्र के रूप में देखते हैं और इन नगरों के द्वारा हिंदी प्रदेश के जनपद प्रचीन काल से परस्पर संबद्ध होते रहा है। इसलिए भारतीय संस्कृति के विकास में हिंदी प्रदेश की भूमिका महत्वपूर्ण है। 'हिंदी प्रदेश' की इस सांस्कृतिक उपस्थिति पर लिखते हैं- 'दक्षिण में तमिलनाडु, उत्तर में कश्मीर, पूर्व में असम, पश्चिम में गुजरात दूर-दूर के इन प्रदेशों को जोड़ने वाला हिंदी प्रदेश है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र की रचना यहीं हुई। यहीं कालिदास, भवभूति ने अपने ग्रंथ रचे। मौर्य व गुप्त साम्राज्यों की आधार भूमि यही प्रदेश हैं। उत्तर काल में दिल्ली व आगरा इस प्रदेश के बहुत बड़े नगर बने। ये व्यापार के बहुत बड़े केंद्र थे और सांस्कृतिक केंद्र भी थे। तुर्क वंशी राजाओं ने यही रहकर शताब्दियों तक एक बहुत बड़े राज्य का संचालन किया। विद्यापति, कबीर, सूरदास, तुलसीदास जैसे कवि इसी क्षेत्र में हुए। इसी प्रदेश में प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन का जन्म हुआ।' (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश- पहला भाग- पृ. 10)।

इस लंबे उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति इसी 'हिंदी प्रदेश' में होती है। इसलिए आधुनिक काल में यदि यह पिछड़ गया है, तो इसके अतीत की याद दिलाना आवश्यक है। यहां वे आधुनिक काल में निराला व भारतेंदु के गहरे प्रभाव में हैं और सच तो यह भी है कि इन्हीं की परंपरा की खोज में वे 'ऋग्वेद' तक जानते हैं। इस पुस्तक में डॉ. शर्मा भारतीय संस्कृति के रूढ़ विचारों से टकराते हैं और बताते हैं कि ऋग्वेद में शारीरिक श्रम व मानसिक श्रम के बीच अभी फासला नहीं हुआ था। इस समय के ऋषि शारीरिक श्रम के साथ काव्य भी रचते हैं। स्वयं यज्ञ करते हैं और स्वयं देवताओं की स्तुति करते हैं। वे एक प्रसंग में लिखते हैं- 'समाज में शोषण को मिटाने का एक मात्र तरीका है कि मनुष्य सब तरह का श्रम करे।' इस प्रकार ऋग्वेद को यथार्थपरक, लोकोन्मुखी, वैविध्यपूर्ण मानते हुए इसके आधारभूत तत्वों की परंपरा उपनिषद, रामायण, महाभारत से होती हुई रवींद्रनाथ टैगोर, सुब्रह्मण्यम भारती व निराला तक चली आती है। इस 'परंपरा' में स्वीकार-अस्वीकार दोनों हैं। स्वयं गौतम बुद्ध के विचारों में वे उपनिषदों का प्रभाव देखते हैं। उन्होंने ऋग्वेद की इस अवधारणा का कि 'सब कुछ अव्यक्त से व्यक्त की ओर बढ़ता है' मुख्य रूप से समझा है और इसी आधार पर महाभारत व गीता का मूल्यांकन करते चरक, कौटिल्य और कालिदास की चर्चा की है। वे 'संस्कृति' के संदर्भ में 'यथार्थवादी' दर्शन को बहुत महत्व देते हैं जिसमें इस भौतिक जगत को सत्य माना गया है। इसमें सांख्य योग का महत्व सबसे अधिक है। ऋग्वेद में वे सांख्य दर्शन की मूल बातें लक्षित करते हैं और इसे भौतिकवादी चिंतन परंपरा के उत्सव के रूप में देखते हैं। यह भौतिकवादी चिंतन परंपरा हिंदी प्रदेश से गहरे रूप में संबंद्ध है, डॉ. शर्मा का जोर इस बात पर है और दूसरे खंड में इसे विस्तार से बताते भी हैं। यहां वे 'सबाल्टर्न इतिहासकारों' की 'राष्ट्र' व 'जाति' संबंधी धारणा को भी खंडित करते हैं क्योंकि वे कह चुके हैं कि भारत एक राष्ट्र है और हिंदी एक 'जाति', जिसका विकास अंग्रेजों के बहुत पहले से हुआ है। इसका खंडन इसलिए भी जरूरी था

क्योंकि 'जाति' को न मानने वाले कहीं न कहीं साम्राज्यवाद के पोषक की भूमिका में हैं। इस रूप में डॉ. शर्मा 'हिंदी नवजागरण' के लिए भारत की एक नई खोज करते हैं और इस खोज में अपनी 'सांस्कृतिक पसंद' की चीजें ज्यादा उभरकर आई हैं।

हिंदी नवजागरण हिंदी जाति व भारतीय संस्कृति के उपर्युक्त विश्लेषण की प्रक्रिया में कई बार डॉ. शर्मा का स्थापनाओं में अतिशय उत्साह के दर्शन होते हैं जिस कारण उनकी आलोचना भी हुई है। कई जगह यह आलोचना भी 'अतिरिक्त कथन' का शिकार हो गई है और कुछ लोगों ने तो ऐसी नाप जोख की है कि उनकी प्रतिभा के इस विस्फोट को देखकर आश्चर्य होता है। काश ये लोग डॉ. शर्मा से उलझने की बजाए स्वयं कुछ उन्हीं की तरह बड़ी अवधारणा देते चाहे वह कितनी ही आलोचना का शिकार क्यों न होती।

इन सबके बावजूद कुछ चीजें तो हैं जिन पर डॉ. शर्मा अपनी जिद के कारण ध्यान नहीं देते। जैसे कि बौद्ध व जैन दर्शन पर उन्होंने पूरे मनोवेग से नहीं लिखा है जबकि इन दर्शनों की व्यापक लोक स्वीकृति है। बुद्ध पर लिखा किंतु उन पर औपनिषदिक दर्शन की परंपरा में लिखा। योग यहां महत्वपूर्ण भूमिका में है। उन्होंने कालिदास और कौटिल्य पर लिखा लेकिन 'अश्वघोष' उनकी सूची में नहीं आए। ऋग्वेद पर बराबर 'दार्शनिक यथार्थवाद' के सहारे 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की तरह लिखा जो सांख्य योग का प्रभाव है। वे यहां पर सातवलेकर की वैदिक व्याख्या का सहारा लेते हैं जबकि सातवलेकर स्वयं दयानंद से प्रभावित हैं और वेदों की व्याख्या वे राष्ट्रीय दृष्टि से करते हैं।

इसी के साथ 'हिंदी नवजागरण' की अतिशय 'जातीय चेतना' भी कहीं न कहीं आलोचना का मार्ग प्रशस्त करती है। किसी भी नवजागरण की तरह 'हिंदी नवजागरण' भी अपनी मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तनवादी व बुद्धिवादी रहा है लेकिन उसकी चिंता में उसे केवल जातीय संदर्भों में व्याख्यायित करना एक अतिरिक्त मोह ही होगा। 1857 से जोड़कर देखने पर 'हिंदी नवजागरण' के भीतर से जिस 'राष्ट्रवाद' का मोह उभरता है, वह ही सबाल्टर्न इतिहासकारों के यहां गुस्से का कारण रहा है और यहीं से हिंदुत्ववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा भी मिलता है जबकि 'हिंदी नवजागरण' अपनी मूल चेतना में बहुत व्यापक है। यह संस्कृति के साथ देशज सांस्कृतिक पहचानों का भी जागरण है जिसको गहराई से समझने की जरूरत है।

लेकिन इन सबके बावजूद रामविलास शर्मा का नवजागरण के संदर्भ में योगदान बहुत बड़ा है। उनका 'हिंदी नवजागरण' 1857 से जुड़कर 'जनचेतना' से जुड़ता है और इसी 'जनचेतना' की खोज में वे इतिहास की यात्रा में निकलते हैं। इस रूप में उनका संपूर्ण आलोचनात्मक विवेक हिंदी की अपनी जातीय चेतना से निर्मित होता है जिसमें भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद व निराला हैं। वे जन संघर्ष के पक्षधर साहित्य की वकालत करते हैं और जब यह 'जनसंघर्ष' 'प्रगतिवाद' के बाद कहीं दिखाई नहीं देता, तब वे पीछे की ओर मुड़ते हैं। 'नयी कविता' का 'आत्म संघर्ष' उन्हें पसंद नहीं था। उनकी

'आलोचना' की विपुल सामाजिकता के कारण इनके लिए बहुत अवकाश नहीं था। 1857 से 'हिंदी नवजागरण' को जोड़ते हुए भी वे इसके अतिरेकी 'राष्ट्रवाद' (सावरकर जैसा) से बचते हैं और इसके आलोचकों के अतिरेक से भी जो 1857 को विफल मानते हैं। डॉ. शर्मा, 1857 को एक 'जनक्रांति' मानते हुए भी इसकी अंतर्निहित राष्ट्रवादी (प्रभुत्ववादी) अवधारणा से बचते हैं। वे जब 'भारतीय संस्कृति' के संदर्भ से हिंदी प्रदेश का मूल्यांकन करते हैं तब 'हिंदी प्रदेश' में साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ एक विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

असल में डॉ. शर्मा का 'हिंदी नवजागरण' सामंत व साम्राज्य विरोधी है। साथ में यह रूढ़िवाद व रीतिवाद का विरोधी भी है। इसका मतलब उनके यहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ तर्क संगत दृष्टिकोण का विकास भी है जिस पर वे जीवन भर खरे उतरे। जो लोग उनके 'हिंदी नवजागरण' को 'छायावाद' से आगे बढ़ता हुआ नहीं देख पाते, वे ये नहीं समझते कि जन संघर्ष में हिंदी नवजागरण की बात करने वाला व्यक्ति आत्म संघर्ष को कितना स्वीकार कर सकेगा। यूं भी आगे की बात करने वाले बहुत थे किंतु अपनी जातीय विरासत पर बात करने वाले तब भी कम थे और आज भी कम हैं। इसके लिए जो रचनात्मक धैर्य और विपुल अध्यवसाय चाहिए, वह और कहीं नहीं था। इस क्रम में उनकी वैदिक यात्रा असल में 'हिंदी नवजागरण' और 'हिंदी जाति' के मर्मस्थलों की खोज ही रही है जिस कारण से 'हिंदी प्रदेश' की विराट सांस्कृतिक व सामाजिक उपस्थिति को हम आसानी से देख सकते हैं। वे 'हिंदी नवजागरण' के महज व्याख्याता नहीं थे। वे उसके स्रष्टा थे और उसकी सृष्टि भी।

इस संदर्भ में लेनिन का 'कालमार्क्स' पर लिखा हुआ निबंध याद आता है उसमें लेनिन ने लिखा है कि जर्मनी का क्लासिकल दर्शन, इंग्लैंड का क्लासिकल अर्थशास्त्र और फ्रांस का क्रांतिकारी सिद्धांत ने मार्क्स की प्रतिभा को जारी रखा और पूरा किया। यही बात डॉ. शर्मा के बारे में भी कही जा सकती है कि उन्होंने ऋग्वेद की 'श्रम संस्कृति', महाभारत व रामायण की लोक संस्कृति, कौटिल्य का दार्शनिक यथार्थवाद, भक्तिकाल की विद्रोही चेतना और भारतेंदु युग की जिंदादिली को अपनी प्रतिभा के बूते आधुनिक काल में जारी रखा ओर भारतेंदु, द्विवेदी, निराला व प्रेमचंद की रचनाओं के माध्यम से 'हिंदी नवजागरण' के वैचारिक स्वप्नों को पूरा किया।

इस रूप में डॉ. शर्मा ने सबसे पहले 'हिंदी नवजागरण' का जातीय स्वरूप समझा और फिर इस जातीय स्वरूप के 'सांस्कृतिक इतिहास' को समझने की कोशिश की। वे बहुश्रुत थे, बहुविद थे और साहित्य से इतर उनकी पकड़ गहरी थी। वे जिस मार्क्स, शैली बायरन और कालिदास की बात करते हैं उन सभी ने अपने देश की जातीय एकता के स्वप्न देखे थे। कोई जरूरी नहीं कि यह एकता उनके सपनों के अनुरूप घटित हुई ही हो। अपनी अनेक रचनाओं में मार्क्स ने जर्मन एकता की बात की है। जर्मनी एकता बद्ध भी हुआ लेकिन मार्क्स के सपनों के मुताबिक नहीं। शेली ने इटली की स्वाधीनता का स्वप्न देखा था। बायरन ने यूनानी एकता का। कालिदास ने भारत की एकता का। ऐसे स्वप्न

विद्वानों लेखकों के मन में बराबर उठते रहे हैं। स्वयं डॉ. शर्मा के भीतर 'हिंदी जाति' को लेकर कुछ ऐसे ही स्वप्न उठे थे। इन सपनों में एक 'रूमानीपन' का होना आवश्यक होता है और डॉ. शर्मा में यह तत्व मौजूद था। कह सकते हैं कि अपनी समस्त 'यथार्थवादी' विशेषताओं के बावजूद 'हिंदी नवजागरण' को लेकर उनके भीतर एक रोमानी आकर्षण था। यह दयानंद सरस्वती के आर्यसमाजी प्रभाव से आया हो या फिर कहीं और से यह बात अलग है।

अंत में इतना और कि 'हिंदी नवजागरण' को अभी बहुत कुछ अर्जित करना है। आज हिंदी प्रदेश में चुनौतियां ज्यादा हैं। जब तक हम हिंदू राष्ट्रवाद, जातिवाद और सामंती ठसक के साथ 'बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवाद' से नहीं लड़ सकते, यह एजेंडा अधूरा ही रहेगा। आज जरूरत है कि हम यह देखें कि डॉ. शर्मा का साहित्य हमारी कहां मदद करता है। उन्हें कोसे नहीं, समझें। हम इसे भी समझें कि 'बुद्धिवाद' और 'राष्ट्रीय चेतना' दोनों जरूरी हैं। 'हिंदी नवजागरण' की प्रेरणा जहां कहीं से भी मिले, हम ग्रहण करें। आज हम 'रचनात्मक पूंजीवाद' से 'संबंधगत पूंजीवाद' में प्रवेश कर चुके हैं जहां सब कुछ संबंध से तय होता है। आज संबंधों के इस गठबंधन को समझने और छिन्न-भिन्न करने की जरूरत है और डॉ. शर्मा यहां हमारे आदर्श हो सकते हैं।

रामविलासजी मूलतः कवि थे

विजय मोहन शर्मा

रामविलासजी की अनेक छवियों में से– जो उनके प्रसंशकों, चाहने वालों, आलोचकों और 'दुश्मनों' ने बना रखी हैं– एक छवि उनके कुश्ती लड़ने वाले पहलवान छाप आलोचक की है जो अकेले दम पर अपने तमाम विरोधियों पर भारी पड़ता है। इसकी कुछ मिसालें भी दी जाती हैं। कैसे उन्होंने कुछ बदमाश लड़कों और अभद्र लेखकों की ठुकाई कर दी थी। कुछ लोग तो यह भी कहते सुने गए हैं कि 'कभी-कभी तो वह अखाड़े की मिट्टी लगाए हुए ही विश्वविद्यालय में क्लास लेने चले आते थे', जबकि असलियत यह है कि जिन दिनों वह अखाड़े जाते थे उन दिनों वह लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। वहां क्लास लेने के लिए वह कोट पेंट पहन कर और टाई लगाकर ही जाते थे।

इसमें कोई शक नहीं है कि उन्हें शारीरिक व्यायाम करने और कुश्ती लड़ने का शौक था लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं है कि उनके बलिष्ट शरीर में एक अत्यंत संवेदनशील और भावुक कवि बसता था। उनका कहना था कि एक स्वस्थ तन में ही एक स्वस्थ मन बस सकता है। भारतवर्ष में तो यह बात बहुत पहले से मानी जाती रही है, पश्चिम की आधुनिक सोच के अनुसार भी तन और मन एक-दूसरे को लगातार प्रभावित करते रहते हैं और सही माने में इतनी दूर दूर नहीं हैं जितना लोग समझते हैं। पहलवान के नाम से एक कुंद-बुद्धि, मोटी गर्दन वाले व्यक्ति का बिंब उभरता है जिसे तमाम समस्याओं का हल केवल पिटाई से निकलता दिखाई देता है। ऐसा पहलवान अव्वल तो पढ़ने लिखने का काम करेगा नहीं और अगर किन्हीं कारणों से उसे पढ़ने लिखने का काम करना पड़ भी जाए तो स्वभावतः उसे कविता से अधिक आनंद आलोचना में आएगा और

आलोचना भी वह जिसमे रचनात्मकता कम और धोबी पछाड़ मारधाड़ ज्यादा हो। जो लोग रामविलासजी को ठीक से नहीं भी जान पाए और सुनी सुनाई बातों पर अधिक निर्भर रहे हैं, वे भी मानेंगे कि सच्चाई इससे कोसों दूर थी। रामविलासजी इस पहलवानी बिंब के विपरीत निहायत जहीन और प्रखर मेधा के धनी थे। उस पर उन्होंने कड़े अनुशासन से अपने आपको बांध रखा था, जिसकी वजह से वह उतने ही समय में दूसरों के मुकाबले कहीं अधिक काम कर लेते थे। संवेदनशील कवि की छवि को बिगाड़ने में कुछ हाथ उनका अपना था, कुछ काम 'तार सप्तक' में छपे वक्तव्यों ने किया।

तार सप्तक में रामविलासजी के नाम से एक वक्तव्य छपा था, जिसके अंतिम पैराग्राफ में कहा गया था, 'एक बात और का विश्वास दिलाना चाहता हूं, कि वात्स्यायनजी ने कविताओं के लिए परेशान कर डाला' नहीं तो कविता लिखने में बड़ी मेहनत पड़ती है और उसकी नकल करने में और भी ज्यादा! आशा है, यह प्रकाशन बस अंतिम होगा।'

यह वक्तव्य रामविलासजी के नाम से छपा ज़रूर है लेकिन यह उनका लिखा हुआ वक्तव्य नहीं है। दरअसल हुआ यह था कि तार सप्तक में हर कवि का परिचय और वक्तव्य छपना था, यह वक्तव्य और परिचय कवियों को स्वयं ही लिख कर भेजना था। रामविलासजी ने जो सामग्री भेजी थी वह या तो खो गयी या देर से पहुंची। तार सप्तक की भूमिका में अज्ञेयजी ने स्वीकार किया है, 'आधी पांडुलिपि रेलगाड़ी में खो गयी, और संकोचवश इसकी सूचना किसी को नहीं दी जा सकी।' नेमिचंदजी ने अपने 2 फरवरी 1944 के पत्र में रामविलासजी को लिखा, 'आपका वक्तव्य बहुत देर से मिला, तब तक कविताओं वाला फर्मा छप चुका था, इसलिए वह दिया नहीं जा सका। मुझे इस बात का व्यक्तिगत रूप से और भी अधिक खेद है कि आपके परिचय को ही वक्तव्य के रूप में प्रकाशित करना पड़ा और इसी से उधर परिचय भी अधिक सुंदर न हो सका।'

जिन लोगों पर तार सप्तक के संपादन का दायित्व था उन्होंने रामविलासजी द्वारा भेजे हुए 'परिचय' में एक पैराग्राफ (अंतिम) अपनी तरफ से जोड़कर 'वक्तव्य' बना दिया और इसे रामविलासजी के नाम से छाप दिया। जो परिचय संपादक महोदय ने लिखा, उसमें कहा- 'रामविलासजी पहले आलोचक हैं फिर कवि, कविता उन्होंने कम लिखी है इसका कारण वे यह बताते हैं कि उसमें मेहनत पड़ती है, पर असल में कारण यही है कि उन्हें आलोचना का चस्का है, और उसका अवसर पाकर वे लेखनी या मसि की प्रतीक्षा अनिवार्य नहीं समझते। मौखिक आलोचना और कटाक्षपूर्ण पदावली उनकी विशेषता है। हिंदी को छोड़कर जब वे ठेठ मातृभाषा (बैसवाड़ी) को अपनाते हैं तब उनका यह अस्त्र और भी पैना हो जाता है इसीलिए पहलवान कवि-शिरोमणि निरालाजी उन्हें बहुत मानते हैं। स्वस्थ देह के साथ स्वस्थ मन वाला ग्रीक आदर्श वे पूरा करते हैं या नहीं यह तो मनस्तत्व वेत्ता बताएं, किंतु उनका कंठ और उनकी वाणी खूब स्वस्थ और समर्थ है।' ज़ाहिर है, यह किसी चोट खाए संपादक के दिल की आवाज है।

वक्तव्य का अंतिम पैराग्राफ, 'एक बात का और विश्वास दिलाना चाहता हूं आशा है, यह प्रकाशन बस अंतिम होगा।' वैसे भी रामविलासजी का लिखा हुआ नहीं लगता क्योंकि रामविलासजी कभी 'मेहनत पड़ती है' न लिखते। रामविलासजी को यही बात लिखनी होती तो वह लिखते, 'मेहनत करनी पड़ती है' उदाहरण के लिए अपनी आत्मकथा में उनका लिखा यह वाक्य, 'उन (सीढ़ियों) पर चढ़ने में काफी मेहनत करनी पड़ती थी।' जिसने परिचय लिखा, उसी ने वक्तव्य का अंतिम पैराग्राफ लिखा है। दोनों में काफी 'मेहनत पड़ी' होगी।

रामविलासजी ने लिखा है, 'तार सप्तक के लिए भेजा गया मेरा वक्तव्य उसमें नहीं छपा। जहां तक याद है, वह लौटकर मुझ तक नहीं पहुंचा।' इसी तरह उनकी भेजी एक कविता जिसका शीर्षक था 'रेतः दधाति औषधीशु गर्भस' और जिसकी प्रथम पंक्ति थी 'संस्कृति के स्वर्ण रथ' खो गई। अज्ञेयजी ने एक पत्र में इसकी प्राप्ति स्वीकार की थी, किंतु बाद में वह छपी नहीं और लौटकर रामविलासजी के पास पहुंची भी नहीं। (रूप तरंग और प्रगतिशील कविता की पृष्ठभूमि)।

इस बात की थोड़े विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता इसलिए हुई कि जहां तार सप्तक ने रामविलासजी को प्रतिष्ठित कवियों की श्रेणी में शामिल किया, वहीं उनके बारे में इस धारणा को बल दिया कि रामविलासजी को 'आलोचना का चस्का है' और उन्हें 'कविता लिखने में मेहनत 'पड़ती' है, उनकी नकल करने में और भी ज्यादा', इसलिए उन्होंने जो लिखा, मजबूरी में लिखा। वास्तविक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। रामविलासजी हृदय से कवि थे, और जैसा उन्होंने स्वयं कहा है 'निराला को लेकर हिंदी में कितना संघर्ष हो चुका है, तब मुझे पता न था। सन् 34 में यह संघर्ष ही मुझे आलोचना के क्षेत्र में घसीट लाया और मेरा पहला आलोचनात्मक निबंध निराला की काव्य प्रतिभा के समर्थन में प्रकाशित हुआ। संभव है, यह संघर्ष न होता– मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपों की वर्षा न की गयी होती तो मैं आलोचना के क्षेत्र में आता ही नहीं।' अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत तो उन्होंने कविताओं से की ही थी, बाद में भी उन्हें समय-समय पर हुड़क उठती थी कि कविता लिखी जाए।

केदारनाथ अग्रवालजी को लिखे पत्रों में वह बार-बार लिखते है, ठहरो, मैं भी कुछ कविता लिख लूं, फिर बांदा आऊंगा और तुम्हें सुनाऊंगा। (पत्र 15.12.53)। मैं कई साल से कविताएं लिखने की सोच रहा हूं, लेकिन मन में बहुत-सी कविताएं रच डालने के बाद भी, भाषा और छंद में उन्हें बांधने की नौबत नहीं आई। (पत्र 9.1.56)।

अपने बड़े भाई साहब को उन्होंने एक पत्र में लिखा, कविता लिखने में actually (जितनी) शारीरिक यातना होती है, मानसिक आनंद उतना ही अधिक (आता है), किंतु अब कुछ ऐसा हो गया है कि मैं बिना कविता लिखे रह नहीं सकता। (13.09.56)।

इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा बनाई गई एक फिल्म में पहले वह अपनी निरालाजी पर लिखी प्रसिद्ध कविता सुनाते हैं, 'वह सहज विलंबित मंथर गति' और फिर कहते हैं कि निराला की साहित्य साधना के तीन खंडों में इस कविता का ही भाष्य है।

इसी प्रकार वह रूप तरंग में संकलित अपनी कविता 'धरती का पुत्र' पढ़ते हैं और कहते हैं कि मार्क्सवाद पर उन्होंने जो भी कुछ लिखा है वह इसी कविता का भाष्य है।

कविता में सूत्र रूप से बात कहने के बारे में वह यहां तक कहते हैं कि उन्होंने जितना भी गद्य लिखा है वह उनकी कविताओं के ही भाष्य हैं। वह यह भी मानते हैं कि उन्हें आलोचना के मुकाबले कविताएं पढ़ना अधिक रुचिकर लगता है और वह अभी भी कविताएं अधिक पढ़ते हैं, लिखते आलोचना हैं यह बात अलग है।

सच बात तो यह है कि वह अन्य तमाम लेखन संबंधी कामों को ज्यादा जरूरी समझते थे, और चाहते थे कि वह अपनी जनता को आने वाले खतरों से सावधान कर दें, इसलिए न चाहते हुए भी कविता-लेखन को 'बैक-सीट' लेनी पड़ी।

कविताओं के अनुवाद :

अपनी कविताएं लिखने के अलावा रामविलासजी ने कई दूसरे कवियों की कविताओं के अनुवाद भी किए, इनमें से कुछ के नाम हैं :

- नजरुल इस्लाम
- उमर खैयाम
- बल्गेरिया का कवि वाप्तासारोव
- फ़्रांसीसी कवि विक्टर ह्यूगो
- रूसी कवि शेवचेन्को

फ्रांसीसी कविताओं को मूल रूप में पढ़ पाने के लिए उन्होंने फ्रेंच भाषा सीखी। विश्वविद्यालय से डिप्लोमा लिया जो उन्हें लगा, कविताओं को समझने के लिए काफी न था। इसलिए वह अपने अध्यापक अय्यर साहब के घर जाकर अपनी शंकाओं का निराकरण करते थे।

गीतमाला :

रामविलासजी ने संत कवियों की गेय कविताओं का एक संग्रह तैयार किया था जो जून 1947 में बंबई से प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक थे भानुकुमार जैन, मैंनेजिंग डाइरेक्टर ज्ञान मंदिर लिमिटेड, चर्चगेट स्ट्रीट, फोर्ट, बंबई, इसकी भूमिका स्वरूप 'दो शब्द' में उन्होंने लिखा था- 'हिंदी की प्राचीन परंपरा में गीतात्मकता का अभाव नहीं है। पश्चिमी साहित्य के संपर्क में हमारे यहां लिरिक या गीति काव्य का विशेष विस्तार हुआ। ब्रजभाषा–सहित्य में कवियों का आत्म-निवेदन, भक्ति-विह्वल पद, श्रृंगार की कल्पनाएं और इनके साथ उपमाओं का अनूठापन और भक्ति-चातुरी देखने योग्य हैं। लोगों की पसंद अलग-अलग होती है, इस संग्रह में बहुत से छंद प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं, कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें अधिकांश संग्रहों में स्थान नहीं मिला। आशा है, पाठकों को अपनी काव्य परंपरा से परिचित होने में सहायता मिलेगी और साथ में उनका मनोरंजन भी होगा।'

गीतमाला में 30 कवियों के कुल 178 गीत संकलित हैं। पहला पद तुलसीदास का है :

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच (रेशमी वस्त्र)

एक अन्य उल्लेखनीय पद कबीर का है,

साधो ई मुर्दन कै गांव
पीर मरे पैगंबर मरिगे, मरिगे जिंदा जोगी
राजा मरिगे परजा मरिगे मरिगे वैद्य औ रोगी
चांदौं मरिहैं सुर्जौं मरिहैं मरिहैं धरनि अकासा
चौदह भुवन चौधरी मरिहैं इनहूं कै का आसा
नौहू मरिगे दस हू मरिगे मरिगे सहस अठासी
तेंतिस कोटि देवता मरिगे पड़िगे काल की फांसी
नाम अनाम रहै जो सधी दूजा तत्त न होई
कहै कबीर सुनो भाई साधो भटक मरे मत कोई

रामविलासजी ने यह पुस्तक अपने बड़े भाई साहब को समर्पित की थी उन्हें जब इस बात का पता चला तो उन्होंने लिखा 'बेहतर होगा कि यह पुस्तक तुम दौआ को समर्पित करो' लेकिन रामविलासजी अपने निश्चय पर डटे रहे।

कविता संग्रह :

गीतमाला के अलावा, रामविलासजी के तीन कविता संग्रह और प्रकाशित हुए हैं।

- पहला कविता संग्रह 'रूपतरंग' जो सन् 1956 में विनोद पुस्तक मंदिर आगरा से प्रकाशित हुआ था और जो नरेंद्र शर्माजी को समर्पित था। इसके बाद उन्होंने बल्गेरियाई कवि वाप्तासारोव की कविताओं का अनुवाद किया था जो कविताएं नाम से भारतीय शांति परिषद से छपा था। इसके बाद रामविलासजी ने एक लंबा लेख लिखा जिसका शीर्षक था, प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि। उन्होंने इन तीनों चीजों को मिलाकर एक पुस्तक बना दी और उसे नाम दे दिया 'रूप तरंग' और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि, जो 1990 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुई।
- रामविलासजी ने राजनीतिक कविताएं भी बहुत लिखी थीं। उनका संग्रह सदियों के सोये जाग उठे नाम से सन् 1988 में वाणी प्रकाशन ने प्रकाशित किया।
- सन् 1997 में उनकी प्रारंभिक कविताओं का एक संग्रह आया, जिसका नाम था बुद्ध वैराग्य तथा प्रारंभिक कविताएं।
- अभी भी उनकी बहुत सारी कविताएं और कविताओं के अनुवाद किसी संग्रह में संकलित नहीं हैं।
- हिंदी के अलावा उन्हें अंग्रेजी और फ्रेंच कविताएं पढ़ने का भी बहुत शौक था। उनकी थीसिस अंग्रेजी भाषा के मशहूर कवि कीट्स और प्री-रेफेलायिट्स विषय पर थी।

कविता के संस्कार :

रामविलासजी को कविता के संस्कार अपने परिवार और गांव के सांस्कृतिक वातावरण से मिले। जन्म के बाद का पहला स्पर्श जो रामविलासजी को याद रहा वह मां का नहीं, अपने बाबा का था। सौर से निकलते ही वह रामविलासजी को अपने पास सुलाने लगे थे, कहते थे। थोड़ा बड़े हो जाने पर, बाबा जहां भी जाते थे, रामविलासजी को साथ ले जाते थे, कभी पीठ पर, कभी घोड़इयां, कभी कमर पर कनिया, कभी और ऊंचे कंधे पर बिठाकर। वह खेतों के बीच से चले जा रहे हैं और रामविलासजी ऊंचाई से चारों ओर खेतों की हरियाली देख रहे हैं।

रात को बाबा कहानियां सुनाते थे। एक-एक कहानी कई-कई बार सुनी जाती थी। ऊंट और सियार की कहानी, जिसमें सियार ऊंट को धोखा देता है और फिर ऊंट सियार से बदला लेता है, उसे नदी में कंडे जैसा बहा देता है। बालक रामविलास कल्पना करते कि वह नदी उनके गांव का नाला था। जिस खेत में खरबूजे लगे थे वह उसी नीम के पास था, जिस पर सवेरे सूरज निकलता था। जिस गली में ऊंट घूमा करता था वह उनके घर के सामने की गली थी। जहां दहलीज में बैल बंधते थे, वहीं ऊंट बांधा गया था और मोटी-मोटी रोटियां सेंक कर अम्मा ने झौवे में भरकर वहीं रख दी थीं।

नाले के पास बड़े ऊसर में एक ऊंचा महुए का पेड़ था, सवेरे तड़के उठ कर अम्मा महुआ बीनने चलती थी। रामविलासजी भी साथ हो लेते थे। चांदनी रात, ठंडी हवा, सफेद धरती पर रस भरे महुओं का टपकना सुना जा सकता था। सूरज उगने तक हवा में महुओं की गंध बनी रहती थी। लोधी ताल के किनारे आम के पेड़ थे। हर पेड़ का नाम था, उसकी एक विशिष्ट पहचान थी। 'पेड़ पर वाला' आम मीठा तो 'विसैंधी' अपनी गंध के मारे खाया जाता था। खरबूजे की मिठास वाले आम का नाम पड़ा 'खरबुजहा' तो दूसरे को 'कुसिलिहा' नाम से पुकारा जाता था। होली पर खोया भर कर गुझिया बनाते हैं जिसे अवध में कुसिली कहा जाता है। (गाढी मिठास के कारण नाम पड़ा कुसिलिहा)।

बाबा की सुनाई कहानियों में बहुत सारी बातचीत पद्य में होती थी। रामविलासजी को यह पद्य याद हो गए थे और अंत समय तक याद रहे। बाबा सोने से पहले गिनती सिखाते थे, पहाड़े याद कराते थे। दूसरे पहाड़ों की अपेक्षा पन्द्रह का पहाड़ा बहुत जल्दी याद हो गया था, और उसे वह बिना कहे ही सुनाने लगते थे। पंद्रा दुन्ना तीस, तिया पैंतालीस, चौको साठ, पची पचहत्तर, छक्का नब्बे, सत्ते पांचा, अट्ठे बीसा, नौ पैंतीसा, दहाम डेढ़ सौ। कहने का मतलब यह कि जहां तरन्नुम था, सुर और ताल थे, वहीं रामविलासजी का मन रमता था। एक कविता डमरू पर भी थी। सुनने पर लगता था कि खूब उछल कूद हो रही है और डमरू बज रहा है। यह कविता भी रामविलासजी को याद

रही। उन दिनों लोक कवियों में समस्या-पूर्ति करते हुए छंद कहना बहुत लोकप्रिय था। 'तरवा के तरे लौं' समस्या कवि ने चार तरह से पूरी की थी और बाबा को यह सब याद था। बैसवाड़े के हर गांव में दो चार कवित्त-सवैये कहने वाले होते थे। बाबा ने संभवतः कभी इनकी संगति की होगी। बाबा को गिरधर कविराय की बहुत सी कुंडलियां याद थीं। उन्होंने कुछ रामविलासजी को भी याद करा दी थीं। इन्हीं में से एक थी, लाठी में गुण बहुत हैं, सदा राखिए संग। भक्ति भाव से कभी भजन गाते थे, देखो जी इक बाला जोगी द्वारे तेरे आया है। कभी वैराग्य भाव से एक सवैया पढते थे, बचपन में सूप में पौढ़े, जवानी में पलंग पर– पौढ़त पौढ़त ही सो चिता पर पौढ़न को दिन आयो/ छीर समुद्र के पौढ़नहार तिन्हें बिसरे कहां सुख पायो।

जिस नीम पर सूरज निकलता था, उसी के आगे बारे देवी का मंदिर था। यहां पूजा करने अधिकांश स्त्रियां आती थीं। लोटे को मांजकर उसमें जल भरकर लेती थीं, ऊपर दो चार कनेर के पीले फूल डाल लेती थीं। एक के पीछे एक खेतों के बीच मेड पर पांत बांधकर गाती हुई जाती थीं। नरवा के किनारे देवी का मंदिर ऊंची कुर्सी देकर बनाया गया था। तीन-चार सीढ़ी चढ़कर उसके चौड़े आंगन में पहुंचते थे। मंदिर के ऊपर का चूना बरसात और धूप सहते सहते काला पड़ गया था। मंदिर के भीतर काले पत्थर की कुछ मूर्तियां रखी थीं। कोई पुजारी नहीं था, स्त्रियां अपने आप देवियों पर जल चढ़ाकर पूजा करती थीं। मंदिर के पीछे गदा उठाए हनुमानजी की मूर्ति थी। सेंदूर लगाने से पूरी मूर्ति लाल बनी रहती थी। ब्याह होने पर दूल्हा-दुल्हिन गांठ जोड़कर देवी दर्शन को ज़रूर आते थे। गांव के पश्चिम की तरफ कुछ दूर पर अल्वापन (अलोपा देवी) का मंदिर था। मंदिर के पास बड़ा ताल और बाग था। विशेष अवसरों पर यहां मेला लगता था, बहुत से मिठाई वाले दुकानें लगाते थे। मेले में तो मर्द काफी होते थे, मंदिर में पूजा करने अधिकतर स्त्रियां आती थीं। सूरज डूबते ही वहां से खुटिया, बताशा लेकर लौट चलती थीं, बागों से होती हुई अंधेरा होने से पहले घर पहुंच जाती थीं। आगे चलकर रामविलासजी ने गांव पर लिखी कविताओं के विषय इन्हीं मंदिरों, खेतों और देहात की रोजमर्रा की जिंदगी से उठाए।

बाबा बड़े साहित्यप्रेमी थे, उन्होंने अपने साथ-साथ रामविलासजी को छह या सात साल की उम्र में शुकसागर और बाल भागवत पढ़वा दिया था। वह जहां ठीक पढ़ते थे, उन्हें शाबाशी देते थे, जहां गलत पढ़ते थे, वहां टोकते न थे। थोड़े दिनों में रामविलासजी स्वतः समझने लगे थे कि क्या गलत है और क्या ठीक। चौथे-पांचवें दर्जे तक आते-आते रामविलासजी ने 'चना जोर गरम' से शुरू करके कवित्त, सवैये बनाने शुरू कर दिए थे। बाबा हनुमानजी के बड़े उपासक थे। कुछ भक्ति भाव से और कुछ बाबा के लिए रामविलासजी ने हनुमानजी पर एक दो सवैये बना दिए थे। बाबा ने उन्हें याद कर लिया था और पूजा करते समय उन्हें पढ़ा करते थे। लोगों को सुनाते थे, देखो हमारे नाती ने बनाया है।

बरगदहाई रामविलासजी के बचपन का प्रिय त्यौहार था। गर्मियों की छुट्टियों में पड़ने वाला यह बिरला त्यौहार था जो वह गांव में मनाते थे। बाकी सब त्यौहार झांसी में पड़ते थे लेकिन उन्हें मनाने में– होली दिवाली समेत – उतना मज़ा नहीं आता था, क्योंकि बाबा और अम्मा दोनों गांव में होते थे। झांसी की कैद से छूटने पर, पढ़ने, इम्तिहान देने की चिंता न होने से त्यौहार और भी सुख देता था। बाबा का त्यौहार से विशेष संबंध न था, लेकिन अम्मा का था। सभी स्त्रिया बक्सों से चमकदार गोते वाले लहंगे निकालकर पहनतीं। गहनों खास तौर पर नाक में नथ डालकर सजतीं, फिर गाती हुई गांव की सीमा पर नाले के पास एक बाग के पुराने बरगद के चारों ओर रंगीन धागे का फेटा बांधते हुए परिक्रमा करतीं और लौटकर आतीं। बच्चे लोग बेसब्री से इंतज़ार करने के बाद घर के घी में बनी पूरी कचौरियों पर टूट पड़ते। घर के घी में सिकी पूरी-कचौरियों का क्या कहना। उस दिन उन्हें सीताफल का साग भी अच्छा लगता।

रामविलासजी ने उस बरगद और त्यौहार पर एक कविता लिखी थी जो कलकत्ते की एक पत्रिका में छपी थी, लेकिन उसकी प्रति अब उपलब्ध नहीं है। बचपन में अपने गांव में बिताए दिन उन्हें सारी उम्र याद आते रहे। उन्हीं के शब्दों में, 'मैं अपने गांव पर, अपने बाबा दादी पर तुम्हें क्या लिखूं, सिर्फ आमों पर लिखूं तो पूरी किताब हो जाए। शायद ही हमारी ज़िंदगी में कोई दिन ऐसा बीता होगा जब हम गांव के आस पास चक्कर न लगाते हों। हम जानते हैं, इस गांव में मच्छर नई राजामंडी से ज्यादा हैं, कुएं के पानी में कभी-कभी पतले महीन कीड़े दिख जाते थे, वहां हम बचपन में बहुत बीमार पड़े थे और हमें बेहद कड़वी कुनैन खिलाई गयी थी। हम यह भी जानते हैं कि इस गांव में ऊंच-नीच का भेद इतना ज्यादा था कि छोटी जाति का बूढा बड़ी जाति के बच्चों को भी बाबा कहता था और ज़मींदार की बेगार करने वाले चमार मुर्दा ढोर खाते थे फिर भी हमारा मन इस गांव के चक्कर लगाया करता है, क्योंकि हमारा बचपन यहां बीता है। हमने सबसे पहले आंखें खोलकर वहां जो देखा और पहचाना, वह हमें अभी तक याद है।'

कुछ कविताओं में गांव के दृश्यों का वर्णन है। बचपन गांव के खेतों में बीता है, और वह संपर्क कभी नहीं टूटा। इस समय भी खिड़की के बाहर खेत दिखाई दे रहे हैं, जिसमें कटी हुई ज्वार के ठूंठ ही रह गए हैं। सुनहली धूप में कबूतर दाने चुग रहे हैं और थोड़ी दूर पर नहर का पुल पार कर किसान सिर पर बाजार के सामान का गट्ठर रखे घर लौट रहे हैं। मैं साधारणतः छह घंटे काम करूं तो खेतों के बीच दस घंटे काम कर सकता हूं। इन खेतों को प्यार करना किसी ने नहीं सिखाया, ये मेरे गांव के खेत भी नहीं है, गांव सैकड़ों मील दूर है, फिर भी हिंदुस्तान के जिस गांव पर भी सुनहली धूप पड़ती है, वह अपने गांव जैसा ही लगता है। 19वीं सदी के रोमांटिक कवियों में मुझे फ्रांस के कवि इसलिए ज्यादा पसंद हैं कि उन्होंने इन खेतों को किसानों की तरह प्यार किया है। हिंदी के नए कवियों में मुझे केदारनाथ अग्रवाल भी इसीलिए ज्यादा पसंद हैं कि उनकी कविताओं में भदेसपन ज्यादा है।

मेरी डायरी में बाबा रामविलास शर्मा

जसवीर त्यागी

05 जून, 1992

03 जून, 1992 को बाबा (डॉ. रामविलास शर्माजी) बड़ौदा चले गए। वहां पर उनकी मंझली बेटी 'सेवा' रहती हैं। परिवार के सभी सदस्य बाबा का बहुत सम्मान करते हैं। हर कोई उनके साथ अधिक से अधिक समय बिताना चाहता है। बाबा भी छोटे से लेकर बड़े तक सभी की भावनाओं की कद्र करते हैं। वे स्वयं कहते भी हैं कि- 'परिवार चलाना किसी प्रदेश को चलाने से ज्यादा महत्वपूर्ण काम है।'

आज शाम को अकेले ही पार्क में घूमने गया। जिन-जिन रास्तों पर बाबा घूमते हैं-वहां पर निगाह दौड़ाई और सोचा कि बाबा भी घूम रहे होंगे। फिर दूसरे ही पल यह ख्याल आया कि वे तो बड़ौदा गए हैं और कहकर गए हैं, 11 जून को वापस विकासपुरी आ जाएंगे। उनके बगैर पार्क में घूमना अच्छा नहीं लगता।

21 जून, 1992

रामविलासजी अपने जीवन के अस्सी बसंत देख चुके हैं। आज भी वे प्रतिदिन दस-बारह घंटे लिखाई-पढ़ाई करते हैं। इस रहस्य को जानने के लिए मैंने उनसे पूछा- 'आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान कैसे रखते हैं? कुछ स्वास्थ्य संबंधी सावधानियां बताइए।'

'अपने स्वास्थ्य का ख्याल सभी को रखना चाहिए। कुछ शारीरिक अंग ऐसे हैं, जो हर समय काम करते हैं, जैसे- मस्तिष्क, फेफड़े, हृदय। इन सभी का खूब ख्याल रखना

चाहिए। मनुष्य का शरीर एक यंत्र की तरह है- जिसका अगर कोई पुर्जा खराब हो जाए तो समझो कि आप गए काम से।'

आदमी को खाने-पीने का विशेष ध्यान रखना चाहिए। हरी सब्जी, दाल, फल इत्यादि ज्यादा से ज्यादा खाने चाहिए। दूध गाय का हो तो अधिक अच्छा है। यह देखना चाहिए कि जिस पशु का दूध आप पी रहे हैं, उसका भोजन क्या है ? जैसे भैंस को बिनौले आदि खिलाते हैं, तो उसका दूध ज्यादा गाढ़ा होता है। बकरी, पत्ते, घास खाती है। उसका दूध हल्का होता है। महात्मा गांधीजी अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखते थे। वे बकरी का दूध पीते थे। वैसे घी ज्यादा नहीं खाना चाहिए- उससे चर्बी बढ़ती है। हम तो यह सब तला हुआ चिकनाईयुक्त खाते नहीं हैं। पेट ठीक रखना चाहिए। सारा स्वास्थ्य पेट से जुड़ा होता है। पेट, दिमाग, दिल कुछ ऐसे शारीरिक अंग हैं, जिनका सही होना जरूरी है। भोजन वह खाना चाहिए जो जल्दी से पच सके। अधिक तला हुआ भोजन शरीर को नुकसान करता है। भोजन हमेशा भूख से कम खाना चाहिए। तुम्हें एक उदाहरण सुनाता हूं। एक बार काका हाथरसी से पूछा गया कि आपके स्वास्थ्य का क्या रहस्य है ? उन्होंने बताया कि आदमी को जितनी भूख हो उससे आधा खाना चाहिए और प्यास जितनी हो उससे अधिक पानी पीना चाहिए। पेट के अंदर आंतें होती हैं। अगर आंतों के अंदर खुश्की होगी तो पेट ठीक नहीं रहेगा। आंतों में चिकनाई होगी, तो खाया हुआ माल निकालने में आसानी होगी। आंतों में चिकनाई का अर्थ यह नहीं है कि तुम घी पीने लगो। हरी सब्जी, फल इत्यादि का प्रयोग करना चाहिए। बादाम खाने चाहिए। बादाम खाने से दिमाग को बल मिलता है। दिमाग तेजी से काम करता है। रात को बादाम की थोड़ी-सी गिरी भिगो दो, फिर सवेरे उठकर उसको खाओ। इससे खूब लाभ होता है। दूध वही पीना चाहिए जो अधिक औंटा हुआ न हो। अपना सिद्धांत तो एक है कि दोपहर को डटकर खाओ, रात को हल्का भोजन करो। रात को पेट हल्का होने से नींद अच्छी आएगी, स्वप्न ठीक आएंगे। पेट अधिक भरा है तो नींद ठीक नहीं आएगी। अनाप-शनाप स्वप्न आएंगे। भोजन में दाल ज्यादा से ज्यादा खानी चाहिए। मट्ठा खूब पीना चाहिए। आदमी के भोजन का प्रभाव उसके शरीर, दिल, दिमाग पर पड़ता है। नींद अच्छी आनी चाहिए। गहरी नींद है तो चार घंटे की नींद भी काफी होती है। जिस आदमी को भोजन ठीक तरह से पच जाता है और नींद अच्छी आती है, समझो वह स्वस्थ आदमी है। एक होती है निंद्रा और दूसरी तंद्रा। अगर आदमी को आलस्य आता है। बार-बार जंभाई आती है तो समझो यह नींद नहीं है तंद्रा है। आदमी को व्यायाम नियमित करते रहना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रहना चाहिए।

10 अप्रैल, 1993

प्रेम मानव-जीवन और साहित्य का प्रेरक तत्व है। साहित्य में प्रेम की एक दीर्घ परंपरा रही है। रामविलासजी से पूछा- 'प्रेम के विषय में आप क्या सोचते हैं ?'

प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा- 'प्रेम एक व्यापक शब्द है। इस पर हिंदी और अंग्रेजी के अनेक लेखकों ने लिखा है। कबीर ने कहा- 'ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय'। कहते हैं कि कबीर अनपढ़ थे लेकिन प्रेम में ढाई अक्षर होते हैं- यह कबीर को कैसे मालूम था ? इसका अर्थ यह हुआ कि कबीर को अक्षर ज्ञान अवश्य था। अनपढ़ आदमी कैसे बता सकता है कि इसमें कितने अक्षर हैं ?

प्रेम के विषय में मनुष्य काफी लालायित होता है। प्रेम मनुष्य की एक मांग भी होती है। समय-समय पर प्रेम की विभिन्न स्थितियां होती हैं। प्रेम के विषय में अनेक मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम तो एक व्यापक और मनोहारी भाव है। इसलिए मनुष्य को अधिक से अधिक प्रेम करना चाहिए। प्रेम के विषय में 'बायरन' का मत था कि प्रेम एक से ही करना चाहिए। प्रेम के विषय में 'फ्रायड' का मत अलग है। वह स्वप्नों को लेकर चलता है। वह मानता था कि मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं के लिए प्रेम करता है। 'फ्रायड' के विचार में 'सेक्स' सब कुछ था। मैं मानता हूं कि प्रत्येक विषयवस्तु में 'सेक्स' को तलाशना भी गलत है। मनुष्य का अस्तित्व इससे हटकर भी है। एक समय में यूरोप के विचारकों पर फ्रायड का काफी प्रभाव था। भारतीय लेखकों को भी काफी हद तक फ्रायड ने प्रभावित किया। फ्रायड का मानना था कि स्वप्न में मनुष्य के वही सब उभरकर आता है, जिसे वह चेतन में अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। मनुष्य की दमित भावनाओं की पूर्ति स्वप्न में भिन्न-भिन्न रूपों में उभरकर आती है। वह मानता है कि मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों के पीछे 'सेक्स' की भावना ही प्रबल रूप से होती है। 'फ्रायड' के मत से मैं सहमत नहीं हूं, क्योंकि एक समय के बाद यह असहनीय है। 'फ्रायड' का सिद्धांत असामान्य है और वह अपने सिद्धांत को लागू करता है सामान्य व्यक्तियों पर, जो कि अनुचित है। इस तरह प्रत्येक विषयवस्तु में 'सेक्स' का ही प्रतिबिंब देखना गलत है।

प्रेम की अभिव्यक्ति 'डी.एच. लारेंस' ने भी अपनी रचनाओं में की है। लारेंस का प्रभाव हिंदी के प्रयोगवादी लेखकों पर पड़ा था। 'लारेंस' का मत था कि मनुष्य को अपनी भावनाएं दबाकर नहीं, बल्कि उन्हें पूरा करके जीना चाहिए। 'लारेंस' मानता था कि मनुष्य को प्रेम में शारीरिक आवश्यकताओं को सहज रूप से लेना चाहिए।

मैं मानता हूं कि स्त्री-पुरुष दोनों मित्र बनकर रह सकते हैं- यह संभव है, लेकिन, हमारे यहां पर यह सब नहीं होता। आपसी झगड़े होते हैं। प्रेम में आदमी को दिमागी हालत की भी आवश्यकता होती है। मार्क्स, एंगेल्स और जेनी तीनों साथ रहते थे, और काफी अच्छे मित्र थे।

प्रेम की पराकाष्ठा क्या है ?

'मृत्यु प्रेम की अंतिम सीढ़ी है।'

मृत्यु के विषय में आप क्या सोचते हैं ?

'मृत्यु जीवन का प्रथम और अंतिम सत्य है।'

29 जून, 1993

शाम को साढ़े छः बजे के आसपास बाबा के साथ पार्क में घूमने के उद्देश्य से उनके आवास पर पहुंचा। मैंने द्वार की घंटी बजायी। संतोष आंटी (रामविलासजी की पुत्रवधू) बाहर निकलकर आईं और बोलीं कि- 'चाचा तो घूमने के लिए निकल गए हैं।' मैंने अपने कदमों को तेजी से पार्क की ओर मोड़ दिया। थोड़ी ही देर में बाबा पार्क में घूमते हुए मिल गए। उन्हें प्रणाम कर उनके साथ सायंकालीन सैर में शरीक हो लिया। घूमते हुए महसूस किया कि बाबा काफी तेज गति से चलते हैं। संग चलने वालों को उनके साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए अच्छी खासी मशक्कत करनी पड़ती है। चालीस-पैंतालीस मिनट घूमने के बाद घर पहुंचकर उन्होंने एक बड़ा ही दिलचस्प विश्लेषणात्मक प्रसंग सुनाया, जो कि इस प्रकार है :

'अधिकांश मनुष्य अपने विषय में नहीं जान पाते हैं। यह बात सामान्य व्यक्ति के साथ-साथ बड़े-बड़े लेखकों और वैज्ञानिकों पर भी लागू होती है। अंग्रेजी के एक बड़े नाटककार थे-जॉर्ज बर्नाड शॉ।' वे पहले संगीत पर छुटपुट लेख लिखा करते थे। चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक नाटकघर में नाटक देखा। उन्हें अच्छा लगा। उन्होंने सोचा कि मैं भी ऐसे नाटक लिख सकता हूं। फिर उन्होंने नाटक लिखना प्रारंभ किया और अंग्रेजी साहित्य में उनके नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए।' मेरे कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने विषय में जानने की कोशिश करनी चाहिए।

मैथिलीशरण गुप्त बहुत बड़े कवि तो नहीं थे, लेकिन वे कविता के प्रेमी जरूर थे। उन्होंने एक नाटक लिखा है। वह एक अच्छा नाटक है। मैंने उनसे कहा कि आप नाटक लिख सकते हैं। दिल्ली के एक समारोह में हमने लेखकों के विषय में बताया कि कौन लेखक किस विधा में अच्छा कार्य कर सकता है। उस कार्यक्रम में अनेक रचनाकार उपस्थित थे। मैं भी पहले कविता लिखा करता था। आलोचना भी करता था। मैंने कई बार सोचा कि मैं जिस विधा में काम कर रहा हूं, वह कहां तक तर्कसंगत है। क्या वह कार्य मेरे व्यक्तित्व के अनुरूप है ? छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा से जब कविता नहीं लिखी गयी तो उन्होंने पद्य को छोड़कर गद्य लिखना शुरू किया और उन्होंने अच्छा प्रभावशाली गद्य लिखा। सुमित्रानंदन पंतजी में इतनी सूझबूझ नहीं थी- वे कविता ही लिखते रहे। अंत में आकर पंतजी ने 'लोकायतन' लिखा-उसमें न कविता है, और न ही कविता के विषय की कोई चीज। इसलिए आदमी को अपने विषय में जान लेना चाहिए कि, वह कौन-सा कार्य ठीक तरह से कर सकता है। मनुष्य को जीवन एक बार मिलता है- उसे सार्थक करना चाहिए।

मिल्टन अंग्रेजी के बहुत बड़े कवि थे। 'पैराडाइज लॉस्ट' अंग्रेजी का एक मात्र महाकाव्य है। मिल्टन अंधे हो गए थे। वे अपनी पुत्री को 'डिक्टेट' कराते थे। वह लिखती रहती थीं। मिल्टन की स्मरण शक्ति काफी बढ़िया थी- जो पढ़ा-लिखा था, वह याद रहता था। मिल्टन में लैटिन, ग्रीक का अधिक प्रयोग है। मिल्टन में ईसाईयत अधिक है। मैकाले को जॉन मिल्टन का संपूर्ण 'पैराडाइज लॉस्ट' मुंहजबानी याद था।

अंग्रेजी के ही एक दूसरे लेखक थे जानसन। जानसन महान लेखकों में एक थे। पहले उन्होंने बड़े ही आर्थिक अभाव में जीवन व्यतीत किया था। उन्होंने अंग्रेजी में 'शब्दकोश' का निर्माण किया। उसके साथ-साथ वे आगे बढ़ते चले गए। जानसन पढ़े-लिखे काफी थे। वे बातें बहुत समझदारी से करते थे इसलिए बड़े-बड़े नेता, लेखक उनका सम्मान करते थे। अंग्रेजी-लेखकों पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी है 'लाइव्ज ऑफ पोयट्स' यह एक पठनीय पुस्तक है। वैसे जानसन हास्य और व्यंग्य में भी काफी माहिर थे। इसलिए मैं सोचता हूं कि मनुष्य को समय-समय पर आत्मविश्लेषण भी अवश्य करते रहना चाहिए।

06 मार्च, 1995

शाम को साढ़े छः बजे रामविलासजी के पास गया। सूचना मिलने पर उन्होंने अंदर बुला लिया। मेरा प्रणाम स्वीकार करने के बाद वे बोले– 'तुम ठहरो, हम अभी तुम्हारी 'राष्ट्रीय सहारा' वाली प्रति लाते हैं।' थोड़ी देर में प्रति मुझे थमाते हुए वह बोले- 'हम क्रिकेट का मैच देख रहे हैं।'

'किस टीम का मैच हो रहा है ?'

'इंग्लैंड और वेस्टइंडीज का।' मेरे स्कोर पूछने पर, उन्होंने बताया कि वेस्टइंडीज की टीम ने 298 रन बना लिये हैं।

फिर मैंने कहा कि- 'आपकी पुस्तक 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' आजकल मिल नहीं रही है, पता नहीं क्या बात है ?

बाबा स्थिति को स्पष्ट करते हुए बोले- 'ऐसा है कि हमें माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय वालों ने फोन पर सूचित किया था कि उसमें कुछ गलत पृष्ठ 'बाइंड' हो गए हैं। उन पृष्ठों को निकालकर ही पुस्तक को बाजार में लाएंगे। हमें तो अभी पुस्तक मिली भी नहीं है।' कुछ क्षणों तक वे मौन रहे। मैंने जान लिया कि उनका मन क्रिकेट मैच देखने का है इसलिए मुझे अब चलना चाहिए। वैसे भी उन्होंने मुझसे शुरू में ही कह दिया था कि- 'हम क्रिकेट-मैच देख रहे हैं।' कहते भी हैं कि समझदार को इशारा ही काफी है। मैंने प्रणाम किया और घर की ओर हो लिया।

14 मार्च, 1995

शाम को जब रामविलासजी से मिलने गया- उस समय वे घर के गलियारे में टहल रहे थे। मुझे देहरी पर खड़ा देखकर बोले- ''अच्छा जसवीर तुम'' आओ, और हम दोनों ड्राइंगरूम में जाकर बैठ गए। मैंने देखा कि बैठक का सामान अस्त-व्यस्त है। वहां पर रखा हुआ सामान रोजमर्रा की स्थिति से कुछ हटकर था। लकड़ी के बने हुए 'फ्रेम' रखे हुए थे। मैंने उत्सुकतावश पूछा- ''बाबा यह क्या बनवा रहे हैं...?''

''हम कुछ नहीं बनवा रहे, हम तो बिगाड़ने वालों में हैं। विजय, संतोष बर्तन, किताबें वगैरह रखने के लिए आलमारी बनवा रहे हैं। औद्योगीकरण हो रहा है।''

''दूरदर्शन वाले आप पर जो फिल्म बना रहे हैं, उन्होंने आपसे किन मुद्दों पर बातचीत की?''

''वही साहित्यिक मुद्दों पर। दूरदर्शन वाले दो-तीन दिन तक लगे रहे। दिन हमारा खराब करते रहे और रात विजय की। एक दिन तो वे रात के एक बजे तक यहां पर रहे-हम तो सो गए थे। फिर विजय से ही बातचीत करते रहे। मैंने सुना था कि दूरदर्शन वाले पांच लोगों पर फिल्म बना रहे हैं, जिनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, विष्णु प्रभाकर, हरिवंश राय बच्चन और मैं हूं। एन.सी.ई.आर.टी. वाले भी फिल्म बना रहे हैं, जिसमें शिवमंगल सिंह 'सुमन', नामवर सिंह आदि हैं। मैंने देखा है कि दूरदर्शन वाले समझदार नहीं हैं। इनके पास खुद का कैमरा है-सारा सामान है, लेकिन उसके बावजूद भी बाहर के आदमियों को ठेका दिया है जो बाहर का है, उसके पास अपना सामान भी नहीं है। उसने किसी तीसरे व्यक्ति को किराए पर किया है। इस प्रकार एक से दूसरा- दूसरे से तीसरा। सभी को रुपया देना पड़ेगा। जनता की संपत्ति को इस रूप में खराब कर रहे हैं। भला इन लोगों को क्या हक है कि वे जनता के रुपये बर्बाद करते फिरें। वैसे दूरदर्शन वालों को फिल्म बनाना भी नहीं आता। अगर हम फिल्म बनाते तो अलग दृष्टिकोण से बनाते।''

''अगर आप फिल्म बनाते तो कैसे बनाते ?''

''हम सबसे पहले अपने गांव जाते- वहां के घरों के चित्र लेते। लहराते हुए खेतों के चित्र लेते। फिर बाबा के कंधे पर बैठा हुआ एक बालक दूर से दिखा देते। कोई भी एक बुजुर्ग और एक बच्चा होता। उसके बाद स्कूल जहां हमने शिक्षा प्राप्त की। झांसी का स्कूल। धीरे-धीरे उन स्थलों को दिखाते जहां से हमारा संबंध रहा है। जैसे-लखनऊ, आगरा, दिल्ली। कुछ इसी तरह से मजदूरों और किसानों के साथ भी हम देख रहे हैं- वह सब भी हम जरूर दिखाते।

अमेरिका वालों ने एक फिल्म बनायी- 'लुई पास्ट्यर'। इस फिल्म में 'पॉलमुनि' ने अभिनय किया था-यह एक अच्छी फिल्म है। एक और अन्य प्रसिद्ध फिल्म है- 'अमलजोला'। फ्रांस के बहुत बड़े उपन्यासकार थे। इस फिल्म में भी 'पॉलमुनि' ने अभिनय किया था। अभिनय करने में वे बड़े माहिर थे। अमेरिका में ही इटली के महान चित्रकार 'माइकेल एंजलो' पर फिल्म बनायी गयी। वह अच्छी फिल्म थी। उस पर उपन्यास भी लिखा गया था। जिसका नाम है- **'The Agony and the ecstasy'** 'ऍगनि' का अर्थ होता है- पीड़ा और 'एक्सटॅसी' का- उल्लास। इस प्रकार कलाकार जिस पीड़ा को भोगकर सृजन करता है- उस सुख का उल्लास। दूरदर्शन वाले जो मुझ पर फिल्म बना रहे हैं, उन्होंने शायद ही मेरी कोई पुस्तक पढ़ी हो।

''समय मिलने पर क्या आप अब भी फिल्म देखते हैं ?''

"सिनेमा हम अब बहुत कम देखते हैं। अपने काम से ही फुरसत नहीं मिलती है। बचपन में हम अपने बड़े भाई के साथ अंग्रेजी फिल्में देखते थे। हमारी क्लास में एक दारोगा का लड़का था। वह (पास) प्रवेश पत्र रखता था। उसकी अंग्रेजी फिल्मों में रुचि नहीं थी। वह हमें 'पास' दे दिया करता था। बचपन में हमने अंग्रेजी फिल्में काफी देखी थीं। 'चार्ली

चैपलिन' की अधिकांश फिल्में हमने देखी हैं। हिंदुस्तानी फिल्मों में मुझे कैफी आजमी की बेटी शबाना आजमी की फिल्में अच्छी लगती हैं। एक फिल्म में उसने एक विकलांग लड़की का अभिनय किया था। वह फिल्म मुझे काफी पसंद आई थी।''

आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?

''अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' दोहरा रहे हैं।''

''अब चलता हूं।''

''ठीक है, जैसा तुम चाहो।''

''चरण-स्पर्श करते हुए-प्रणाम बाबा।''

''जीते रहो, खुश रहो।''

17 **मार्च, 1995**

आज होली का पावन पर्व है। सुबह से ही वातावरण में हंसी-ठिठोली और खिलंदड़ेपन की खुशबू कोने-कोने में फैल गयी है। चारों ओर रंग-बिरंगे चेहरे मस्ती में झूम रहे हैं। मेरे मित्र आदित्य (सुप्रसिद्ध चित्रकार) और मैंने एक योजना बनाई कि चलो आज बाबा संग होली-मिलन किया जाए। हम लोग सुबह दस बजे (सी-358 विकास पुरी) उनके आवास पर पहुंच गए। द्वार की घंटी की पुकार सुनकर दरवाजा रामविलासजी के पौत्र चिन्मय शर्मा ने खोला। चिन्मय ने हम दोनों को देखते ही कहा- ''अच्छा, आदित्य-जसवीर तुम लोग हो। अंदर आ जाओ'' हम सब 'ड्राइंगरूम' में बैठ गए। एक-दूसरे को गुलाल लगाने और घर की बनी स्वादिष्ट गुझिया खाने के बाद-हमने चिंमय से कहा- ''कि हम बाबा को भी होली की बधाई देना चाहते हैं।'' उसने बताया- ''बाबा अपने कमरे में पढ़ रहे हैं। मैं उन्हें बता देता हूं कि तुम लोग आये हो।'' थोड़ी ही देर में बाबा बैठक में आ गए। मैंने और आदित्य ने प्रणाम करते हुए उनके चरण स्पर्श किये और फिर सामने मेज पर रखी हुई थाली में से गुलाल की एक चुटकी लेकर उनके चरणों पर लगाते हुए संयुक्त स्वर में कहा- ''आपको होली मुबारक हो।'' बाबा ने- ''जीते रहो-खुश रहो, का आशीर्वाद देते हुए कहा- तुम्हें भी होली मुबारक हो।''

''बाबा आज तो होली है, आप आज भी पढ़ाई-लिखाई कर रहे हैं ?

''तुम लोगों की तरह हमारी छुट्टी नहीं होती। हमें तो रोज ही काम करना होता है।''

बीच-बीच में आदित्य बोलते रहे। बाबा ने आदित्य से कहा- ''तुम्हारे व्यवसाय में कवि का कोई काम नहीं है क्या ? तुम्हें अपने व्यवसाय के लिए विज्ञापन कविता के लहजे में कवि से ही लिखवाना चाहिए। निरालाजी ऐसा खूब करते थे। विज्ञापन को कविता में प्रस्तुत करना।''

मैं तुरंत समझ गया कि उनका इशारा मेरी ओर है। बातचीत करते हुए बाबा ने मेज पर रखी हुई मिठाई की तरफ संकेत करते हुए- हम लोगों को खाने के लिए कहा। मिठाई उठाते हुए आदित्य ने कहा- ''बाबा आप भी लीजिए।'' आदित्य की बात पर वे बोले- ''हम अपना नाश्ता, भोजन आदि नियत समय पर ही करते हैं। तुम लोग खाओ।''

फिर बाबा ने कहा- ''श्रीमद् भगवत्गीता में लिखा हुआ है कि जो व्यक्ति अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक धन संग्रह करता है। वह चोर है। अर्थात् यह एक प्रकार का अपराध है। यहां पर धन-संग्रह का अर्थ है- पूंजी का केंद्रीकरण'। जिंदगी एक लंबी दौड़ है। यहां पर हर बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है। या तो दूसरे को खाओ या फिर दूसरे के द्वारा खा लिए जाओगे। इस पर निर्भर है पूंजीवाद।''

हमने देखा, परिवार और कुछ आस-पड़ोस के लोग भी रामविलासजी को होली-मिलन की बधाई देने के लिए बाट जोह रहे हैं। ऐसे में हम दोनों मित्रों ने विदा ली और घर से बाहर निकलते हुए हमने महसूस किया कि बाबा से मिलने के बाद- होली के रंगों से सिर्फ हमारा चेहरा ही नहीं, बल्कि हमारा मन-मस्तिष्क भी आच्छादित है।

26 मार्च, 1995

मैं शाम सात बजे रामविलासजी से मिलने गया। उस समय वे अपने घर के गलियारे में घूम रहे थे। मुझे देखकर बोले- ''आज सारा दिन हम तुम्हें याद करते रहे। तुम्हारे गुरु विश्वनाथ त्रिपाठी ने मुझे फोन किया था, कि आप जसवीर को बता दें- सोमवार को उसका एम.फिल. का 'वायवा' है। तुम्हें सूचना मिली...?''

''जी बाबा, मुझे सूचना मिल गई है।''

उसके बाद उन्होंने बताया-''ऐसा है कि आजकल घर में तोड़-फोड़ का काम चल रहा है। हमारे कमरे में भी काम हो रहा है। सारा सामान इधर-उधर बिखरा पड़ा है। हमारी छोटी वाली डायरी नहीं मिली, जिसमें तुम्हारे मित्र आदित्य का फोन नं. लिखा हुआ है। हमने पहले सोचा था कि हम आदित्य को फोन कर देंगे कि वह 'वायवा' की सूचना जसवीर को दें दे। जब डायरी नहीं मिली तो हमने सोचा कि अब जसवीर को सूचना कैसे दें ? हमने तो उसका घर भी नहीं देखा। किसी को भेंजे भी तो कैसे ? घूमते वक्त हम यही सोच रहे थे कि किसी तरह से तुम आ जाओ। और तुम आ ही गये।''

मुझे संपूर्ण स्थिति समझाने के बाद- वे अपने अध्ययन-कक्ष में ले गये। सामान अस्त–व्यस्त था। एक कुर्सी रखी थी। पलंग पर खुली हुई किताबें- उनका इंतजार कर रही थीं। जिनको देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था- कि वे कुछ पढ़-लिख रहे थे। साथ ही रोजमर्रा का इस्तेमाल होने वाला कुछ आवश्यक सामान भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा था, जिनमें पेन, पेंसिल, कैंची, घड़ी, ट्रांजिस्टर, रेडियो इत्यादि थे।

मुझे कुर्सी पर बिठाकर और स्वयं पलंग पर बैठने के बाद, बाबा ने पूछा- ''तुम्हारा 'वायवा' कितने बजे है ?''

''जी-ग्यारह बजे।''

''समय कितना लगता है, विश्वविद्यालय पहुंचने में ?''

''एक-डेढ़ घंटा लग जाता है। उत्तम नगर से विश्वविद्यालय की सीधी बस मिल जाती है। पहुंचने में कोई असुविधा नहीं होती।''

बाबा के इस अंदाज से बातचीत करने में कितनी आत्मीयता और वात्सल्य भरा हुआ है- यह मैंने उनके व्यवहार से जाना।
फिर मैंने पूछा- ''आपके पास एक-दो दिन पहले गुरूजी (विश्वनाथ त्रिपाठी) का फोन आया होगा। वे बता रहे थे कि डॉ. साहब से खाने की बात हो गयी है।''
रामविलासजी मुस्कराते हुए- ''हां, एक तो कल आया था, और उससे पहले भी दो-तीन बार आ चुका है। एक दिन विश्वनाथ त्रिपाठी फोन पर कह रहे थे, कि मैं आपके हाथ की बनी रोटी खाना चाहता हूं। हमने कहा-ठीक है, तुम जब आना चाहो आ जाओ। हम तुम्हें अपने हाथ की बनी रोटी खिलाएंगे।'' उन्होंने कहा कि- ''मैं भी अपना खाना खा लूंगा।'' मैंने कहा-ठीक है, ''तुम मेरी रोटी खा लेना, मैं तुम्हारा खाना खा लूंगा।''
बातचीत के क्रम में बाबा ने बताया कि एक दिन और विश्वनाथ त्रिपाठी का फोन आया था। कह रहे थे कि- ''एक दिन जसवीर फोन पर मुझसे अपने 'वायवा' के विषय में पूछ रहा था। मैंने थोड़े अनमने भाव से उससे बात की, क्योंकि उस समय घर पर मेरे दामाद आये हुए थे। आप उसे मेरी तरफ से समझा देना।''
''अभी तो आप अपनी आत्मकथा वाला काम कर रहे होंगे ?''
''तुम ठीक कह रहे हो। आजकल हम आत्मकथा का तीसरा खंड दोहरा रहे हैं। उसने हमारा काफी समय ले लिया। तीसरे भाग में चिट्ठी-पत्री हैं। उसमें हमारे सन् 1932-33 से अब तक पारिवारिक लोगों को लिखे गए पत्रों का संकलन है। उसमें सबसे ज्यादा पत्र हमने अपने बड़े भाई को लिखे हैं। हमने उन सभी पत्रों की 'फोटोकॉपी' कराई है। 'फोटोकॉपी कहीं साफ, तो कहीं धुंधली है। सभी पत्रों को व्यवस्थित कर सिलसिलेवार क्रम में लगाना है।''
मैंने बाबा के अध्ययन-कक्ष में चारों ओर निगाह दौड़ाई। देखा कि कक्ष में पुस्तकों की प्रधानता है। हर कोने से कोई छोटी-बड़ी, नयी-पुरानी मोटी-पतली पुस्तक मंद-मंद मुस्करा रही है। पुस्तकों के असीम भंडार के पास ही-मैंने 'वेटलिफ्टिंग' की एक 'रॉड' रखी हुई देखी। मैं कुछ समझ न सका। आखिरकार अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए मैंने उनसे पूछ ही लिया- ''आप इसका क्या करते हैं? उन्होंने जोशीले स्वर में कहा- ''हम जब व्यायाम करते हैं, तब इसका प्रयोग करते हैं। मैंने पूछा- ''क्या मैं इसे उठाकर देख सकता हूं ?''
उनका जवाब था- ''हां-हां, नेकी और पूछ-पूछ।''
मैंने उसे उठाकर देखा तो महसूस हुआ कि उसमें अच्छा खासा वजन है। फिर उन्होंने मेरी आंखों के सामने उस वजनदार 'रॉड' को इस अंदाज में उठाया- जैसे कोई पारंगत 'वेट लिफ्टर' उठाता है। और बोले- ''हम इस तरह से व्यायाम करते हुए इसे उठाते हैं।'' 83 वर्ष की अवस्था में उन्हें 'वेटलिफ्टिंग' करते हुए देखकर मैं हतप्रभ रह गया। मैंने पाया कि 'वार्धक्य' शब्द रामविलासजी के शब्दकोश में नहीं है।
मैंने बाबा को बताया कि त्रिपाठी सर ने मेरे मित्र नीरज को भी मेरे 'वायवा' के संदर्भ में फोन किया था, कि मुझे सूचना पहुंचा दें।

मेरी बात सुनकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा- ''कि इसका मतलब है कि तुम्हारे गुरूजी ने कई लोगों को फोन किया है। इससे पता चलता है, कि विश्वनाथ त्रिपाठी अपने छात्रों का विशेष ध्यान रखते हैं। यह गुण उन्होंने अपने गुरू आचार्य हजारी प्रसाद, द्विवेदीजी से पाया होगा।''

जिस लहजे में उन्होंने गुरु-शिष्य के संबंधों पर इतनी सटीक, मार्मिक टिप्पणी की, उसे सुनकर मैं थोड़ा भावुक हो गया।

मैंने कहा- ''नीरज ने मुझे बताया था कि गुरुजी ने बाबा को भी फोन किया है, ताकि तुम्हें सूचना मिल सके। इसलिए मैं आपके पास चला आया कि आप परेशान न हों, मुझे सूचना मिल गई है।''

यह सुनकर बाबा बोले- ''अच्छा तो अपने मित्र से सारी बातें जानकर आ रहे हो, असली बात यह है। कहकर उन्होंने जोर का ठहाका लगाया।'' मैंने अनुभव किया कि कमरे में उनकी हंसी के साथ-साथ मेरी हंसी भी गुंजायमान हो उठी है। जब वे हंसते हैं, तब उनकी निश्छल हंसी दूसरों को भी अनायास अपनी ओर खींच लेती हैं।

20 **जनवरी**, **1996**

मुझे कुछ पुस्तकें बाबा को देनी थीं। मैं शाम को सात बजे उनसे मिलने गया, और पुस्तकें उन्हें सौंप दीं। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा- ''आज कई लोग मिलने आए थे। मुझे लोगों से मिलने में कोई परेशानी नहीं होती। परेशानी उस समय होती है जब लोग अपनी पुस्तक पढ़ने को देते हैं फिर उस पर मेरी प्रतिक्रिया मांगते हैं। यह सब मैं, अब नहीं कर सकता। मेरे पास समय नहीं बचता दूसरी चीजें पढ़ने का। मैं अपने काम में ही बहुत व्यस्त रहता हूं।''

मैंने पूछा- ''बाबा, आप जब कोई पुस्तक लिखते हैं, तो उसकी तैयारी कैसे करते हैं ?''

मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा- ''देखो, पुस्तक लिखने का हमारा अपना ढंग है- जैसे हमें तुलसी पर लिखना है, तो सबसे पहले हम तुलसीदास का संपूर्ण साहित्य पढ़ेंगे। पढ़कर उनके विषय में अपनी एक राय बना लेंगे। उसके बाद हम उन लेखकों को पढ़ते हैं- जिन्होंने तुलसी पर लिखा है। जैसे तुलसीदास पर आचार्य रामचंद्र शुक्लजी ने लिखा है- वह पढ़ लिया। फिर अन्य लेखकों द्वारा तुलसीदास पर लिखा हुआ पढ़ेंगे। उसके बाद हम लोगों से बातचीत करते हैं। इस विषय में आपकी राय क्या है ? उन लोगों की राय को अपनी राय से मिलाकर देखते हैं, कि इनके और हमारे दृष्टिकोण में क्या फर्क है ? उसके बाद हम पुस्तक लिखते हैं। इसी प्रकार जैसे हमें आजकल में 'बाबर' पर लिखना है, तो पहले हम यह देखेंगे कि उसकी 'ओरिजनल राइटिंग्स' कहीं पर है या नहीं। उसको पढ़ते हैं। लेखक क्या सोचता है ? उसकी अपनी विचारधारा क्या है ? उसका देखने-समझने का दृष्टिकोण कैसा है ? इन सब विषयों को जान लेने के बाद हम अपना काम करते हैं। जीवन में खूब सारी चीजें हैं- उन्हें देखना चाहिए, समझना-परखना चाहिए। किसी भी विषय पर स्वयं को पूरी तरह से कस लेना चाहिए। तब ही लिखना सार्थक होता

है।'' उनका दृष्टिकोण जानकर बहुत अच्छा लगा और लिखने-पढ़ने की एक नवीन प्रेरणा व सीख प्राप्त हुई।

10 अक्तूबर, 1997

आज बाबा रामविलासजी का जन्मदिन है। शाम को उनसे मिलने गया। उस समय वे अपने कमरे में थे। बाबा ने आधे-बांह की आसमानी रंग की कमीज और गहरे नीले रंग की पैंट पहने हुए थे और पैरों में कैनवास के जूते थे। खूब सुंदर लग रहे थे। उन्हें देखकर-लगता ही नहीं, कि वे 85 वर्ष के हो गए हैं।

अपने हाथ से बनाया हुआ एक 'ग्रिटिंग कार्ड' मैंने उन्हें दिया। उन्होंने मुझे रसगुल्ले खिलाए। बाबा की स्मृति भी विलक्षण है। उन्हें घटनाएं संदर्भ और प्रसंग खूब याद आते रहते हैं। उन्होंने बताया कि- ''मेरे एक जन्मदिन पर तुमने फूल पत्तियां लगाकर एक 'ग्रिटिंग कार्ड' बनाया था।'' सुनकर मुझे लगा, और अचरज भी हुआ कि उन्हें छोटी-से छोटी बात भी इतनी याद रहती है।

''आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?''

'गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं पुस्तक पर काम चल रहा है। आजकल हम गांधी बाबा पर लिख रहे हैं।' गांधीजी के साहित्य के अस्सी 'खंड' हैं। उनमें चिट्ठियों का संग्रह ज्यादा है। एक बार उन सभी 'खंडों' पर नजर मार लेना जरूरी है। एक सज्जन निरालाजी पर काम कर रहे हैं, उनका नाम जर्नादन द्विवेदी है। जो निरालाजी पर काम करेगा, वह हमारा दोस्त हो जाएगा। उन्होंने गांधीजी को खूब पढ़ा है। उनके पास गांधी जी का संपूर्ण साहित्य व्यवस्थित रूप में है। उन्होंने अस्सी 'खंड' मुझे अध्ययन के लिए ला दिए। गांधीजी में एक अच्छी आलोचक बुद्धि थी। उनमें वर्णन-क्षमता अदभुत है। वे दक्षिण अफ्रीका जा रहे हैं। जहाज जब हिलता है, तो मेज, कप-प्लेट कैसे हिलती हैं ? इसका बहुत सुंदर वर्णन गांधी जी ने किया है। गांधीजी जब किसी की धज्जियां उड़ाने पर उतरते हैं, तो उन्हें रोकना और उनसे वाद-विवाद करना बड़ा मुश्किल है। अंग्रेजी राज के बारे में जो हम सोचते हैं- वही सब उन्होंने दो 'पेज' में कह दिया है। गांधीजी सहज सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी अंग्रेजी काफी अच्छी है। उसे आसानी से समझा जा सकता है। पहले हम गांधीजी के बारे में कुछ अलग सोचते थे, अब दूसरे तरीके से सोच रहे हैं। गांधीजी अंदर से काफी दिलचस्प आदमी थे। उनके साहित्य के अस्सी 'खंड' हैं। अंबेडकर और लोहिया के साहित्य के पंद्रह-बीस 'खंड' हैं। हमने इन्हीं पर काम करना ज्यादा उचित समझा, क्योंकि आजकल जो राजनीति हो रही है, उसके नेता इन्हीं दिग्गजों से प्रेरित होकर राजनीति करते हैं। इन सभी नेताओं का प्रभाव समकालीन राजनीति पर है।''

फिर बाबा राजनीति से हटकर साहित्य की बात करने लगे। उसी क्रम में उन्होंने कहा- ''विष्णु चंद्र शर्मा 'सर्वनाम' पत्रिका निकालते हैं। वह पत्रिका हमारे पास भी आती है। उसके एक अंक में विश्वनाथ त्रिपाठी ने एक लेख लिखा है, कि किस प्रकार आचार्य

हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी अंतिम यात्रा रेल में की थी। वह लेख बहुत मार्मिक है।''

मैंने अपने हाथ से बना जो 'ग्रिटिंग कार्ड' बाबा को दिया था- उसमें 'द हिंदू' अखबार से कुछ चित्र काटकर चिपकाए थे। कार्ड को देखकर वे बोले- ''हमारे पास 'द हिंदू' अखबार की कतरनों का एक अच्छा संग्रह है। वह एक अच्छा अखबार है, उसमें संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य आदि विषयों पर खूब अच्छा लिखा जाता है। दक्षिण के संगीतज्ञ हैं- त्यागराज जैसे- हमारे यहां तानसेन हैं वैसे ही दक्षिण में त्यागराज हैं। उत्तर भारत के अखबार, फिल्म और फिल्मी कलाकारों पर ज्यादा लिखते हैं, लेकिन दक्षिण भारत का 'द हिंदू' अखबार ललित कलाओं पर अधिक केंद्रित होता है। कभी-कभी उसमें उत्तर भारत पर भी अच्छी सामग्री होती है। दक्षिण के लेखक खूब यात्राएं करते हैं। वे 'फोटोग्राफी' भी लाजवाब करते हैं।''

मैंने देखा घर में दिल्ली से बाहर के कुछ पारिवारिक सदस्य भी जन्मदिन पर आए हुए हैं। हर कोई उनके संग अधिक से अधिक समय बिताना चाहता है। मुझे लगा कि अब चलने की अनुमति लेनी चाहिए। मैंने चरण-स्पर्श करते हुए एक बार पुनः कहा- ''आपको जन्मदिन की बहुत-बहुत बधाई।'' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा- ''जीते रहो, सदा खुश रहो।''

कथाकार-नाटककार सुरेंद्र वर्मा से एक बातचीत

विजय मोहन सिंह

''मैं नहाकर निकला तो पत्नी ने कहा कि बाहर के कमरे में कोई बुजुर्ग व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुझसे भी बुजुर्ग ? बाहर के कमरे में सोफे पर बैठे व्यक्ति कथाकार-नाटककार सुरेंद्र वर्मा थे। वे प्लेट में रखे सेब खा रहे थे जो मेरी पत्नी ने मेरे लिए काटकर रखे थे। सुरेंद्र वर्मा ने कहा यहां मेस में कोई फल नहीं था, किसी ने कहा तुम्हारे कमरे में मिल सकते हैं।'' ''खाओ, और भी हैं। आम और खरबूजे भी हैं।' ''नहीं बस।'' ''सुरेंद्र तुम्हारा नया उपन्यास कुछ दिनों पहले मिला है। पढ़ नहीं पाया हूं, कालिदास पर है ? ''हां कालिदास के जीवन पर है।'' 'कालिदास पर सामग्री कहां से मिली ? ऐतिहासिक तथ्य कुछ तो मिलते नहीं ?'' हां नहीं मिलते, पर मुझे मिले।'' कहां से ? यहां से, उसने माथा ठोंकते हुए कहा। यह मेरा कालिदास है, इतिहास का नहीं। मेरे सारे ऐतिहासिक पात्र मेरे अपने हैं, इतिहास के नहीं ?'' ''पर इसे प्रामाणिक कैसे माना जाएगा ?' रचना की प्रामाणिकता रचना में होती है, वैसे हरेक का अपना-अपना इतिहास होता है। वैसे व्यापक अर्थ में इतिहास भी एक मिथ है। औरंगजेब को क्रूर, नृशंस और हिंदू विरोधी शासक माना जाता है किंतु कुछ इतिहासकारों ने औरंगजेब के हिंदू मंदिरों के संरक्षण के लिए जारी किए गए फरमान पेश कर साबित करने की कोशिश की है कि वह संप्रदायवादी नहीं था।'' ''कालिदास से तुम कुछ ज्यादा ही आक्रांत दिखते हो, कोई खास बात ?'' हां मैंने बहुत पहले 'ऋतुसंहार' पढ़ा था और मैं चकित रह गया था, उसमें न कोई पात्र था, न नायक-नायिका और न कथा तत्व! फिर भी वह अदभुत काव्य कथा थी। मैंने पाया कि कालिदास जितने प्राचीन हैं उतने ही आधुनिक! वही तो परंपरा है, 'परंपरा की निरंतरता!' यह जानते ही, हम न प्राचीन रह जाते है न आधुनिक। कम से कम रचनाकार! ''सुरेंद्र क्या तुमने इतिहास से एम.ए. किया है ?' ''नहीं, भाषाशास्त्र में।'' ''फिर यह कालिदास

और संस्कृत साहित्य ?" भाषा ही तो साहित्य की ओर ले जाती है, भाषा से ही तो साहित्य बनता है, हां अगर कोई भाषाशास्त्री ही बनना चाहे तो और बात है। नोम चोमस्की मूलतः भाषाशास्त्री है, पर वह क्या केवल भाषाशास्त्री हैं ? मैं कालिदास की बात कर रहा था, कालिदास में भी तुम्हें अभिज्ञान शाकुंतलम् विशेष प्रिय है, तुम्हारे उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' में भी अभिज्ञान शाकुंतलम् छाया हुआ है, उसकी पूरी भाषा ही अभिज्ञान शाकुंतलम् से गुंथी हुई है, वह जैसे उसी से ऊर्जा प्राप्त कर रही है। उसमें अनेक पात्र उसे उद्धृत करते हुए ही बोलते-बतियाते हैं। "भाषा अपने आप तो बनती नहीं, परंपरा उसे बनाती है, जहां नहीं बन पाती वह रचना की भाषा नहीं बनती, वह पराई और चुराई हुई भाषा बन जाती है।" इसके अलावा 'मुझे चांद चाहिए' के सभी पात्र, 'अभिनेता-अभिनेत्रियां' हैं। अभिनेताओं की (यदि वे सही अर्थों में अभिनेता होते हैं) तो विडंबना होती है कि वे केवल मंच पर ही नहीं, जीवन में भी अपने पात्रों का जीवन जीने लगते है। कभी-कभी उन पात्रों का अंत भी उनका अपना अंत बन जाता है। क्या इसलिए कैलिगुला नाटक का अंत 'मुझे चांद चाहिए' के नाटक का अंत बन जाता है ? हां, शायदः पर मुझे पहले ऐसा पता नहीं था। संभवतः यहीं उपन्यास में कैलिगुला और कालिदास एक साथ खड़े नजर आते हैं ? हां, शायद, पर यह मैंने जानबूझकर नहीं किया- वे शायद दोनों एक साथ मेरे भीतर थे। 'सुरेंद्र तुम के हिंदी के कुछ विरल कथाकारों में हो जिनमें परंपरा और आधुनिकता संयुक्त हो जाती है। सुरेंद्र वर्मा ने पानी के ग्लास से एक घूंट पानी लिया और छत की ओर देखने लगा। तुम्हारे नाटकों में एक ओर कालिदास हैं तो दूसरी ओर इतिहास का मुगलकाल 'कहां,' शकुंतला की अंगूठी और कहां "छोटे सैयद बड़े सैयद ?" हां है तो कालिदास से उतरा तो मुगलकाल पर अटका खास तौर पर औरंगजेब पर। औरंगजेब पर ही क्यों ? वह मुगलकाल का सबसे दिलचस्प, कठिन और जटिल बादशाह है, शुष्क तो बिल्कुल नहीं, जैसा माना जाता है। अकबर मुझे बिल्कुल भी आकृष्ट नहीं करता। वह बेहद नेक बादशाह था, सफल भी दूरदर्शी भी, पर अच्छा आदमी रचना के लिए अक्सर बहुत काम का नहीं होता। औरंगजेब का अपनी बहनों से बेहद दिलचस्प संबंध था, खासतौर पर जेबुन्निसा से। उसने उसे जिंदगी भर शादी नहीं करने दी, पर वही उसकी मनोचिकित्सक थी। वैसे आखिरी दिनों में जब औरंगजेब बहुत कट्टर और क्रूर होता गया तो जेबुन्निसा उसे शांत कर रहमदिल बनाती थी। इसी तरह औरंगजेब का बेटा अकबर-2 बहुत दिलचस्प चरित्र का था जिसकी ओर लोगों का (इतिहासकारों का) बहुत कम ध्यान गया है, मैं छोटे सैयद और बड़े सैयद के बारे में एक ट्रायोलॉजी लिख रहा हूं जिसमें अकबर-2 की दास्तान बयान की जाएगी। "किंतु तुम इतिहास की ओर इतना जाते ही क्यों हो, बार-बार लौटते हो और फिर जाते हो ?" राजेंद्र यादव भी प्रेमचंद की तरह यही कहते हैं कि मैं गड़े मुर्दे उखाड़ रहा हूं। किंतु चर्चिल कहता था कि तुम जितना पीछे जाते हो उतना ही आगे देख पाते हो। तो क्या तुम कुछ आगे देख पा रहे हो ? नहीं अभी तो कुछ भी नहीं। तुम अपने समय के बारे में भी कुछ सोचते हो ? हां सोच तो रहा हूं तभी तो यहां विश्वविद्यालय में हॉलोकास्ट पर शोध करने के लिए ही आया हूं, हां कारण व्यक्तिगत है, लेकिन विषय तो विश्वव्यापी है ? हां, लेकिन जो व्यक्तिगत है उसे नहीं बताऊंगा।

बाकी की बातें किंचित विश्रृंखल रूप से कुछ सोचते हुए, कुछ ख्यालों में सम्मिलित रूप से जवाब ढूंढते हुए हुई। "सुरेंद्र तुम मुख्यतः अपने को क्या मानते हो कहानीकार,

उपन्यासकार या नाटककार ? "नाटककार" कालिदास के कारण ? संभवत: कालिदास के माध्यम से आप केवल इतिहास में नहीं जाते, संस्कृति, परंपरा, सौंदर्यबोध, प्रकृति और जीवन के गूढतम प्रश्नों की ओर जाते हैं। अभिज्ञान शाकुंलतलम् केवल नाटक नहीं है वह पूरा युग है, पूरा युग-जीवन है कालिदास के बारे में जानने के लिए अभिज्ञान शाकुंतलम् सर्वोत्तम माध्यम है और कालिदास के माध्यम से हम जानते हैं कि उस युग का मनुष्य कैसे रहता था, क्या सोचता था, क्या खाता-पीता था, क्या पहनता था, व्यवस्था तथा प्रकृति से उसके कैसे संबंध थे। मुख्यत: प्रकृति से। तब का मनुष्य प्रकृति से अविच्छिन्न था। वह उसका अभिन्न अंग था। प्रकृति का तात्पर्य वनस्पतियां, लता-गुल्म, पशु-पक्षी, छोटे से छोटे जीव, जीवाणु।" एक तितली आदि किसी फूल पर बैठी है तो वह फूल क्या है, वह तितली किस प्रजाति की है, भारत में तितलियों की कितनी प्रजातियां हैं ? और यदि तितली उस फूल पर बैठी है तो उसका मकसद क्या है ? क्या उसे आहार चाहिए ? यदि वह अपने पंख तेजी से हिला रही है तो इसका अर्थ क्या है ? और यदि धीरे-धीरे परितृप्त भाव से परागपान करती हुई नन्हीं टहनी के साथ डोल रही है तो उस समय कोई झंझावात भी उसे उस पुष्प से विच्युत कर सकता है और यदि अभिज्ञान शाकुंतलम् की शकुंतला या प्रियंवदा लता-गुल्मों से मृगशावक से, बछड़ों से बातें कर रही है या उसकी मुद्राओं से भावभंगिमा से उनकी भाषा और आवश्यकताओं को समझ रही है तो वह केवल अति नाटकीय या अस्वाभाविक चित्रण चरित्र नहीं है। तब का मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध नहीं था और उसके विरुद्ध संघर्ष नहीं कर रहा था। वह 'मैन अगेंस्ट नेचर' नहीं था। तब किसी वड्र्सवर्थ को यह कहने की जरूरत नहीं थी कि व्हाट मैन हैज मेड ऑफ मैन ? शाकुंतलम् अपने समय का पहला विश्वकाव्य है। इसीलिए जब विश्व ने भारत को जाना, अभिज्ञान शाकुंतलम् को जाना तो वह फ्रांस गयी, जर्मनी गयी, जर्मन कवि गेटे उससे प्रभावित हुए उन्हें उससे रचना की प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त शाकुंतलम् रचना की दृष्टि से उत्कृष्टतम कृति है, इसकी प्रत्येक वस्तु का एक मोटिफ है, ऋषि का शाप, अंगूठी, दुष्यंत की विस्मृति सब कुछ! और उसका अंत जो सौंदर्य और श्रृंगार और प्रेम से आरंभ होकर संताप की पराकाष्ठा तक जाता है। मैं उसे उसी रूप में देखता हूं और लोगों को दिखाता हूं, लेकिन इसके लिए अतीत में जाने की क्या आवश्यकता ? अतीत हमेशा आकृष्ट करता है लेकिन क्यों? किसी मोह से बंधकर क्या तुम 'अतीत' मोह के शिकार हो ? नहीं ? 'अतीत मोह' और 'अतीत बोध' में अंतर है, हम अतीत को जानना चाहते हैं आगे बढ़ने के लिए, अतीत में जाना या अतीत को लाना नहीं चाहते। अतीत मोह एक बीमार और विकृत मनोवृत्ति है, जो लोग अतीत को लाना चाहते है पार्थिव रूप में, तो वे नहीं जानते कि अतीत मृत है। केवल परंपरा जीवित रहती है, वह निरंतर अहर्निश हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है। परंपरा के इस अविच्छिन्न प्रवाह को हम अवरूद्ध करके ही 'आधुनिक बनते है। इस रूप में आधुनिकता एक अवरोध है, वह विकास का पर्याय नहीं है। विकास परंपरा को अवरुद्ध करके नहीं हो सकता, वह परंपरा को समझकर उसके साथ-साथ होता है- यही 'परंपरा की आधुनिकता' है। परंपरा को समझकर उसे आत्मसात करके ही हम आधुनिक हो सकते है। इसलिए प्रत्येक देश की आधुनिकता उस देश की संस्कृति तथा परंपरा के संदर्भ में ही विकसित होती है। सार्वभौमिक आधुनिकता जैसी कोई चीज नहीं होती।

तुम इतिहास को क्या समझते हो ? इतिहास अखंड नहीं है वह काल के अखंड प्रवाह को खंडित करता है, विभाजित करता है और इतिहास तो लिखा नहीं जाता है, लिखवाया जाता है। प्रत्येक राजा और विजेता के साथ उसका अपना इतिहासकार होता था (अब भी होता है) वह जो भी लिखता था वह राजा के अनुकूल होता था तो फिर इतिहास का सच कहां गया ? विडंबना यह है कि हम इतिहास को ही प्रामाणिक मानते हैं। प्रामाणिक इतिहास तो मिथक होता है। मैं इतिहास को इसी रूप में देखता हूं। वही मेरा इतिहास बोध है और वही मेरा अतीत बोध, अतीत तो अमूर्त है और इतिहास एक गढ़ा गया झूठ जो अपने समय को क्षत-विक्षत करता हुआ आगे बढ़ता है, एक पंगु लोथड़े को विरासत के रूप में भविष्यकाल को सौंपता हुआ। अत: सत्य यह है कि मनुष्य अंतिम सत्य को कभी जान ही नहीं पाता। हर महान कृति इसलिए ट्रेजडी होती है- चाहे वह ग्रीक ट्रेजडी हो या भारतीय रामायण महाभारत। अत: यह कहना गलत है कि भारत में ट्रेजडी की कोई अवधारणा ही नहीं है। तुम बीच-बीच में उपन्यासों की ओर क्यों जाते हो ? क्योंकि हर विधा की अपनी सीमा और विशेषता होती है। नाटक एक अत्यंत कंप्रेस्ड तथा कंडेंस्ड विधा है। सामान्यत: यह 80 पृष्ठों में समाप्त हो जाते हैं, बाद में मंच पर अभिनेता, निर्देशक, दृश्य योजना, ध्वनि योजना आदि मिलजुलकर उसके अनेक अर्थस्तरों को खोलते हैं। अब रात के ग्यारह बज रहे थे और सुरेंद्र को सुबह पांच बजे उठकर नागपुर से फ्लाइट पकड़नी थी। मैंने सुरेंद्र वर्मा से कहा अब सो जाओ। (चूंकि यह बातचीत रिकार्ड नहीं की गई थी और बाद में मैंने इसे स्मृति के सहारे ही लिखा और स्मृति कोई न कोई चमत्कार करती है, इसलिए मेरी स्मृति ने भी यहां कोई न कोई चमत्कार जरूर कर दिखाया होगा।)

निरालाजी का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव: रामविलास शर्मा

*प्रस्तुत है मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा से कवि आलोचक **ओम निश्चल** द्वारा उनके जीवनकाल में की गयी लंबी बातचीत का एक अप्रकाशित अंश :*

रामविलास शर्मा हिंदी के उन दिग्गज आलोचकों में थे, जिनका घर शाम के वक्त मिलने-जुलने वालों के लिए खुला रहता था। उनके घर से थोड़ी ही दूर पर रहने के कारण, उनसे कई बार मिलना-जुलना होता था। पूछने पर वे यही कहते, जब भी आना हो, शाम के वक्त आ जाओ। मिलने पर कभी नहीं लगा कि हम एक ऐसे लेखक के सामने हैं, जिसके तर्कों के आगे बड़े-बड़े लेखकों की बोलती बंद हो जाती है। एक बार तमाम सवालों पर उनसे हुई बातचीत के दौरान एक ऐसा भी क्षण आया, जब वे कह बैठे, एक बार मेरी किताब 'घर की बात' देख जाओ फिर कुछ शेष हो तो पूछ लेना।

'निराला की साहित्य साधना' में आपने कहा है कि औसत प्रगतिवादियों और निराला में यह अंतर है कि अंग्रेजी राज में पूंजीवाद को कोसने वाले कविगण भारत के स्वाधीन होने पर समाजवाद की बातें भूल गए। अनेक लेखकों ने समाजवाद को तानाशाही का पर्याय मानकर तरह-तरह से पूंजीवाद का समर्थन किया।---ये कौन लेखक हैं ?

आप उन तमाम लेखकों को गिनें जो 1947 तक प्रगतिशील लेखक संघ के साथ थे और बाद में उससे अलग हो गए। ये सब इस तरह के लेखक हैं। एक नाम मुझे याद आता है जैसे बालकृष्ण शर्मा नवीन। रामधारी सिंह दिनकर क्रांति से कम की बात नहीं करते थे। सब सरकार से, ऐसे प्रतिष्ठानों से चिपक गए। ओज उनके शब्दों में ऊपर से दिखाई देता है। आज भी उनकी पुरानी कविताओं में ओज ऊपर से दिखाई देता है।

'नई कविता और अस्तित्ववाद' में आपने लिखा है कि नागार्जुन को गुस्सा कम आता है— यानी कविता में। परंतु मुझे तो ऐसा लगता है कि वे इस सदी के हिंदी के सर्वाधिक गुस्सैल और बिगड़ैल कवि हैं ?

इसमें टिप्पणी की जरूरत क्या है। बात बिल्कुल साफ है। पांच साल कम खाओ भैया गम खाओ दस पंद्रह साल। इसमें हंसी भी है, गुस्सा भी है। एक हंसी ऐसी होती है जिसमें व्यंग्य भी होता है। जो जनता का आक्रोश है, व्यवस्था के प्रति, वह नागार्जुन में बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुआ है- आओ रानी हम ढोएंगे पालकी/ यही हुई है राय जवाहरलाल की। अब ये पंक्तियां पढ़कर हंसी आती है, परंतु इसमें कितना आक्रोश है, क्रोध है कि यह स्वाधीन भारत है। यह उनके कहने का ढंग है। इस तरह का क्रोध दूसरे कवि में नहीं मिलता। यह आक्रोश हमेशा हास्य और व्यंग्य के साथ होता है।

संगीत की आपके जीवन में क्या भूमिका है। किस हद तक पसंद या नापसंद करते हैं ?

भीमसेन जोशी, मल्लिकार्जुन मंसूर दोनों को मैं पसंद करता हूं। मंसूर का गाना मुझे बहुत अच्छा लगता है। हर इतवार को संगीत के ऊपर बहस होती है आकाशवाणी में जिसे मैं अवश्य सुनता हूं, यह जानने के लिए कि संगीतकार क्या सोचते हैं। मेरा अनुभव यह है कि ये संगीतकार गाने की कला में तो निपुण हैं परंतु बातचीत की कला में उलझ जाते हैं। शायद वे स्वयं यह नहीं जानते कि वे क्या सोचते हैं।

क्लासिकल संगीत के बारे में क्या सोचना है आपका ?

यहां का क्लासिकल संगीत दरअसल क्लासिकल नहीं है। अधिकतर संगीत, खासकर जो ख्याल की गायकी है वह नवाबी जमाने की देन है और नवाबी जमाना सामाजिक पतन का जमाना है। साहित्य में जहां नायिका भेद है, वहीं पर आपके यहां ठुमरी और दादरा, ख्याल जरा उससे बड़े पैमाने पर है। ख्याल की गायकी मुझे अच्छी लगती है। ठुमरी-दादरा भी मुझे अच्छा लगता है। एक हद तक ब्रजभाषा की श्रृंगारिक कविता भी मुझे अच्छी लगती है लेकिन मैं समझता हूं, यह दायरा बहुत तंग है, इससे बाहर निकलना चाहिए।

ध्रुपद की गायकी आपको कैसी लगती है ?

ध्रुपद की गायकी को लोगों ने पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। यह बहुत अच्छा है। सुमति मुटाटकर की बातचीत सुनकर मुझे समझ आया कि निरालाजी जो अपने गीत गाते थे, वह ध्रुपद शैली में गाते थे। एक बात यह भी समझने की है कि सारी कविता जैसे लिरिक कविता है, जहां पर स्व स्फूर्त गेयता हो, आत्म निवेदन हो, कंपोजीशन हो, संरचना हो, प्रयत्न से संरचना न की गई हो तो जैसे कविता में यह बात चलने वाली नहीं है, वैसे ही संगीत में यह बात चलने वाली नहीं है। हमारे संगीत में जो कमी मालूम होती है, वह इसी संरचना तत्व का अभाव है। संगीत का भी स्थापत्य होता है। इसकी तरफ संगीतकार ध्यान नहीं देते। भारतीय संगीत में कहीं भी मुझे उदात्त तत्व दिखाई देता है तो वह ध्रुपद में दिखाई देता है। यह फतेहपुर सीकरी का बुलंद दरवाजा है। यह प्रबंध काव्य है। देखने में छोटा होता है लेकिन इसकी गति 'राम की शक्तिपूजा' की-सी होती है। उस स्तर पर संगीत का विकास करना चाहिए, लेकिन ध्रुपद से बंध नहीं जाना चाहिए। बहुत जगह सितार बजाने वाले ख्याल की नकल करते हैं। जो सामंती प्रभाव है वह अभी भी हमारे संगीत पर काफी हावी है।

कभी आप कला प्रदर्शनियों में भी गए हैं ?

मुझे चित्रकला से बहुत प्रेम है। जिन कवियों पर मैंने काम किया था, वे सभी चित्रकार कवि थे। उन दिनों मैं कला पर बहुत पढ़ता था, परंतु कला प्रदर्शनियों में जाने का समय नहीं मिलता। दूसरे चित्रकला में जो चीज मैं पसंद करता हूं, वैसी चीजें मुझे नहीं मिलतीं। मैं यथार्थवाद का समर्थक हूं। मैं चाहता हूं, लोग जो चीज सामने है, उसे देखकर बनाएं, उसकी हू-ब-हू नकल न करें।

मेरे पढ़ने के कमरे में एक मजदूर का चित्र लगा है। मेरी बेटी ने कोटा में नाचते हुए एक पैंसठ वर्षीय मजदूर का पेंसल स्केच मुझे भेजा था। वह मुझे बहुत अच्छा लगा था तो मैंने बिटिया से कहा कि तुम ये चित्र बना दो। लोग आज भी पूछते हैं उसके बारे में तो मैं कहता हूं कि यह कोटा के मजदूर का चित्र है। मैं संगीत के लिए भी यही चाहता हूं कि पहाड़ के ऊपर संगीत लिखा जाए। समुद्र के ऊपर संगीत लिखा जाए। मेंडेलेस्सां जर्मनी या आस्ट्रिया के हैं। वे स्काटलैंड गए। वहां एक लड़के से उन्हें प्रेम हो गया। वहां हैब्रिडीज द्वीपों के बीच बैठकर उन्होंने समुद्र पर संगीत बनाया। संयोग से वह सिंफनी तीन बार मैंने सुनी। मुझे बहुत अच्छी लगती थी। अपने देश में प्राकृतिक संपदा अपार है। कश्मीर पर, गंगा नदी पर, हरिद्वार के ऊपर संगीत रचना करनी चाहिए। संगीत की ये दिशाएं अछूती हैं। इस दिशा में उसका विकास करना चाहिए। तब आप देखेंगे कि संगीत साहित्य-कविता के कितना नजदीक है।

क्या नृत्य कार्यक्रमों में भी रुचि लेते हैं ?

हां, नृत्य हम देख लेते हैं। कुछ लोगों से मेरा परिचय भी है, लेकिन नृत्य के बारे में भी मेरा कहना यह है कि इसको नायिका भेद से बाहर निकालो। नृत्य में आज अभिनय ज्यादा पाया जाता है। नृत्य वह है जहां आप किसी कथा के बिना किसी चीज का अनुकरण करें। सिर्फ अपनी भंगिमाओं से कोई भाव प्रकट करें। मैंने उदयशंकर का नृत्य देखा है। वे सही अर्थ में नर्तक हैं। उन्होंने गरुड़ नृत्य किया था। लखनऊ में मैंने देखा था। मुझे अभी तक याद है। नृत्य, जहां भंगिमाओं से दृश्य ग्रहण किया जाए, ऐसे नृत्य जरा कम देखने को मिलते हैं।

आपकी रुचियां बचपन से अब तक किस ओर केंद्रित रही हैं ?

खेलकूद, संगीत, खाना-पीना।

घर की बात पढ़ने पर कुछ रोचक किस्से मिलते हैं। एक तो यही कि आपके भाइयों के घरेलू नाम कुछ अलग-अलग से हैं। जैसे चौबे, अवस्थी, मुंशी आदि। ये किसने रखे और इनका क्या अभिप्राय है ?

रामस्वरूप चौबे हैं क्योंकि सोते बहुत हैं। मुंशी दुबले-पतले हैं, पढ़ते बहुत थे, इसलिए बड़े भाई ने इनका नाम मुंशी रखा हुआ था, जो रमाशंकर अवस्थी हैं वह इसलिए कि एक

रमाशंकर अवस्थी थे कानपुर में। बड़े भैया उनके बहुत प्रशंसक थे तो पहले भैया ने इनका नाम बिगाड़कर रमाशंकर रखा, फिर रमाशंकर अवस्थी। बाद में केवल अवस्थी कहने लगे। मेरा घर का नाम कोई नहीं है।

एक मेले वाली घटना आप अक्सर सुनाते हैं बचपन की। वह क्या है ?

हां, बाबा ने सिखाया था कि कहीं खो जाना तो बता देना कि हवलदार लालताप्रसाद के नाती हैं। बता देना ऊंचगांव सानी के रहने वाले हैं तो कोई ढूंढ कर तुम्हें दे जाएगा। मेले में एक बार बाबा की उंगली पकड़े जा रहा था। पता नहीं, कब उंगली छूट गयी और मैं भटक गया। बहुत छोटा था मैं। रोने लगा। एक आदमी ने कहा कि क्यों रोते हो बेटा। मैंने कहा कि बाबा छूट गए हैं। उसने कहा, बाबा का नाम जानते हो। मैंने कहा, हां। उसने कंधे पर बिठाया और बाबा का नाम पुकारा। बाद में बाबा मिल गए।

गोष्ठियों में कम जाते हैं, इसकी कोई खास वजह ?

इसका उत्तर यह है कि मैंने कोटा पूरा कर लिया है। मैंने पूरे भारत का भ्रमण किया है। बहुत से शहरों में गोष्ठियां की हैं। भाषण दिए हैं। आदमी ने एक बार कहा तो दूसरी बार कहने की जरूरत नहीं पड़ती थी। कलकत्ते में तो लोग मजाक करते थे कि, ये दिन में तीन जगह भाषण करते हैं तो यह कार्य मैं सब जगह कर चुका हूं। हर काम की एक उम्र होती है। जीवन की परिस्थितियां होती हैं। सन् 68 से पत्नी बीमार रहने लगीं तो मेरे लिए बाहर जाना संभव नहीं था। पत्नी की देखभाल मेरे जिम्मे थी। बाद में यह आदत में शामिल हो गया कि बाहर जाना अच्छा ही नहीं लगता। दिल्ली युनिवर्सिटी में मैं अंतिम बार किसी सार्वजनिक गोष्ठी में गया था। परंतु गोष्ठियों की उपयोगिता मैं मानता हूं। यह अवश्य है कि मुझे समय नहीं मिलता।

यदि आप आलोचना के क्षेत्र में न आए होते तो क्या करते ?

मैंने इसके बारे में कभी सोचा नहीं। इसका उत्तर देना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि जो काम मैंने किया नहीं, उसके बारे में अनुमान से आदमी कहे कि हां, ऐसा मैं कर सकता था तो यह मेरे लिए तो बता सकना कठिन है, लेकिन अपना पुराना काम देखते हुए मैं यह कह सकता हूं कि जो बड़े से बड़े कथाकार या कवि हैं, उनका यश भी मुझे प्राप्त होने को हो तो मैं वह काम नहीं करूंगा। मैंने निराला पर लिखकर जितना आनंद प्राप्त किया वह किसी महाकाव्य के लिखने से मुझे प्राप्त नहीं होता।

आधुनिक कविता में निराला के निकट कौन से कवि हैं ?

जो छंद वाली रचनाएं हैं उसमें एक समय गिरिजा कुमार माथुर उनके बहुत नजदीक थे। 'नाश और निर्माण' में, 'तार सप्तक' में, 'धूप के धान' में, 'मेरी छाती पर रखा है साम्राज्यवाद का रक्तकलश, 'जो एशिया का नवजागरण है' उसमें राजनीति को लेकर उन्होंने जो उदात्त रचना की वह निराला की प्रतिभा का रचनात्मक प्रयोग है। वह

अनुकरण है, वहां से उन्होंने छंद की लय, शब्द की योजना ग्रहण की, लेकिन विषय बिल्कुल नया है। गिरिजा कुमार ये काम कर सकते थे और करते रहे हैं लेकिन वे अब दूसरे रास्ते पर आ गए हैं। मेरी उनसे बहुत बहस होती है। ये हमारे बहुत पुराने साथी हैं। जब ये पढ़ते थे तब से इन्हें जानता हूं और जो छोटे-छोटे छंद हैं, मुक्त छंद हैं, उसमें जिसने निरालाजी का सफल प्रभाव ग्रहण किया है, वह मेरी समझ में केदारनाथ अग्रवाल हैं। वह छोटे छंदों में भी ऐसा उदात्त भाव भर सकते हैं जो केवल निराला रच सकते थे। त्रिलोचन में भी निराला का प्रभाव अधिक है। एक सानेट में उन्होंने लिखा है, खाने-पीने को नहीं है, आगे चला जा रहा हूं लेकिन आंखों में रहे निराला। वह सानेट मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने पाया कि इस आदमी ने केवल कविता ही नहीं, उनके जीवन संघर्ष को भी आत्मसात किया है। मुक्तिबोध में कई जगह निरालाजी की प्रतिध्वनियां हैं, लेकिन वे बिल्कुल दूसरी दिशा के कवि हैं।

यों तो आप एक सहज लेखक हैं लगभग निरभिमानी। फिर भी कोई प्रोटोकाल अपने लिए निर्धारित किया है क्या ?

'जिन लेखकों के बीच मैं रहा हूं उनका व्यवहार लगभग वैसा ही है जैसा कि मेरा है। निरालाजी के यहां कभी किसी को समय लेने की जरूरत नहीं पड़ती थी। कुंडी खटखटाई और वो हुए तो भीतर आ गए और बात करने लगे। उनके यहां लोग आते ही रहते थे। प्रेमचंद के बारे में कहा जाता है कि वे नित्यप्रति सवेरे लिखा करते थे, लेकिन लिखने के समय भी कोई आ जाता तो कलम उठाकर रख देते थे और उससे बात करते थे। गोर्की ने कहीं पर लिखा है या कहीं पर उनके बारे में किसी ने बताया है कि रूसी लेखकों की यह परंपरा रही है कि उनसे बातचीत करने के लिए कभी किसी को समय निश्चित करने की जरूरत नहीं पड़ती थी और वो कितनी देर बात करेंगे यह भी अनिश्चित ही रहता था तो गोर्की में यह बात थी। यह तो बड़े-ब़ड़े लेखकों का हाल है। हम तो छोटे लेखक हैं। कोई आ जाए। मैं तो यही सोचता हूं दिल्ली में इतनी दूर मोहल्ले हैं। बेचारे इतनी दूर से आते हैं और मैं यह कह दूं कि मेरे पास समय नहीं है तो यह अच्छा नहीं है। दूसरा, अपने पास फालतू समय बहुत है। सवेरे हम जरूरी काम करते हैं। दोपहर के बाद सोते हैं और शाम को कोई भी आ जाए, उससे अपना क्या बिगड़ता है ? ऐसे में बातचीत करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती।

तीज त्यौहार

शैलेंद्र सागर

रामपुर प्रवास के दौरान मेरी आंख शहर की अजान या पास के शिवमंदिर में बजती घंटियों से खुली। लंबे अरसे बाद हुआ यह अनुभव भी कुछ नवीनता और कौतुक के साथ लौटा है। इतने सालों से बड़े शहरों में रहने के बाद मुझे लगता ही नहीं था कि इक्कीसवीं सदी में भी अलसुबह लाउडस्पीकर पर नमाज की अजान दी जाती होगी या भोर में मंदिरों में घंटे घड़ियाल पीटे जाते होंगे। शायद ये सब बड़े शहरों में भी होता होगा, पर उनका शोर एक क्षेत्र विशेष तक सीमित रह जाता होगा। महानगरों का भीमकाय फैलाव, जिंदगी में रोजी-राटी की आपाधापी, सामूहिकता का ह्रास और निजता का बढ़ता प्रभाव शायद काफी आबादी को ऐसी धार्मिक मतांधता व उन्माद से दूर रखता है। कम से कम रोजमर्रा की जिंदगी पर उसका कोई खास असर नजर नहीं आता। मुझे लगता है कि आधुनिक जीवन और समाज की यही स्थिति लोगों की विचारधारा को अधिक व्यापक और उदार बनाती है और मेट्रो संस्कृति के विकास में सहायक होती है। विभिन्न धार्मिक पर्वों पर जो उत्साहातिरेक दिखलाई देता है, उसमें श्रद्धा और आस्था कम, उत्सवधर्मिता अधिक होती है। कभी इसके पीछे राजनीतिक निहितार्थ देखे जा सकते हैं तो कभी सामाजिक सेवा का ढोंग जिसके बारे में मैं ऊपर लिख चुका हूं। आम लोगों के लिए यह छुट्टियां मनाने, घूमने-फिरने, शॉपिंग करने, अच्छा खाने-पीने और मिलने-जुलने का अवसर होता है जिससे लोगों को अपने तनावग्रस्त, अतिव्यस्त और भागदौड़ वाले जीवन में राहत और सुख का अहसास हो।

त्यौहारों को लेकर अपने बचपन और किशोरावस्था की अनेक स्मृतियां आज भी मेरे अंदर सचित्र, सजीव मौजूद हैं। हमारा परिवार पारंपरिक अर्थों में धार्मिक नहीं था। दीपावली को छोड़कर बाऊजी को मैंने कभी पूजा करते नहीं देखा। न ही वह मंदिर जाया करते थे। हालांकि वह नास्तिक नहीं थे पर धार्मिक कर्मकांडों में उनका कतई यकीन नहीं था। दीपावली पर वह हमारे साथ पूजा के लिए जरूर बैठते थे और शायद वही हमारे परिवार की सामूहिक पूजा का इकलौता दिन होता था। अम्मा जरूर स्नानादि से निवृत्त होकर बरामदे की अलमारी के एक खाने में बने पूजाघर के सामने पटरे पर बैठकर या कभी खड़े-खड़े हाथ जोड़तीं और हनुमान चालीसा का पाठ करतीं। अम्मा बतलाती थीं कि नाना ने अपने सब बच्चों को बहुत छोटी उम्र में ही हनुमान चालीसा कंठस्थ कराई थी। इस पूजा-पाठ में उन्हें लगभग पांच मिनट लगते। मंदिर जाने में उनकी भी कोई विशेष रुचि नहीं थी। इसीलिए बचपन में हम बहुत कम मंदिर जाते थे। व्रत के नाम पर अम्मा जन्माष्टमी, करवाचौथ और अगोही आंठें पर उपवास रखतीं जिसमें जन्माष्टमी तो मेवे, गिरी, खीर, खोए की मिठाइयां और फल खाने का रोमांचक दिन होता था जिसका हम भी पूरे उत्साह से प्रतीक्षा करते थे।

आज सोचता हूं कि जिस परिवार में महीने में एक या दो फिल्में नियमित तौर से देखी जाती थीं, वहां मंदिर जाए बिना सालों बीत जाते थे। इस मायने में हमारा परिवार एक अपवाद ही था। हमारे मित्रों, पड़ोसियों और परिचितों के यहां पूजा-पाठ का विस्तृत और गहरा चलन था। उमेश के माता-पिता प्रतिदिन मंदिर जाते, जल व प्रसाद चढ़ाते और घर में भी एकाध घंटा पूजा में लगाते। संध्या को दीप जलाया जाता। चाचाजी की पूजा के दौरान घर में सन्नाटा छाया रहता। उनके जाप-पाठ का स्वर पूरे घर में गूंजता। सब लोग फुसफुसाकर बतियाते, मुंह बंदकर हंसते और या अपने-अपने कार्यों में डूबे नजर आते। घर में घुसते ही मुझे पता चल जाता कि चाचाजी पूजा में बैठे हैं।

शुरुआत में मुझे काफी अटपटा सा लगता पर जल्दी ही मैंने देखा कि हमारे ज्यादातर दोस्तों के यहां कमोबेश यही हालत है।

हमारे घर में ऐसी खामोशी बाऊजी के लेखन के दौरान होती थी। वैसे भी उनकी मौजूदगी में हम बच्चों को सांप सूंघा रहता पर तले ऊपर के पांच बच्चे देर तक खामोश और बिना झगड़े के रह सकें, ये भी तो मुमकिन नहीं था। बाऊजी के नाम पर धमका कर अम्मा हमें चुप करा देतीं पर कभी न कभी मुकदमा उन तक पहुंच ही जाता था, तब अक्सर दोनों पक्षों को समान दंड का भागीदार बनना पड़ता।

हिंदुओं में पर्वों की एक लंबी श्रृंखला है और प्रायः हर दिन ही किसी न किसी त्यौहार से जुड़ा है। इसी प्रकार उपवासों की सूची भी खासी लंबी है। एकादशी, प्रदोष व्रत, सोमवारी व्रत, आरोग्य व्रत, चतुर्दशी व्रत, पूर्णिमा व्रत, शिवरात्रि व्रत, श्रीदुर्गाष्टमी व्रत, कालाष्टमी व्रत, श्री सीताष्टमी व्रत, दशमाता व्रत, नवमी, श्री गणेश चतुर्दशी व्रत, अशून्यशयन व्रत, पंचमी व्रत आदि। इसके अलावा कई परिवारों में सोम, मंगल, बृहस्पति और शुक्रवारों में से दो एक दिन स्थायी रूप से उपवास के होते थे।

हमारा परिवार इन व्रतों से पूरी तरह दूर था।

हमारे यहां साल की शुरुआत वसंतपंचमी से होती थी। जब छोटे थे तो हमारी कमीजें पीले रंग से रंगी जाती और वही पहनकर हम स्कूल जाते। दसवीं के बाद हमें पीली कमीज के बदले बाऊजी की तरह पीला रूमाल दिया जाने लगा, हालांकि उन दिनों हम रूमाल कहां रखते थे। खाने में मटर, गोभी की पीली तहरी बनती जो हमें बेहद पसंद थी। पानी गर्म करने वाले बड़े भगोने में तहरी बनती थी। पर पांच बच्चों द्वारा चट करने के बाद अम्मा के लिए कुछ बच जाए, यह अजूबा ही था। कुछ घरों में उस दिन सरस्वती पूजन भी होता था पर हम इस कवायद से बचे हुए थे।

आज के बच्चों अथवा किशोरों को इस पर्व के बारे में शायद ही कुछ पता है। अपनी पाठ्य-पुस्तकों में वसंतपंचमी पर लेख या कविता पढ़कर कुछ बच्चे तो यह मानते हैं कि यह गर्मी-सर्दी का मिला-जुला मौसम है। वैसे भी वो त्यौहार ही क्या जिसमें स्कूल की छुट्टी न हो? हमारे लिए त्यौहारों की अहमियत उससे जुड़े अवकाशों की संख्या से तय होती थी। होली, दीवाली इसलिए बड़े और खास त्यौहार हैं क्योंकि उसमें स्कूल दो या तीन दिन के लिए बंद रहता है।

होली का पर्व उत्तर भारत में सदैव विशिष्ट रहा है और आज भी है। रंगों के इस त्यौहार में जितनी उमंग, चहक और उल्लास दिखलाई देता है, वह अनूठा और अप्रतिम है। यह त्यौहार आज भी हिंदू समाज को उसी तरह आह्लादित और रोमांचित करता है जैसे पहले किया करता था। यह उत्साह आज की युवा पीढ़ी में भी देखा जाता है। गांव, कस्बे, नगर, महानगर गरज यह कि सभी इलाकों में होली की धूम रहती है।

वक्त के साथ जहां एक ओर इसमें अनेक विकृतियां आई हैं, वहीं दूसरी ओर इससे जुड़े अनेक रीति-रिवाज, परंपराएं व कर्मकांड प्रायः लुप्त हो चले हैं। होली अकेला ऐसा त्यौहार है जिसकी अनुगूंज पंद्रह, बीस दिन पहले से महसूस होती है। वसंतपंचमी के दिन जब होलिका दहन के लिए चौराहों और मुहल्लों में होलिका सजाई जाती है, गांव और कस्बों में लोग होली की तैयारी में जुट जाते हैं। आज की तरह पहले भी होलिकादहन के लिए चंदा किया जाता था पर बच्चे और किशोर इससे कहां संतुष्ट होते थे। बाहर पड़ी बांस की चारपाइयां, पुराने दरवाजे, लकड़ी के गट्ठर, टाल की लकड़ी, गरज यह कि होलिका दहन में कुछ भी स्वाहा कर दिया जाता और एतराज करने पर 'बुरा न मानो होली है' का उदघोष गूंजता रहता।

हमारे घर में हफ्ते, दस दिन पहले अम्मा गुझियां, अनरसे, मीठे नमकीन सेव, दो-तीन तरह की दालें तैयार करने में जुट जातीं। गुझियां बनाने का काम खासा दिलचस्प होता, क्योंकि इसमें हम सब भाई बहनों की भागीदारी होती। दोपहर और रात का खाना बनाने के बाद अम्मा गुझियां बनाने बैठ जातीं। हम दोपहर में स्कूल से लौटते तो अम्मा के साथ गुझियां बनाने में सहयोग करते। बीच-बीच में अम्मा की नजर बचाकर गुझियां के अंदर भरने वाले खोए और सूजी का मिश्रण फांकते रहते। भाई, बहन एक-दूसरे की शिकायत करते और एक-दूसरे के काम में दोष निकालते। हमारा काम गुझियां भरना या

उसे गुठनियां से तराशना होता था जिसमें हमें बहुत मजा आता। अक्सर हम बच्चों का हाथ हिल जाता और गुठनियां किनारे से हट कर भरे वाले हिस्से पर चली जाती। तब हम अम्मा से एक-दूसरे की चुगली करते। अम्मा नाराज होतीं, उस गुझियां को नष्ट किया जाता, क्योंकि तलने पर वह पूरे कढ़ाई के घी को गंदा कर देती और साथ तली जा रही गुझियों पर काले निशान पड़ जाते। अक्सर उन्हें सेंकने का काम रात के खाने के बाद होता। पूरे दिन हम उस वक्त का इंतजार करते क्योंकि गर्म-गर्म गुझियां खाने में कुछ और ही स्वाद व रस आता था। कम से कम टीन के दो बड़े कनस्तर भर कर गुझियां तैयार की जातीं, जिन्हें होली के दिन तक बचाना मुश्किल हो जाता। होली के अगले दिन शाम तक अक्सर उनकी तलहटी नजर आने लगती।

तीन-चार दिन पहले बेसन के मोटे, पतले नमकीन, गुड़, चीनी के सेव तैयार किए जाते। चावल को भिगो और पीसकर अनरसे बनाए जाते और मूंग, चने और काली मसूर की दालें तली जातीं। दो दिन पहले लाल गाजर व राई की कांजी तैयार की जाती, जिससे होली के दिन तक घर खाने-पीने की चीजों से भरा रहता और हमारा मन बड़ा प्रफुल्लित और तृप्त अनुभव करता।

आज भी उन दिनों के बारे में सोचकर मुझे बड़ा रोमांच होता है। वर्तमान में परिदृश्य पूरी तरह बदला हुआ है। बड़े शहरों में बहुत कम घरों में ये सब बनाया जाता है। न किसी के पास इतना धैर्य व समय है और न इतना झमेला करने की चाहत। अब ये चीजें बाजार में मिठाई की दुकानों पर उपलब्ध हैं जबकि मेरे बचपन में गुझियां वगैरह बाजार में नहीं मिलती थीं। जैसे दीवाली पर बाजार से मिठाई मंगाई जाती है, वैसे ही होली पर अपने पसंद की चीजें मंगा ली जाती हैं। जाहिर है कि आज की पीढ़ी उस रोमांच से वंचित है जो हमें उद्वेलित और उल्लासित करती थी।

इस खाने-पीने के बीच हम बच्चों को एक और काम भी सुपुर्द किया जाता जो मुझे बड़ा अप्रिय और घिनौना लगता था। घर में होलिका पूजन के लिए गोबर की गुलहरियां बनानी होती थीं। गोल, बीच में छेद वाली गोबर की गुलहरियां बनाना हम बच्चों का काम होता और इससे भी ज्यादा गंदा काम होता गोबर को जमा करके लाना। मुहल्ले में अगर किसी के घर गाय या भैंस होती तो उसके यहां गोबर लेने वालों की लाइन लग जाती और उस घरवाले के तेवर बदले हुए होते। घर के आदमी, औरतें बच्चों को झिड़कते, कभी ताने भी मारते, 'वैसे तो तेरी अम्मा सीधे मुंह बात नहीं करती और गोबर लेने चला आया।' या 'उस दिन शकर लेने गई थी तो पेशकारनी ने कैसा मुंहफट मना किया था और आज यहां भेजते हुए शरम न आई।' और न जाने क्या-क्या और हम बच्चे टूटी बाल्टी या कोई डिब्बा लिए आंगन में पड़े गोबर को याचक मुद्रा में बड़ी ललचाई नजरों से देखते।

उन दिनों स्कूल से लौटते हुए आसपास कहीं गोबर पड़ा दिख जाता तो भागे-भागे घर आकर अम्मा को बतलाते और उस पर काबिज होने के मिशन पर निकल जाते

जिससे उसे कोई और न हथिया ले। इसी उत्साहातिरेक में एक बार दादा गोबर की जगह मल जैसा कुछ ले आया था। किसी ने ठीक कहा है कि घूरे के भाग भी पलटते हैं।

गुलहरियां धूप में सुखाई जातीं और फिर सुतली में पिरोकर उनकी मालाएं बनाई जाती। धुल्हेड़ी से एक दिन पहले रात में होली की पूजा होती। दरअसल यही मुख्य पर्व भी होता, जिसकी जानकारी अब अधिकांश युवाओं को नहीं है। घर के आंगन में आटे से रंगोली सजाई जाती और उस पर गुलहरियां सजाकर होलिका तैयार की जाती। गन्ने और जौ की बालियां मंगाई जातीं। होलिका दहन का समय पंडितजी द्वारा तय किया जाता। कभी यह शाम के सात-आठ बजे होता तो कभी मध्यरात्रि में होलिका दहन संपन्न होता। बाऊजी और हम तीन भाई गन्ने में जौ बांधकर और अग्नि के लिए लंबे हैंडिल वाला पौना लेकर होलिका दहन के लिए जाते।

गलियां संकरी होतीं और उसमें उठती होलिका दहन की लपटें विशाल और भयावह। होलिका मैया के सात चक्कर हमें लगाने होते जो हम दौड़-दौड़कर बचते-बचाते पूरा करते। बदन में तेज जलन होती और कई बार तो हमारे हाथों के रोएं तक झुलस जाते। बाऊजी के निधन के बाद तो हम तीनों भाई मिल बांटकर सात चक्कर पूरा करते। जाहिर है कि सबमें छोटे गगन को तीन चक्कर लगाने पड़ते।

हम लोग जौ भूनकर सबसे पहले बाऊजी को देते और उनके पैर छूते फिर मुहल्ले के अन्य बुजुर्गों से आशीर्वाद लेते। हमउम्र साथियों से गले मिलते। सूखे रंगों का प्रयोग आरंभ हो जाता और होली के हुड़दंग की लगभग शुरुआत हो जाती। बच्चे इधर-उधर भागते, दौड़ते और खूब शोर मचाते। रात भर लाउडस्पीकर पर होली के गीत व फिल्मी गाने बजते। लोग जमकर नाचते। 'होली है' और 'होलिका मैया की जय' के नारे पूरे मोहल्ले में गूंजते रहते।

पौने में होलिका दहन के अंगारे लेकर हम घर आते और तब घर में सजी होलिका प्रज्वलित की जाती। वहां भी जौ आग में भूने जाते और हम अम्मा बाऊजी का आशीर्वाद लेते। जबरदस्ती हम भाइयों को छोटी बहनों के पैर छूने को कहा जाता और बड़े बेमन से हम यह फर्ज अंजाम देते।

इस उमंग, उत्साह और रोमांच में हमारी नींद उड़ जाती और हम अगले दिन की योजना बनाने में जुट जाते। अपने रंगों का जायजा लेते, टब में भीगे टेसू के फूलों को जाकर देखते और सोचते रहते कि होली की शुरुआत कैसी की जानी है, किसको ज्यादा रगड़ना है, पिछले साल किसने हमारे कपड़े ज्यादा फाड़े थे, किस-किस से मिलना वगैरह। इसी बीच कब हमारी आंखें लग जातीं, पता ही नहीं चलता।

अगली सुबह उठते तो अम्मा सबसे पहले हमें पुराने कपड़े पहनने को देतीं। शौचादि से निवृत्त होकर हम पुराना नेकर या पाजामा, कमीज या कुर्ता पहनकर होली की तैयार शुरू कर देते। रात के भीगे टेसुओं को छानकर उसमें चूना मिलाते जिससे उसका रंग निखर जाता। रंगों की छोटी-छोटी पुड़िया तैयार करते। छोटे, गुब्बारों में पानी भरके

तैयार करते और बड़े आलू बीच में काटकर उसके छापे तैयार करते जिन पर गधा, उल्लू जैसे शब्द चाकू से तराशे जाते।

करीब नौ बजे होली का हुड़दंग शुरू हो जाता। 'होली है' के नारे चारों तरफ गूंजने लगते। लाउडस्पीकर पर होली के गीत पूरे माहौल को बड़ा ओजस्वी व रोमांचक बना देते। होली की टोलियां मुहल्ले से गुजरने लगतीं और छत पर खड़ी लड़कियां उन पर बाल्टी से पानी फेंकतीं। पहले पानी और रंगों की होली होती। हमारे बचपन में वार्निश, सफेदा और हानिकारक रासायनिक रंगों का चलन कम था जो किशोरावस्था तक प्रयोग में आने लगे थे।

उमेश और सुनील के साथ मिलकर हम अपने दोस्तों के घर जाते और सबको बटोरते हुए 'होली है' का शोर मचाते हम गलियों और मोहल्ले से गुजर कर मिस्टनगंज चौराहे पर आकर जमा हो जाते। वहां भारी जमघट लगा रहता। रंग और पानी फेंकने के बड़े पंप प्रयोग में लाए जाते। जो नया वहां आ जाता, उसे पहले रंगों से सराबोर कर हवा में उछाला जाता। खूब शोर-शराबा होता। भांग की ठंडाई पिलाई जाती। कुछ लोग इधर छिपकर दारू भी पीते। बाद में सड़क पर खाली बोतलें छिटकी नजर आतीं और इसके बाद कपड़े फाड़ होली शुरू होती। बमुश्किल नेकर के कुछ अंश या पाजामा फाड़कर बना घुट्टना और ऊपर चिथड़ी बनियान के कुछ अवशेष पहने हम घर लौटते।

कई घरों में होली के दिन खुलकर शराब पी जाती थी जो एक परंपरा का हिस्सा था। कुछ लोग इसे शुभ भी मानते थे और औरतें तक दो-चार बूंदों का पान करती थीं। हमारे घर में भी बाऊजी माल्टा जैसी देसी बोतलें लाकर रखते थे। शायद यह एकमात्र ऐसा अवसर था जब घर के आंगन में बैठकर बाऊजी अपने मित्रों के साथ शराब पीते थे और अम्मा कोई आपत्ति नहीं करतीं।

आज होली को लेकर ऐसा उत्साह और उन्माद कहां ? उस तरह की सामुदायिकता का नितांत अभाव है और न ही वैसा मेलजोल दिखलाई पड़ता है। रिश्ते बड़े सीमित और संकीर्ण हैं। इन पर्वों से पूजा पाठ और संस्कारों का पूरी तरह लोप हो चुका है। मेरे बच्चे आज तक होलिका दहन के लिए कभी नहीं गए हैं, न ही ज्यादातर घरों में इस दिन कोई पूजा होती है, पर हां, होली आज भी पूरे जोर-शोर से मनाई जाती है। आज की होली में अलबत्ता ज्यादा भौंडापन है पर उसका दायरा सीमित हो गया है।

जैसा मैंने ऊपर लिखा है कि हमारा परिवार विशुद्ध धार्मिक नहीं था, इसलिए इने-गिने त्यौहार ही मनाए जाते थे। हम बच्चों को संकट, अष्टमी, नौमी, अमावस्या जैसे दिनों की कोई जानकारी नहीं थी। मेरे कुछ मित्र ऐसे भी थे जिनके यहां सप्ताह में दो-तीन दिन किसी न किसी पर्व से संबंधित कोई अनुष्ठान होता था। कभी हवन, कभी सुंदर कांड, कभी ब्राह्मण भोज तो कभी दान दक्षिणा या उपवास। गृह प्रवेश के अलावा मुझे अपने घर में कभी हवन किए जाने की कोई याद नहीं है जबकि उमेश के यहां तो शायद हफ्ते में दो-तीन बार हवन संपन्न होता था।

वैसे भी हम बच्चों का सारा ध्यान खाने-पीने पर था, जिस त्यौहार में जितना ज्यादा और कई दिनों तक पूड़ी, कचौड़ी, खीर, मिठाई खाने को मिलती, हमारे लिए वही त्यौहार बड़ा और खास था। अब त्यौहार से जुड़ी छुट्टियां ही उसकी अहमियत का पैमाना हैं। आज के बच्चे और किशोर वैसे भी पूड़ी, कचौड़ी, खीर से मुंह सिकोड़ते हैं। पिज्जा, बर्गर, पास्ता, सैंडविच, मोमोज वगैरह उनके पसंदीदा खाद्य हैं।

सावन के दिनों में सोमवार की शाम को अम्मा चीनी भर के पराठें बनाती, क्यों, हमें तब समझ में नहीं आता था पर अब लगता है कि शायद उन दिनों सोमवार का व्रत रखती हों जिसका कोई आभास हमें नहीं हो पाता था। दिन भर वह सामान्य ढंग से काम-काज करतीं, हम सबके लिए खाना तैयार करतीं, कपड़े धोतीं और आम दिनों की तरह सक्रिय नजर आतीं।

अक्सर सोचता हूं कि तब अम्मा और उन जैसी तमाम स्त्रियों में कितनी ऊर्जा थी। लगभग सभी घरों में पांच-छह बच्चे होते थे। सबका खाना, कपड़ा, स्कूल, खेल, झगड़े, मारपीट, मुकदमे में औरतें दिनभर खटती रहती थीं। उनकी मदद के लिए एक महरी जरूर थी जो झाड़ू लगाने और बर्तन साफ करने का काम करती थी। महीने में दो-तीन दिन वह भी नागा करती, पर अम्मा कैसे इन सारे कामों को निबटाती थीं, आज सोचकर हैरान होता हूं।

अब तो ज्यादातर घरों में दो बच्चे हैं और कई बार मां-बाप उनसे ही बुरी तरह त्रस्त हो जाते हैं। अब तो गर बीवी का व्रत है तो पूरे घर का माहौल बड़ा बोझिल बन जाता है। अक्सर बाहर से खाना मंगाया जाता है जिससे पत्नी को खाना बनाने की जहमत न हो। करवाचौथ के निर्जले व्रत में तो बच्चे और पति सहमे से रहते हैं, कुछ सम्मान भाव से ग्रस्त मानो गांधीजी का आजादी के लिए किया गया उपवास हो। कई घरों में तो पत्नी के साथ पति के खाने की भी छुट्टी कर दी जाती है और पत्नियां पूरे नाज से बतलाती हैं कि उनके पति भी करवाचौथ पर उपवास रखते हैं। शिष्टाचार और कर्तव्यबोध से दबे बेचारे पति। जब घर में खाना बनना ही नहीं है तो कम से कम पत्नी को दिखाने के लिए घर के अंदर उपवास का नाटक करना जरूरी समझते हैं वे।

(शीघ्र प्रकाश्य स्मृति आख्यान 'फिर मुझे राहगुजर याद आया' का एक अंश)

रामविलास शर्मा की कविता

कवि

वह सहज विलंबित मंथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार,
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल,
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज
संध्या की वेला शिथिल हो गये सभी साज।

पथ में अब वन्य जंतुओं का रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृगाल।

अब कहां यक्ष- से कवि-कुल-गुरु का ठाठ-बाट ?
अर्पित है कवि-चरणों में किसका राज-पाट ?
उन स्वर्ण-रचित प्रासादों में किसका विलास ?
कवि के अंत:पुर में किस श्यामा का निवास ?
पैरों में कठिन बिवाई कटती नहीं डगर
आंखों में आंसू, दु:ख से खुलते नहीं अधर!
खो गया कहीं सूने नभ में वह अरुण राग,
धूसर संध्या में कवि उदास है वीतराग!

अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल
एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृगाल।

अज्ञान-निशा का बीत चुका है अंधकार
खिल उठा गगन में अरुण-ज्योति का सहस्त्रार।
किरणों ने नभ में जीवन के लिख दिए लेख
गाते हैं वन के विहग ज्योति का गीत एक
फिर क्यों पथ में यह संध्या की छाया उदास ?
क्यों सहस्त्रार का मुरझाया नभ में प्रकाश ?
किरणों ने पहनाया था जिसको मुकुट एक
माथे पर वही लिखे हैं दु:ख के अमिट लेख

अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल
एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृगाल।
इन वन्य जंतुओं से मनुष्य फिर भी महान,
तू क्षुद्र मरण से जीवन को ही श्रेष्ठ मान।
'रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अंधकार'
छंट गया तीक्ष्ण बाणों से वह भी तम अपार
अब बीती बहुत रही थोड़ी, मत हो निराश
छाया-सी संध्या का यद्यपि धूसर प्रकाश।
उस वज्र-हृदय से फिर भी तू साहस बटोर
कर दिये विफल जिसने प्रहार विधि के कठोर।
क्या कर लेगा मानव का यह रोदन कराल ?
रोने दे यदि रोते हैं वन-पथ में श्रृगाल।
कट गयी डगर जीवन की, थोड़ी रही और
इस वन में कुश-कंटक, सोने को नहीं ठौर।
क्षत चरण न विचलित हों, मुंह से निकले न आह
थक कर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह।
यह कहे न कोई-जीर्ण हो गया जब शरीर
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर।
पथ में उन अमिट रक्त–चिह्नों की रहे शान,
मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान।
इस वन में जहां अशुभ ये रोते हैं श्रृगाल
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल।

(तार सप्तक से साभार)

'रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अंधकार' पंक्ति रामविलास शर्मा ने 'राम की शक्ति-पूजा' से यहां उद्धृत की है।

शमशेर बहादुर सिंह की अप्रकाशित गज़लें

एक

दिन तमाशा, ख्वाब हैं रातें मेरी
फिर ग़ज़ल में ढल गईं बातें मेरी

दिल के आइने में मुस्तक़बिल[1] उदास
क्या खुशी देंगीं मुलाकातें मेरी

गर्मियां आहों भरी तन्हाइयां
आसुंओं की याद बरसातें मेरी

मेरी क़द्रे वादा हाए फ़र्दा[2] आज
अहदहाए[3] रफ्ता औ़कातें मेरी

दिल में थी वल्लाह[4] कितनी दूर हो
हों दुआऐं ही मुनाजातें[5] मेरी

सारे अरमां दिल के दिल में बंद हों
यूं धरी रह जायें सोग़ातें मेरी

1. भविष्य
2. कल के वादे
3. गुजरे हुए जमाने
4. हे ईश्वर
5. दुआएं

दो

मेरा दिल अब आज़माया जायेगा
मुफ़्त इक मेहशर[1] उठाया जायेगा

जाने-जां यह ज़िंदगी होगी न जब
जिंदगी से तेरा साया जायेगा

आज मैं शायद तुम्हारे पास हूं
और किसके पास आया जायेगा

कौन मरहम दिल पे रखेगा भला।
जख़्मे दिल किसको दिखाया जायेगा

मेरे सीने से लिपटकर सो रहो
आरज़ूओं को सुलाया जायेगा।

1. क़यामत का दिन

(स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा के सौजन्य से प्राप्त)
(लिप्यांतर: शाहिद मोहम्मद पठान)

प्रयाग शुक्ल की कविताएं-

सहयात्री

जो सहयात्री हैं साथ हैं
इस क्षण आज
कुछ-कुछ पहचाने हुए, कुछ ही मिनटों में।
अनायास शुरू हुआ
कुछ से संवाद है।

कैसी भी सवारी हो
पर, सच तो है यही
हम एक ही
नाव पर सवार हैं।
फिर मिलें या न मिलें
इस क्षण लेकिन
सुख-दु:ख में सहभागी
आपस में जुड़े हुए
जैसे कुछ तार हैं।

यात्रा होगी समाप्त
बिना लिये विदा
एक-दूसरे से, ठीक से
(सबको होगी जल्दी)
उतरेंगे अपने गंतव्य पर

जाएंगे घर-
कुछ किस्से लिए हुए यात्रा के
शायद सुनाएंगे
सहयात्री फिर मानों
साथ चले आएंगे थोड़ी-सी देर को
हंसायेंगे बहलाएंगे
मौन-मुखर कुछ तो कह जाएंगे
दूर चले जाएंगे।
पर, जो बने सहयात्री
भले विस्मृत होने को,
घर क्या वे भीतर हमारे
एक बना नहीं जाएंगे।

उनके बिना कभी
देश में विदेश में
कैसी भी कोई भी यात्रा
भला पूरी कर पाएंगे।

सुबह का द्वार

(जन्मदिन पर)

खुल गया सुबह का द्वार
एक चिड़िया बोली
जिसमें लेता हूं सांस
हवा वह संग हो ली
धीरे-धीरे,- वह गगन दूर
पलकें खोलीं
कुछ पत्ते–फूल-धूप-किरणें
नभ की छाया

आक्षितिज जगा, कुछ,
गहराया
स्मृतियों की गठरी
से कुछ गांठें खोलीं
आयीं कुछ लहरें,
जुड़े कहीं के मधुर तार
यह खुला द्वार
दीखा इतना ही बार-बार,
जो है बाहर, वह है अपार
जो है भीतर, वह भी अपार
लो, खुला द्वार।

तितली

वह जहां थी वहां अब नहीं है
जहां के लिए उड़ी थी
वहां भी नहीं है वह
रह-रह
बस कौंध भर जाती है
तितली
फूल उसे बिसूरे या नहीं
फूल पर तितली के न होने को
खड़े-खड़े बिसूरते हैं हम
बिन तितली की हवा
बस रही है वह।

आतिथ्य

तिर आती छवि, कभी-कभी, वह
किसी द्वार की, घर-आंगन की,
जिसके भीतर प्रेमपूर्ण
आतिथ्य मिला था,
दूर, देश में या विदेश में
भले हो गए हों अब बरसों,
पर, मानो थे अभी वहां कल परसों ही तो
काम-धाम कुछ और कर रहे हों
चाहे हम,
पर, वह स्मृति तिरती छवियां
कौंध बता जाती हैं इतना
जीवन में सोते हैं जाने कितने जीवन
कितने संबल।

देखो इस पल,
भले अकेले बैठे हो,
पर, कहां अकेले
तिर आयी छवि, अभी-अभी जो
ले आयी है, लो, संभाल लो
यह जीवन-जल।

पुरानी किताबें

वे कुछ भुरभुरी हैं पीली
कुछ के पन्ने फटने-फटने को
हाथ लगाते ही
झर पड़ती है, उन पर
जमी, कुछ धूल भी

गिर पड़ते हैं कुछ से,

टुकड़े काग़ज़ के,
किसी पते फ़ोन नंबर के
न जाने कब रख दिए
गये थे उनमें से किसी के बीच
अनजाने

हां, वे पढ़ी जा सकती हैं
धीरज के साथ
जैसे हम पढ़ते हैं पुराने
दिनों को।
उनमें बसे प्रेम-दु:ख-सुख को,
बिछुड़ने को

हां, वे मिलती हैं
किसी बिछुड़े हुए की तरह ही
और हम कुछ देर तक
उन्हें थामे, फिर
हटा कर उनसे आंखें,
न जाने देखने लगते हैं कहां
पहुंचते कहां।

फिर देखते,
आज की अनायास धूप-छाया को
बदलियों की,
जो तैर आती हैं आकाश में
सहसा, धीरे-धीरे,
लिये हुए अपना ही एक रंग,
कुछ अलग,
उन पुरानी किताबों से।

-----000-----

कागज पर खेती करने वाले शैलेश मटियानी

सुरेंद्र तिवारी

27 मई, 1999 का लिखा शैलेश मटियानी का अंतिम पत्र मुझे मिला था, बहुत ही संक्षिप्त, पोस्टकार्ड पर लिखा हुआ, जबकि उनके लंबे-लंबे पत्र पढ़ने की मुझे आदत-सी पड़ गई थी, किंतु इस पत्र ने एक अजीब-सी पीड़ा मेरे अंदर भर दी थी। हमेशा उत्साह और ऊर्जा के साथ विषम से विषम परिस्थितियों में भी जीवन जीने वाले मटियानी के इस पत्र में जीवन के प्रति घोर निराशा टपक रही थी, साथ ही एक मृत्यु–भय भी। पत्र कुछ इस प्रकार था :

प्रिय सुरेंद्र,

तुम्हारा पत्र मिला। मेरी दृष्टि में **'प्रेतमुक्ति'** मेरी सबसे अच्छी कहानी नहीं है। माता, अर्द्धांगिनी, अहिंसा आदि कई कहानियां इससे कहीं अच्छी हैं, लेकिन मेरे पास यहां (हल्द्वानी) में नहीं हैं। तुम्हें शायद पता नहीं होगा, मैं बहुत भीषण रूप से व्याधिग्रस्त हूं और बचने की कोई आशा नहीं है। 'माता', 'अर्द्धांगिनी', 'अहिंसा' तीनों हंस में छपी थीं लेकिन कब किस अंक में अब स्मरण नहीं। **'प्रेतमुक्ति'** ही ले लो। मेरी असमर्थता को क्षमा करेंगे।

उन दिनों **'बीसवीं सदी की सौ कहानियां'** संकलन मैं संपादित कर रहा था, उसमें उनकी **'प्रेतमुक्ति'** लेना चाहता था, उसी संदर्भ में उनका यह पत्र था। हालांकि उनके युवा पुत्र मनीष के साथ इलाहाबाद में जो घटना घट चुकी थी (कुछ गुंडों ने मनीष की हत्या कर दी थी, जबकि वे किसी और को मारना चाह रहे थे पर गलतफहमी में मनीष मारा गया था) उसके बाद उनकी मानसिक अवस्था जिस तरह की थी, उसमें मुझे उम्मीद कम

ही थी कि वे पत्रादि लिखने की स्थिति में होंगे। इलाहाबाद छोड़कर, जब वे हल्द्वानी में आकर रहने लगे थे, तब इसकी सूचना जरूर दी थी, मानसिक उद्वेलन की बात भी बताई थी, किंतु रोग इतना बढ़ चुका है, इसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की थी। इस कारण उनका यह पत्र पढ़कर मन उदास हो आया था क्योंकि, जो नैराश्य भाव उसमें झलक रहा था वह चिंताजनक ही था। बाद में पता चला कि दिल्ली में आकर इलाज भी करवा चुके थे और कुछ ठीक होने पर वापस लौट गए थे।

शैलेश मटियानी से मेरी पहली मुलाकात सन् 70 में हुई थी जब मैं किसी कार्यवश इलाहाबाद गया था और अमर गोस्वामी के घर ठहरा था, तब मटियानी 'विकल्प' निकाल रहे थे और गोस्वामी उनके सहयोगी संपादक थे। मैं तब कोलकाता (कलकत्ता) से 'नागफनी' निकाल रहा था और गोस्वामी का, उसमें भी मुझे सहयोग मिल रहा था। गोस्वामी ही एक शाम मुझे मटियानी के घर ले गए थे। घर में घुसते ही, मैंने देखा, मटियानीजी रसोईघर में खड़े 'मीट' पका रहे थे। अमर ने मेरा परिचय कराया, तो हंसते हुए बोले, 'अच्छे समय से आए हैं आप। मेरे हाथ का पका 'मीट' खाकर देखिएगा, कलकत्ता की मछली और मीट सब भूल जाएंगे।' उस विशाल डीलडौल वाले व्यक्ति की हंसी बहुत मासूम सी लगी थी मुझे, किसी बच्चे की हंसी की तरह। पहली ही मुलाकात में यह अनौपचारिकता बहुत सहज नहीं लगी थी मुझे, किंतु मैंने पाया कि उस निमंत्रण में कहीं कोई बनावटीपन नहीं है। हालांकि तब मैं 'मीट' खाना पसंद नहीं करता था, यद्यपि बंगाली लड़कों के साथ रहते-रहते कभी-कभी मछली जरूर खा लेता था, परंतु उस वक्त मैं साहस नहीं कर पाया कि उनके निमंत्रण को सीधे-सीधे नकार सकूं। फिर गोस्वामी ने उनका साथ दिया था- ''तुम्हें पता नहीं सुरेंद्र, इनके हाथ का पका मीट खाने के लिए यहां के लोग क्या-क्या उपाय नहीं ढूंढ़ते हैं।''

मसाले वाले हाथ को एक कपड़े से साफ करते हुए मटियानीजी ने अपनी पत्नी को आवाज लगाई थी- ''नीला, अब आकर इसे देख लो, कुछ देर में तैयार हो जाएगा, तब तक मैं जरा इनके साथ गप्प–शप्प कर लूं। और हां, सुरेंद्र आज पहली बार हमारे यहां आए हैं, कोई सब्जी भी बना लेना।''

उनका इस तरह अनौपचारिक हो उठना, तब सचमुच अच्छा लगने लगा था। उस रात हम देर तक बैठे गप्प-शप्प करते रहे। उनकी अनेक कहानियां, तब तक मैं पढ़ चुका था और उन कहानियों की जब मैंने चर्चा की, तो वे मुदित नजर आए। जिस तरह वे अपनी पत्नी से, बच्चों से घुले-मिले नजर आ रहे थे, उसे देखकर तब मैं सहसा कह बैठा था- ''आपको इस तरह घरेलू काम करते हुए देखकर तो कोई कह ही नहीं सकता कि आप लेखक हैं।'' सुनकर वे ठठाकर हंसे, फिर बोले, ''अरे भाई, हम दिनभर लेखक बने थोड़े ही रह सकते हैं। फिर मूलतः मैं एक पारिवारिक व्यक्ति हूं। परिवार के साथ रहकर, घरेलू कार्य करके मुझे प्रसन्नता होती है। न विश्वास हो तो मेरी पत्नी से पूछ लो। परिवार से अलग मुझे कहीं कोई आनंद नहीं मिलता। हर पिता अपने बच्चों को जिस

तरह प्यार करता है, मैं भी करता हूं, बल्कि कुछ अधिक ही। अपनी असुविधाओं और असमर्थताओं के बावजूद मैं अपने बच्चों को हर सुख देना चाहता हूं।"

कुछ ही देर में घर, पत्नी, बच्चे के प्रति उनके लगाव को मैं समझ चुका था। बड़े-छोटे अनेक लेखकों के घर में मेरा आना-जाना होता रहा है, परंतु परिवार के प्रति उस तरह का समर्पण-भाव बहुत कम देखने को मिला है।

उस बार की मुलाकात में उनके जीवन के बारे में बहुत कम जानने का अवसर मिला था, परंतु करीब दो साल बाद ही उनका कोलकाता आना हुआ। उन्होंने पत्र द्वारा इस बात की सूचना दी थी कि कब, किस गाड़ी से पहुंच रहे हैं। तब भवानीपुर में एक जगह मैंने अपना प्रिंटिंग प्रेस लगा रखा था। दो कमरे थे वहां। एक में मशीन, टाइप वगैरह और दूसरे कमरे में मेरा रहना, सहना, लिखना, पढ़ना होता था। इसी कमरे में राजेंद्र राव, अमर गोस्वामी, प्रमोद सिन्हा, विश्वेश्वर आदि कवि कथाकार आकर एक-दो दिन ठहर चुके थे, परंतु मटियानीजी को वहां ठहराते हुए मैं हिचक रहा था। खाने-पीने की कोई उचित व्यवस्था वहां नहीं थी। पास में ही सरदारजी का एक होटल था, वहीं मैं भोजन करता था। हावड़ा स्टेशन से बाहर निकलते हुए मैंने अपनी बात उनसे कही। सुनकर गंभीरता से ही उन्होंने मुझे देखा था, फिर बोले थे- "रात को सोने के लिए एक खाट तो होगी न ? न भी हो तो जमीन पर सो लेंगे। तुम इतना संकोच क्यों कर रहे हो ? अरे, मेरा जीवन तो रेलवे प्लेटफार्म, पुलिस चौकी और थाने में, फुटपाथ पर सोते हुए गुजरा है। चलो चलो, मुझे वी.आई.पी. मत बनाओ।"

मटियानीजी की इस उदारता से मेरा मन भर आया था, तब कोलकाता में कितने बड़े-बड़े लोग थे, कवि-कथाकार थे, एक से एक आलीशान घरों के मालिक, जिनके यहां आतिथ्य का सारा सुख मटियानीजी पा सकते थे, परंतु वे वहां नहीं गए थे। मटियानीजी मेरे उस छोटे-से असुविधाजनक कमरे में आए। रास्ते में उन्होंने यह भी बताया कि अशोक सेक्सरिया ने, उन्हें अपने निवास पर बुलाया था, परंतु बड़े घरों की सजधज और जगमगाहट के बीच मैं रह नहीं सकता। गद्देदार पलंग पर मुझे नींद नहीं आती। मैं सब कुछ सुनते हुए चुप रहने के सिवा कुछ कर नहीं सकता था। दो दिनों तक मैं मटियानीजी के साथ कोलकाता की सड़कों पर घूमता रहा। 'विकल्प' के लिए कुछ विज्ञापन की व्यवस्था हो जाए, कुछ ग्राहक बन जाएं, कोलकाता वे इसी उद्देश्य से आए थे। वे ज्यादातर ट्राम में ही सफर करना पसंद करते थे, उसमें चढ़ने-उतरने में उन्हें सुविधा होती थी।

जहां बहुत जरूरी होता टैक्सी कर लेते। कोलकाता शहर में तब थ्री-व्हीलर नहीं चलते थे, टैक्सी वाले कहीं भी जाने से इनकार नहीं करते थे। इन दो दिनों के बीच उनके जीवन के अनेक रंगों से मैं परिचित हुआ था। एक दिन बताया था उन्होंने कि किस तरह बचपन में वे एक कसाई के यहां मांस काटने और कीमा कूटने का काम करते रहे थे। पढ़ने की कोई सुविधा नहीं थी, फिर भी वे एक स्कूल के पास जाकर बैठ जाया करते और वहां अध्यापक बच्चों को गिनती या अक्षर जो सिखाते, वे भी वह सब सीख लिया

करते थे। वह स्कूल खुले में लगता था, इसलिए कुछ दूर बैठकर भी सब कुछ सुनाई दिखाई देता था। बाद में वहां के एक अध्यापक की नजर उन पर पड़ी और उनकी पढ़ने में रुचि देखकर उनकी पढ़ाई की भी उचित व्यवस्था कर दी थी। धीरे-धीरे अभ्यास से हिंदी लिखना उन्होंने सीख लिया था। फिर छोटी-छोटी मनगढ़ंत कहानियां लिखने लगे थे। ऐसी ही एक कहानी उन्होंने एक स्थानीय अखबार में भेज दी थी और वह छप भी गई थी, किंतु इससे वे लोगों के लिए और अधिक मजाक की चीज बन गए। एक दिन दुकान में बैठकर जब वे कीमा कूट रहे थे उसी वक्त एक आदमी वहां आया और व्यंग्य में बोला, ''वाह! बूचड़ों के बच्चे भी लेखक होने लगे...देखो, क्या सरस्वती का कीमा कूट रहा है।''

यह सब बताते-बताते मटियानीजी का गला रुंध आया था फिर कुछ स्थिर होकर बोले थे- **''**जानते हो सुरेंद्र, मैंने कभी सोचा नहीं था कि मैं लेखक बनूंगा। न तो मेरे परिवार में ही कोई पढ़ा-लिखा था, न उस तरह का कोई परिवेश मुझे मिला था, परंतु उस आदमी के व्यंग्य ने मेरे अंदर हलचल मचा दी। उसके शब्द कोड़े की चोट से भी ज्यादा चोट दे गए थे मुझे। क्रोध से मेरा शरीर झनझना उठा था। उस आदमी का तो मैं कुछ कर नहीं सकता था परंतु व्यथित मन से उस वक्त आंखें बंद करके मैंने एक ही प्रार्थना की थी- ''मां सरस्वती चाहे मुझे जीवन में कितने ही कष्ट दे, लेकिन मुझे लेखक जरूर बनाना। मैं हर हालत में लेखक बनकर दिखा देना चाहता हूं।**''**

मैं चुपचाप उनकी बातें सुनता रहा था। उनके जीवन के बारे में तब तक मुझे कुछ विशेष जानकारी नहीं थी। उन्होंने मुंबई में बिताए अपने जीवन के बारे में भी बहुत कुछ बताया था। किस तरह काम की खोज में बोरीवली, चर्चगेट या बोरीबंदर से कुर्ला तक बिना टिकट वे लोकल ट्रेन में यात्रा किया करते थे। कभी पकड़े जाते तो यही सोचते कि चलो, दो-चार दिन खाने-पीने की व्यवस्था हो गई। जब कई-कई दिनों तक भरपेट भोजन नहीं मिलता था, तो किसी मंदिर के सामने बैठे भिखारियों की पंगत में बैठकर वे खाना खा लेते थे या जानबूझकर **'**दफा चौवन**'** के अंतर्गत गिरफ्तार हो जाते थे। कई बार जूते-चप्पल चुराने की भी नौबत आ गई और सामाजिक जूते-चप्पलों से पिटना भी पड़ा। यह सब बताते हुए, अपने जीवन के कलंकपूर्ण और संघर्षमय पृष्ठों को खोलते हुए कोई भी सकुचाएगा, शर्म करेगा, परंतु शैलेश मटियानी के यहां लुकाव-छिपाव कुछ नहीं था। बहुत फजीहतें सहीं उन्होंने, इस तरह के अपमान भी कि राह चलते आंसू बहते जाएं लेकिन कभी जीवन से, विपरीत स्थितियों से हार नहीं मानी।

आज जब उनके जीवन के बारे में मैं सोचता हूं, आज अगर वे जिंदा होते तो अपने जीवन के 80वें साल में होते, और यह देखता हूं कि इतना सारा कुछ लिखने, जिसमें बहुत कुछ बहुत अच्छा भी है और कुछ आलोचकों ने उनकी उपेक्षा ही की, तो एक ही बात समझ में आती है कि अभिजात्य-वर्ग के आलोचक-लेखक ऐसे व्यक्ति को सहन ही नहीं कर पाए, जिसका जीवन संघर्ष, दु:ख, पीड़ा और कुछेक असामाजिक कार्यों से बंधा-गुंथा रहा हो। लोगों को अपने उजले कपड़ों पर दाग लगने का भय सताता रहा

होगा, इसलिए उपाय एक ही था कि ऐसे व्यक्ति को अपने से दूर रखा जाए। अपने वर्ग में सम्मिलित ही न किया जाए। शायद इन्हीं स्थितियों को देखते हुए प्रकाश मनु ने एक जगह लिखा है- ''एक लेखक के रूप में मटियानी की जीवन-यात्रा अकेले आदमी की यात्रा रही है। वह अनेक लोगों से जुड़े, लोग उनके मित्र, सहयोगी और प्रशंसक रहे, लेकिन उन्होंने लेखकों का कोई खास गुट बनाने में कभी यकीन नहीं किया बल्कि हर कदम पर लेखकों की भद्दी गुटबंदियों और गिरोहबंदियों का विरोध ही किया। उनके मन में कहीं न कहीं यह विश्वास था कि लेखक की सृजनयात्रा अकेले ही होती है और लेखकों के संघ या गुटबंदियां उसे नुकसान पहुंचाती हैं।'' इस बात को मटियानी ने खुद कई बार कहा है कि 'किसी भी महत्वपूर्ण लेखक को, जिसे सचमुच कुछ महत्वपूर्ण लिखना है, लेखन की राजनीति नहीं करनी चाहिए। इन लेखक-संघों में आकर आप अपने और पराए की एक संकुचित सोच और घटिया राजनीति से खुद को मुक्त नहीं रख सकते। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि मटियानी हिंदी कहानी के शीर्ष रचनाकारों में से एक हैं। हिंदी साहित्य को जितनी अच्छी कहानियां उन्होंने दी है, उतनी शायद ही किसी और लेखक ने दी है। प्रेमचंद के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानियां देने वाले मटियानी हैं परंतु आज हालत है कि कहानी की चर्चा हो तो मटियानी का नाम लेने से भी लोग बचते हैं यह हिंदी कहानी का ही दुर्भाग्य है।

कोलकाता में मटियानी को समझने का जितना अवसर मुझे मिला, उससे एक ही चीज मैं समझ पाया कि संघर्ष का दूसरा नाम शैलेश मटियानी है। संभावना यही है कि मेरी इस बात से बहुसंख्य लोग सहमत नहीं होंगे किंतु ऐसे लोगों को चाहिए कि मटियानी के उन दिनों को भी याद रखें, जब अपने विरुद्ध रचे गए षड्यंत्र के खिलाफ वे लोअर कोर्ट से सुप्रीम कोर्ट तक धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, रवींद्र कालिया, जगदीश पीयूष के खिलाफ मुकदमा लड़े और बिना किसी वकील के अपनी पैरवी खुद की। उनके इस स्वभाव ने ही उनके असंख्य दुश्मन पैदा कर दिए थे और वे एक 'झगड़ालू व्यक्ति' के रूप में प्रचारित हो गए थे।

कोलकाता के बाद उनसे मेरी मुलाकात फिर दिल्ली में ही हुई। कई वर्षों बाद। 1978 में 'हिंद पाकेट बुक्स' में मैं संपादक बनकर आ गया था। मटियानी अक्सर दिल्ली आते-जाते रहते थे। किसी से पता चला कि मैं यहां हूं तो वे एक दिन कार्यालय पहुंच गए। जी.टी. रोड, शाहदरा में तब यह कार्यालय था। मैं जानता था, कई प्रकाशकों के यहां से उनकी कुछेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'पाकेट बुक्स' में उनके दो-तीन उपन्यासों के प्रकाशन की मैंने योजना बनाई। वे सहर्ष तैयार हो गए। 'गोपुली गफूरन' उन्हीं दिनों वे लिख रहे थे। उसे भी इसी प्रकाशन संस्थान से पुस्तकाकार रूप में छापने की योजना बनी। मैं चाहता था कि इसी बहाने उन्हें कुछ अग्रिम राशि मिल जाए। उन्होंने बताया था कि उन दिनों वे काफी आर्थिक संकट से गुजर रहे थे। मैंने संस्थान-मालिक से बात की। पुस्तकें छापने को तो संस्थान मालिक तैयार थे परंतु अग्रिम राशि देने को नहीं। मैं बहुत क्षुब्ध हुआ था। मैंने मटियानीजी को यह बात बताई तो वे कुछ उदास तो जरूर हुए परंतु

तत्काल ही हंसकर बोले, "चिंता मत करो, मेरे लिए यह नई बात नहीं है। मैं कहीं भी अपना नया उपन्यास देकर एडवांस ले सकता हूं परंतु जब तुम्हें कह दिया है तो तुम्हें ही भेजूंगा।" मैं कृतज्ञ भाव से बस चुप रह गया था।

उस दिन लंच के बाद मैंने आधे दिन की छुट्टी ली थी और मटियानी को अपने घर ले गया था। घर में, तब तक सिर्फ पत्नी थी, नवविवाहिता। मानसरोवर पार्क में दो कमरों का फ्लैट मेरे पास था। मैंने उनसे कहा था- "आज रात आप यहीं रुक जाइए।" वे हंसकर बोले, नहीं, आज मैं रुक नहीं सकता, मेरा सामान कहीं और पड़ा है और कल सुबह ही 'कालका मेल' से मुझे इलाहाबाद लौट जाना है। तुम पत्नी के साथ कभी इलाहाबाद आओ।" आ तो जाऊंगा, पर ये विशुद्ध रूप से शाकाहारी हैं, प्याज तक नहीं खातीं। सुनकर ठठाकर हंस पड़े थे वे, "तो मेरा बनाया मीट भूले नहीं हो?" खैर, तुम आओ तो सही, शाकाहारी खाना भी मैं अच्छा बनाता हूं।

तब तक 'विकल्प' बंद करने के बाद 'जनपक्ष' के पंद्रह अंक वे निकाल चुके थे और उनकी बातों से लगा कि पंद्रहवां अंक ही शायद आखिरी अंक होगा क्योंकि अब आर्थिक स्थिति संभल नहीं रही और पत्रिका निकालने का साधन जुट नहीं पा रहा फिर इसके लिए जितनी भागदौड़ करनी पड़ती है, इसमें अपना लिखना-पढ़ना बंद-सा हो गया है। उम्र अब इन सब बातों की इजाजत नहीं देती।

'जनपक्ष' एक विचार-प्रधान पत्रिका थी। इसमें मटियानीजी, जो लंबे-लंबे लेख लिखते थे, उनकी भाषा अनावश्यक रूप से संस्कृतनिष्ठ और क्लिष्ट होती थी। कुछ लोग इस पर व्यंग्य भी करते थे कि अपनी 'अशिक्षा' को 'अनपढ़ता' को छिपाने के लिए वह इस तरह की पंडिताऊ भाषा लिखते थे, परंतु इतना तय है कि भाषा से अलग अगर 'सब्जेक्ट' को देखा जाए, उनके विचारों को मथते हैं और यह भी सच है कि जो लोग उनकी भाषा का मखौल उड़ाते हैं, वे भूल जाते हैं कि मटियानी की रचनाओं में भाषा के जितने रंग हैं, रूप हैं, हिंदी में किसी भी दूसरे कथाकार के पास उतनी विविधता नहीं मिलेगी। एक लेखनजीवी व्यक्ति को अनेक तरह के समझौते करने पड़ते हैं। मटियानी को भी कुछ समझौते अवश्य करने पड़े, किंतु रचनात्मक धरातल पर उन्होंने कोई समझौता नहीं किया। विपरीत से विपरीत स्थितियों में घिरकर भी लेखन के साथ किसी तरह का समझौता करना उन्हें मंजूर नहीं था क्योंकि उनका मानना था कि 'लेखक को अपने अंधेरों के बीच, जब जरूरत आ पड़े, स्वयं रोशनी करना आना चाहिए और यह कि डर लेखक को आगे बढ़ने नहीं देता और तब चारों ओर झांककर ही लिखने-बोलने की नौबत आना निश्चित है। यह भी कि बड़ी रचना बिना अभय के न पहले कभी संभव हुई है, न आज होगी, न पूरब में न पश्चिम में, न उत्तर न दक्षिण में। 'किसी भी भाषा में बड़ी रचना केवल, तभी संभव हो सकती है जबकि चित्त में भय नहीं बल्कि आर से पार तक एक उजाला झिलमिल करता रहे।'

आर्थिक संकटों में घिरे रहकर भी, जिस तरह मटियानी लेखन से जुड़े रहे, वह भी उनके अदम्य साहस का ही परिचायक रहा। उनके लेखकीय जीवन ने उनके

पारिवारिक जीवन को काफी कष्टों और असुविधाओं में डाले रखा। निश्चित रूप से हिंदी में लेखन को जीविका बनाकर कोई भी लेखक बहुत बड़ा जोखिम मोल लेता है, मटियानी ने भी यही किया था। तब वे शायद यह समझ नहीं पाए कि कितना कठिन रास्ता चुन लिया था। यह कहना भी एक तरह से उनके प्रति अन्याय ही होगा क्योंकि नासमझी में उन्होंने इस रास्ते को नहीं चुना था, सोच- समझकर, जानबूझकर इस रास्ते पर चले थे। सोच लिया था कि लेखन से ही जीविकोपार्जन करना है, कोई नौकरी नहीं करनी, क्योंकि लिखने के सिवा और कुछ करना आता भी नहीं था। पास में शैक्षिक डिग्रियों का कोई आधार था नहीं। बचपन में ही मर चुके मां-बाप ने कोई आर्थिक आधार भी नहीं छोड़ा था। तो ऐसे में एक कठिन रास्ते पर चलना, वह भी पूरी खुद्दारी के साथ, कम जोखिम भरा तो था नहीं। हालांकि जो कुछ पाया, परिवार में ही लुटाया, फिर भी परिवार के सदस्यों के मन में असंतोष की भावना लगातार बनी रही, जिसने उनके भावुक मन को और आहत किया था। मुझे याद है, उनकी पत्नी से एक बार पूछा था- 'इतने प्रसिद्ध लेखक को पति के रूप में पाकर तो आप बहुत खुश होंगी ?' तो उनका उत्तर था- ''अगर मेरी शादी इतने बड़े लेखक से न होकर एक मामूली क्लर्क से हुई होती तो मैं कहीं ज्यादा सुखी होती। इतनी लाचारी भरी, पीड़ा भरी जिंदगी तो न होती मेरी, न ही बच्चों को।''

इसके आगे कुछ कहने-पूछने के लिए था ही नहीं। जिंदगी भर अनथके भाव से संघर्षरत रहने वाले शैलेशजी अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु को सहन नहीं कर पाए। वे शारीरिक, मानसिक दोनों स्तरों पर पस्त हो गए, लगातार टूटते गए। एक के बाद एक कई बीमारियों ने उन्हें घेर लिया। बार-बार अस्पताल में भर्ती होते, कई बार लगा कि अब सब कुछ समाप्त हो जाएगा, परंतु वहां भी मौत से संघर्ष करके वे जीत जाते थे और कुछ स्वस्थ होते ही फिर कलम थाम लेते थे। अंतिम दिनों तक कलम उनके हाथ से न छूटी। लेखन पर से उनका भरोसा नहीं उठा, ठीक उसी तरह जिस तरह किसी किसान को अपनी धरती पर से भरोसा नहीं उठता, आज नहीं तो कल धरती फसल देगी ही। यह विश्वास हमेशा बना ही रहता है। मटियानी भी लिखने-पढ़ने को 'कागज पर खेती करना' कहते थे तो फिर उनका विश्वास कैसे टूटता ? काश कि हिंदी में कागज पर खेती करने वाले और भी दो चार मटियानी होते।

टोबा टेक सिंह: भारत-विभाजन का शोक प्रस्ताव

कुमार वीरेंद्र

''कौन आज़ाद हुआ
किसके माथे से ग़ुलामी की सियाही छूटी
मेरे सीने में अभी दर्द है, महकूमी का
मादरे हिंद के चेहरे पे उदासी है वही
खंजर आजाद है सीनों में उतरने के लिए
मौत आजाद है लाशों पे गुजरने के लिए....''
('फ़रेब, पंद्रह अगस्त और उसके बाद')

सुब्हे-आजादी को लेकर पैंसठ वर्ष पहले ख्यातिलब्ध उर्दू शायर अली सरदार जाफ़री द्वारा प्रकट किया गया यह संशय भारतीय उप महाद्वीप में अभी भी ताजा है। हिंदुस्तान विभाजन देश की सीमाओं, संपत्ति एवं लेन-देन का ही बंटवारा नहीं था। यह घर, परिवार, दिलो-दिमाग, प्रेम-मोहब्बत, समाज और संस्कृति का भी बंटवारा था, जिसकी कीमत दस लाख से अधिक लोगों ने अपने प्राण देकर एवं एक करोड़ से अधिक लोगों ने विस्थापित होकर चुकाई थी।

इस उप महाद्वीप के साहित्यिकों को जिस एक घटना ने सर्वाधिक विचलित व आंदोलित किया है, वह भारत-विभाजन ही है। हिंदी, उर्दू, बांग्ला, पंजाबी, सिंधी व अंग्रेजी में विभाजन पर काफी कुछ लिखा गया है, लेकिन उनमें साहित्यिक रूप में समादृत एक भी ऐसी रचना नहीं है, जिसमें पाकिस्तान बनने के तर्क को स्वीकार कर उसका स्वागत किया गया हो या भारत विभाजन का पक्ष-पोषण किया गया हो।

विभाजन को लेकर रचे गए साहित्य की अब एक लंबी परंपरा बन चुकी है। सभी नामों में जो एक नाम विभाजन की त्रासदी से जुड़े लेखन का पर्याय बन गया है, वह सआदत हसन मंटो का है। अविभाजित भारत के पंजाब प्रांत के लुधियाना जिले के समराला में 11 मई 1912 को जन्मे और अमृतसर, अलीगढ़, बंबई और दिल्ली में पले-बढ़े मंटो ने अपने जीवन के अंतिम पांच साल नव सृजित देश पाकिस्तान के लाहौर नगर में बिताए। बयालीस वर्ष, आठ माह और सात दिन की अल्पायु में दिवंगत मंटो के दिलो-दिमाग में पाकिस्तान को लेकर गहरी ऊहापोह एवं उदासी थी। विभाजन के दंगों ने तो जैसे उनकी लेखकीय चेतना को स्तब्ध सा कर दिया था। विभाजन पर आधारित उनकी कहानियां इस स्तब्धकारी चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति हैं।

बकौल मंटो1 'दुनिया एक बहुत बड़ी करवट ले रही है। हिंदुस्तान भी, जहां आजादी का नन्हा-मुन्हा बच्चा गुलामी के दामन से अपने आंसू पोंछ रहा है, मिट्टी का नया घरौंदा बनाने के लिए जिद कर रहा है। मशरिक़ी (पूर्वी) तहजीब की चोली के बंद कभी खोले जाते हैं, कभी बंद किए जाते हैं। मगरिबी तहजीब के चेहरे का गाजा कभी हटाया जाता है, कभी लगाया जाता है। एक अफरातफरी सी मची है। नए खटबुने पुरानी खाटों की मूंज उधेड़ रहे हैं, पुराने खटबुने चिल्ला रहे हैं। हिली हुई चूलों से कहीं खटमल निकल रहे हैं, कहीं पिस्सू। कोई कहता है, इन्हें जिंदा रहने दो कोई कहता है, नहीं, फना कर दो। इस धांधली में, इस शोरिश (उन्माद) में हम नए लिखनेवाले अपने कलम संभाले कभी इस मसले से टकराते हैं, कभी उस मसले से।'

और मंटो की बहुपठित कहानी 'टोबा टेक सिंह' तो जैसे विभाजन का शोक प्रस्ताव ही है। यह विभाजन की त्रासदी की यथार्थवादी कहानी है। हिंदुस्तान का बंटवारा सचमुच पागल कर देने वाला था। जो समझदार लोग पूरे होशो-हवास में थे, उन्होंने एक रास्ता निकाला था बंटवारे का। असली पागलपन तो यही है। एक दुनिया अक्लमंदों की है और दूसरी पागलखाने की, लेकिन पागलखाने के लोग ही असली इंसान हैं। इंसानियत पर खतरा देखकर ही वे पागल बन गए। कहानी में एक स्थल पर मंटो ने लिखा है- ''कुछ पागल ऐसे भी थे, जो पागल नहीं थे।'' इसी कहानी में एक अन्य स्थल पर यह आया कि- 'पागलखाने में वे सब पागल, जिनका दिमाग पूरी तरह से खराब नहीं था, इस ऊहापोह में थे कि वे पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में।'

पागलखाने में एक पागल ऐसा भी था जो अपने को खुदा कहता था। उससे जब एक दिन बिशन सिंह ने पूछा कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में है या हिंदुस्तान में, तो उसने अपनी आदत के मुताबिक कहकहा लगाया और कहा- 'वह न पाकिस्तान में है और न ही हिंदुस्तान में, इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म नहीं दिया।'

आशय यह कि अधिकतर पागल इस तबादले को नहीं चाहते थे इसलिए कि उनकी समझ में नहीं आता था कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहां फेंका जा रहा है?

कहानी का पात्र टोबा टेक सिंह संवेदनशील है। उसका ऊटपटांग बकना पीड़ा का व्यक्त होना है। कितना गहरा लगाव है उसे अपनी जगह से। जहां खेला, पला-बढ़ा, एक

क्षण में कैसे छोड़ दें ? भावनात्मक रिश्ते को झटककर कैसे एक क्षण में तोड़ दें ? बदीउज्जमां के उपन्यास 'छाको की वापसी' का नायक भी इसी बात को पूरे जोशो-खरोश के साथ कहता है - ''जेहल देदे चाहे फांसी, हम तो छोड़ के न जैबई अपन घरवा।''

वस्तुतः भारत विभाजन के मूल में न तो धर्म था, न भाषा थी। आधारभूत कारण शायद एक प्रकार का आत्माभिमान था। वह भी किसका ? इस देश के तथाकथित अभिजात मुसलमानों और अभिजात हिंदुओं का। अलगौझा कराया अभिजातों ने और मुसीबत झेली अवाम ने।

बंबई छोड़कर कराची होते हुए लगभग सात या आठ जनवरी, 1948 ई. को मंटो लाहौर पहुंचे। तीन महीने मंटो के दिमाग की अजीबोगरीब हालत रही। मंटो का दिलो-दिमाग विभाजन को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। बकौल मंटो2 'तबीयत में उकसाहट पैदा हुई कि लिखूं, लेकिन जब लिखने बैठा तो दिमाग को मुंतशिर (विखंडित) पाया। कोशिश के बावजूद हिंदुस्तान को पाकिस्तान से और पाकिस्तान को हिंदुस्तान से अलहदा नहीं कर सका। बार-बार दिमाग में यह सवाल गूंजता: क्या पाकिस्तान अलहदा होगा ? अगर होगा तो कैसे होगा ? वह सब कुछ जो सालिम (अखंड) हिंदुस्तान में लिखा गया है, उसका मालिक कौन है ? क्या उसको भी तक्सीम (बंटवारा) किया जाएगा ? क्या हिंदुस्तानियों और पाकिस्तानियों के बुनियादी मसाइल एक जैसे नहीं ? क्या उधर उर्दू बिल्कुल नापैद (नष्ट) हो जाएगी ? यहां पाकिस्तान में उर्दू क्या शक्ल अख़्तियार करेगी? क्या हमारी स्टेट मजहबी स्टेट है ? स्टेट के तो हम हर हालत में वफादार रहेंगे मगर क्या हमें हुकूमत पर नुक़्ताचीनी की इजाजत होगी ? आजाद होकर क्या यहां के हालात फिरंगी अहदे-हुकूमत के हालात से मुख़्तलिफ होंगे ?

भारत और पाकिस्तान का द्वंद्व, जाहिर है कि एक जबर्दस्त मसला है, मगर सच्चाई यह है कि मसले का हल सरकारें नहीं दे सकतीं, हल तो सिर्फ़ अवाम के पास होते हैं। जर्मनी के अवाम ने बर्लिन की दीवार तोड़ दी। मगर हमारे यहां मसला यह है कि अवाम को किसी भी राष्ट्रीय मसले में शामिल नहीं किया जाता। वैसे, अवाम के अपने मसले भी बेशुमार हैं। भारतीय अवाम के भी और पाकिस्तानी अवाम के भी। जाहिर है कि मसले तभी हल होंगे, जब हम सही अर्थों में पड़ोसी हो सकेंगे।

बहरहाल, भारत-विभाजन के जो भी आधार रहे हों, वे पर्याप्त तार्किक नहीं हैं। भारत और पाकिस्तान के चरित्र एवं स्वरूप में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखायी पड़ता। इस संदर्भ में पाकिस्तान के मशहूर कवि/लेखक इब्ने इंशा3 की एक रचना को उद्धृत करना आवश्यक लग रहा है :

''ईरान में कौन रहता है ? ईरान में ईरानी कौम रहती है।/इंग्लिस्तान में कौन रहता है ?/इंग्लिस्तान में अंग्रेजी कौम रहती है।/फ्रांस में कौन रहता है ?/फ्रांस में फ्रांसीसी कौम रहती है।/ये कौन-सा मुल्क है ?/ये पाकिस्तान है,/इसमें पाकिस्तानी कौम रहती होगी!/नहीं, इसमें पाकिस्तानी कौम नहीं रहती।/इसमें सिंधी कौम रहती है!/इसमें पंजाबी कौम कहती है!/इसमें बंगाली कौम रहती है!/इसमें यह कौम रहती है, इसमें वह

कौम रहती है ? लेकिन पंजाबी तो हिंदुस्तान में भी रहते हैं!/ सिंधी तो हिंदुस्तान में भी रहते हैं!/फिर ये अलग मुल्क क्यों बनाया था ?/गलती हुई, माफ कर दीजिए आइंदा नहीं बनाएंगे।''

उपर्युक्त टिप्पणी किसी राजनेता की नहीं, बल्कि एक गंभीर रचनाकार की है, जो 'आइंदा' यानी 'भविष्य' के प्रति आशान्वित था कि शायद आगे विभाजन की यह दरार खत्म हो जाए लेकिन 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

दरअसल, स्थितियां शायद इसलिए अस्पष्ट हैं, क्योंकि विभाजन के कारण दूसरे बताये गये हैं। इतिहासकारों ने तो इसका विशद् विवेचन किया है, जिससे केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही परिचित है। हिंदुस्तानी जनता की दृष्टि में तो पाकिस्तान की छवि कुछ इस तरह की रही है-

हे बीबी, ई पकिस्तनवा बनी केहर ?

हउ पकिस्तान कउनो महजिद-ओहजित बाय का ?

अच्छा, ई बताइए कि अलीगढ़ पाकिस्तान चला जइहे की हिंयई रहिये!

उपर्युक्त संवाद राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गांव' से उद्धृत है। यह कोई भी समझ सकता है कि इस संवाद का अर्थ है- नफ़रत, कटुता और शत्रुता के कारणों से जनता अनभिज्ञ थी, अनभिज्ञ है।

'टोबा टेक सिंह' कहानी में यह वर्णित है कि लाहौर के पागलखाने में जब इस तबादले (पागलों के) की खबर पहुंची, तो बड़ी दिलचस्प बातें होने लगीं। एक मुसलमान पागल जो बारह बरस से रोजाना बाकायदगी के साथ नमाज पढ़ता था, उससे जब उसके दोस्त ने पूछा- ''मौलवी साहब, यह पाकिस्तान क्या होता है ?'' तो उसने बड़ा सोच-विचारकर जवाब दिया- ''हिंदुस्तान में एक जगह है, जहां उस्तरे बनते हैं।'' 'चाचा सैम' नामक एक काल्पनिक पात्र को मंटो ने दिनांक 16/12/51 के दिन 31 लक्ष्मी मैंशन लाहौर से एक पत्र लिखा था। इस पत्र में उन्होंने लिखा था- 'मेरा देश हिंदुस्तान से विभाजित होकर अलग कैसे बना, कैसे आजाद हुआ, इसकी तो मुझे अच्छी तरह खबर है। मेरा देश कटकर स्वतंत्र हुआ और चाचा जान आप जैसे बुजुर्ग से ये बातें छिपी नहीं हो सकतीं कि जिसके पंख काटकर मुक्त कर दिया जाता है, उस 'पक्षी' की आजादी कैसी होती है। मेरा नाम सआदत हसन मंटो है और मैं उस स्थान पर पैदा हुआ था जो हिंदुस्तान में है, जहां मेरे माता-पिता को दफन किया गया था। मेरा एक बच्चा भी उसी जमीन में लंबी नींद सोया है पर अब वह मेरा वतन नहीं रहा, मेरा वतन अब पाकिस्तान है।'

मंटो जैसा अफ़सानानिगार तब कलम उठाता है, जब उसके दिल को आघात पहुंचता है। देश विभाजन ने इस आघात के लिए आधारभूमि तैयार की और 'टोबा टेक सिंह' वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रेम की कहानी बन गयी। अर्थात् यहां प्रेम व्यक्तिगत से लेकर राष्ट्र तक है। व्यापक स्वरूप है, प्रेम का। 'अपनी धरती से विक्षिप्तता की हद तक अनुराग इस कहानी की केंद्रीय वस्तु है।'4

समाज द्वारा पागल की नकारात्मक परिभाषा की गई है। समाज के सामान्य व्यवहार से थोड़ा विचलन होने पर व्यक्ति को पागल या सनकी मान लिया जाता है। आशय यह कि असामान्य अनुभूति, असामान्य व्यवहार से ही पागलपन का होना मान लिया जाता है। इतिहास गवाह है कि पागलपन और सनकीपन की संज्ञा हर उस आदमी को झेलनी पड़ी है, जो बंधी-बंधाई लीक से हटकर चलता है।

इसके बावजूद 'पागल' के प्रतीक का कई बार रचनात्मक प्रयोग भी हुआ है। 'अंधेरे में' कविता (मुक्तिबोध की) में जो पागल आता है वह समाज की नज़र में पागल है, पर मुक्तिबोध की निगाह में उसकी बुद्धि जग गई है।

'पागलपन' का सकारात्मक प्रतीक के रूप में ऐसा ही रचनात्मक इस्तेमाल मंटो ने भी किया है। 'वह खुद आम आदमी की हैसियत से कोई-न-कोई पात्र बनकर हाजिर रहता है, पंरतु अपने 'होने' को वह भांपने नहीं देता। 'टोबा टेक सिंह' में जो पागल सिख है वह मंटो है। यह कहानी लिखने से पहले वह पागलखाने में रहकर आया था। कहानियों में मात्र साक्षी बनकर रहना उसे पसंद नहीं आता। उसकी कहानी में वह खुद ही पीड़ा का एक टुकड़ा बनकर गूंजता रहता है, इसी कारण उसे पागलपन के दो बार दौरे पड़े।'5

इतना ही नहीं, 'आठ दिन' नामक फिल्म में मंटो ने पागल की भूमिका की थी, जो फुटबॉल फेंककर कहा करता था कि उसने बम फेंका है। आगे चलकर यह भूमिका उसके जीवन में भी लागू हो रही थी। यह तो एक रिहर्सल ही था, फिर तो वह परदे पर ही नहीं, सचमुच पागल हो गया था और उसे पागलखाने में भेजना पड़ा था।

विनोद भट्ट6 ने लिखा है - 'मंटो पागलखाने में था। उसका इलाज चल रहा था। इस दौरान मंटो पागलपन और सयानेपन के बीच की 'नोमैंसलैंड' की अवस्था में था। उसे पता नहीं चलता था कि उसे पागल बनाने की दवा चल रही है या ठीक करने की।' वैसे भी मंटो का दिमाग हर वक्त काम करने के कारण तपता रहता था। मंटो ने अहमद नदीम कासिमी7 को पत्र (12 फरवरी, 1939) में लिखा था कि 'मेरा नार्मल दर्जा-ए-हरारत एक डिग्री ज्यादा है, जिससे आप मेरी अंदरूनी तपिश का अंदाजा लगा सकते हैं।'

हमारा नायक बिशन सिंह हो सकता है, पर सत्ताधीश नहीं। यह 'टोबा टेक सिंह' शीर्षक कहानी बिना कहे कह देती है। यह बड़ा ही अर्थवान संदेश है कि हमारे नायक वह पागल नहीं होंगे, जो खुले आम घूम रहे हैं और इंसानों के साथ बदसलूकी कर रहे हैं। वह पागल हमारा नायक अवश्य हो सकता है, जिसकी तड़प इसलिए है कि हमारा देश छूट रहा है। उसने कभी सोचा ही नहीं था कि, जिस जमीन पर जी रहा है, वह छीन ली जाएगी। मजहब की दीवारें उसे बांट न पायी थीं पर अब यह एहसास लादा जा रहा है कि पहचानो कि तुम हिंदू हो और यह मुसलमान है।

इस सनकी और पागल समाज में बिशन सिंह जैसे किरदार का पागलखाने में जाना और असली पागलों द्वारा उसको अगवा कर लिया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वैसे तो कहानी कारुणिक है, पर व्यंग्यात्मक भी। सत्ता के पागलपन पर एक व्यंग्य है। इन पागलों से झटका खाकर जो पागल हो गए हैं उनके प्रति करुणा है। यह

कहानी बंटवारे के समाजशास्त्र को मूल केंद्र में लाती है। विस्थापन का दर्द कितना भयानक और त्रासद है, यहां देखा जा सकता है। जिंदगियों की चूलें हिल जाती हैं, स्थानांतरण से। कहने को तो स्थानांतरण सामान्य बात है। जैसे यहां वैसे वहां, पर वास्तव में दिलों के टुकड़े हो जाते हैं।

अंग्रेज गए, पर नीति का ज़हर छोड़ गए। साम्राज्यवाद का दिया हुआ जो जहर है, वह कितना भयानक है, यह द्रष्टव्य है यहां। आजादी के पहले भी शासन का गुर यही था कि एक न होने देंगे और आजादी के बाद देशी सत्ता ने भी यही नीति अपनायी कि एक न होने देंगे।

हिंदी साहित्य में जो क़द प्रेमचंद का है, वही कद उर्दू में मंटो का है। मंटो प्रेमचंद से छोटे थे। मंटो ने उतना नहीं लिखा, जितना प्रेमचंद ने क्योंकि मंटो का जीवनकाल छोटा रहा। लेकिन गौर करने की बात यह है कि प्रेमचंद की प्रत्येक कहानी यथार्थपरक स्टैंड लेकर आती हो, ऐसा नहीं है। कई भंगिमाएं हैं। पर मंटो की सभी कहानियां यथार्थपरक हैं। इसके लिए मंटो को सराहा भी जा सकता है और उनकी आलोचना भी की जा सकती है। प्रेमचंद के यहां अनुभव वैविध्य है। पर मंटो दारुण सत्य को, वीभत्स यथार्थ को यथातथ्य रखते हैं। मंटो की हर कहानी दारुण यथार्थ से आंख मिलाने का साहस रखती है। ऐसी गूंज पैदा करती है कि वह मानवता के पक्ष में जाए। यथार्थ की दारुणता का पीछा करते हुए मंटो कहीं भी मौका नहीं देते कि दारुणता को छिपा लिया जाए, लेकिन यह भी सच है कि यथार्थ का रूप सामने रखकर वह उसके सामने समर्पण नहीं कर देते। यह संदेश देते हैं कि दारुणता का प्रतिकार भी हो सकता है। 'टोबा टेक सिंह' कहानी में पागलपन एक प्रतिकार है। यह ठीक है कि बिशन सिंह बिल्कुल असहाय है। पर असहाय चरित्र में ही संवेदनशील चरित्र उभरता है। टोबा टेक सिंह (बिशन सिंह) का चरित्र एक प्रतिकार की मुद्रा में, एक विरोध की मुद्रा में विकसित होता है। प्रेमचंद यथार्थ के दारुण रूप को कई बार बचा ले जाते हैं या कोमल बना देते हैं पर मंटो ऐसा नहीं करते। वह मानते हैं कि हमारा संवेदनशील बने रहना प्रतिरोध करने का एक सरल उपाय है।

कहानी का अंत दिखाता है कि भूगोल को तो बांटा जा सकता है पर कोई जरूरी नहीं कि उसे जीते जी स्वीकार ही कर लिया जाए। बिशन सिंह उर्फ टोबा टेक सिंह को जब जबरदस्ती बाघा सीमा पार कराने की कोशिशें की गई तो वह बीच में एक स्थान पर इस प्रकार अपनी सूजी हुई टांगों पर खड़ा हो गया, जैसे अब कोई ताकत उसे वहां से नहीं हटा सकेगी क्योंकि आदमी बेजार था, इसलिए उसके साथ जबरदस्ती नहीं की गई, उसको वहीं खड़ा रहने दिया गया और रात भर शेष काम होता रहा। सूरज निकलने से पहले स्तब्ध खड़े हुए बिशन सिंह के गले से एक गगनभेदी चीख निकली। इधर-उधर से कई अफसर दौड़े आए और देखा कि वह आदमी, जो पंद्रह वर्ष तक दिन-रात अपनी टांगों पर खड़ा रहता था, औंधे मुंह लेटा था। इधर कांटेदार तारों के पीछे हिंदुस्तान था उधर वैसे ही

कांटेदार तारों के पीछे पाकिस्तान। बीच में जमीन के उस टुकड़े पर जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेक सिंह मृत पड़ा था।

कहीं पर टिप्पणी या सफ़ाई दिए बगैर पाठक की समझ शक्ति पर विश्वास रखकर मंटो ने कहानी यहीं खत्म कर दी है। कथाकार ओ हेनरी की तरह मंटो भी कहानी के अंत में पाठकों को एक झटका देता है। इस झटके से उद्भासित होता है कि टोबा टेक सिंह ने औंधे मुंह लेटकर एक अर्थवान संदेश दिया है। चित्त होने का आशय है चारों खाने चित होना या खत्म होना या समर्पण करना। पर यहां वह चित न होकर औंधे मुंह लेटा है। जीवन भर उसने हार नहीं स्वीकारी और मरते-मरते भी हार स्वीकार नहीं करता। करारा व्यंग्य है। ऐ देश को बांटने वाले लोगों कांटेदार तार बिछाकर भूगोल बांट दिए, पर टोबा टेक सिंह जहां मरा उसे क्या नाम दोगे ? यह विद्रोही चेतना भगत सिंह से प्रेरित मालूम पड़ती है। मंटो ने अपने लिखने के कमरे में भगत सिंह का पुतला रखा था।

संभव है, हिंदी फिल्म 'रिफ्यूजी' मंटो की इस अफसानानिगारी से ही प्रभाव ग्रहण करती हो। जे.पी. दत्ता कृत फिल्म 'रिफ्यूजी' में नायिका के बच्चे का जन्म 'नोमैंसलैंड' में होता है। एक अन्य पात्र (सुनील सेट्टी) दोनों पक्षों से प्रश्न करता है 'इस बच्चे को क्या कहेंगे ? हिंदुस्तानी या पाकिस्तानी ?'

बिशन सिंह के मरने पर किसी मुल्क का झंडा नहीं झुका क्योंकि बिशन सिंह मंत्री, नेता या स्वतंत्रता सेनानी नहीं, वरन आम इंसान था। बिशन सिंह की मृत्यु तिथि इतिहास में भी दर्ज न होगी। इतिहास प्रायः बड़े लोगों के जीने-मरने से भरा पड़ा है। हां बिशन सिंह की मृत्यु मंटो के यहां दर्ज है क्योंकि मंटो इंसानों का पुजारी था। बेरहम से बेरहम कहानियां लिखते हुए भी मंटो का कलम पूरी तरह काबू में रहा, पर पात्र काबू में न रह सके। टोबा टेक सिंह भी बेक़ाबू पात्र है, मंटो के हाथ से निकला हुआ पात्र, इंसानी हरकत करता हुआ पात्र, असर छोड़नेवाला पात्र। हालांकि मंटो ने कई बार कहा है कि अफ़साना उसके दिमाग में नहीं, जेब में होता है, जिसकी खबर उसे नहीं होती। दिमाग एकदम खाली होता, मगर जेब भरी होती और अफसाना अपने आप ही उछलकर बाहर आ जाता। लेकिन 'टोबा टेक सिंह' उसके जेब की नहीं वरन् दिमाग की उपज है क्योंकि मंटो के दिमाग ने हिंदुस्तान-पाकिस्तान बंटवारे को कभी कुबूल नहीं किया, बंटवारा अप्राकृतिक था। बंटवारे ने लाखों लोगों की तरह मंटो के दिमाग को भी बुरी तरह से प्रभावित किया था। बिशन सिंह औंधे मुंह गिरा, फिर न उठ सका, वह गिरा ही इसलिए कि पतन की निराशा का खात्मा हो सके। यह जिद जितना बिशन सिंह का है, उतना ही मंटो का भी। 'कहानी या आलेख के पहले पृष्ठ के शीर्ष पर '786' लिखनेवाला मंटो, कागजी मंटो है जिसे आप काग़जी बादाम की तरह केवल अंगुलियों से तोड़ सकते हैं, अन्यथा वह लोहे के हथौड़ों से भी टूटने वाला आदमी नहीं।'

दुनिया को अलविदा (18 जनवरी, 1955) कहने से छह माह पूर्व यानी 18 अगस्त, 1954 को मंटो ने पत्थर पर खुद से कतबा (समाधि-लेख) खुदवाया था, जो आज भी लाहौर स्थित उसकी कब्र पर लगा हुआ है- 'यहां सआदत हसन मंटो दफन है। उसके सीने

में फने-अफसानानिगारी के सारे इसरारो-रमूज दफन है। वह अब भी मानो मिट्टी के नीचे सोच रहा है कि वह बड़ा अफसानानिगार है या खुदा।'

इन पंक्तियों में मंटो को, जितनी अपनी अफ़सानानिगारी का इत्मीनान है उतना ही खुदा के बंदो से अफसोस भी देवेन्द्र सत्यार्थी 9 ने 18 जनवरी 1961 को मंटो पर लिखते हुए, इस समाधि - लेख की पैरोडी बनायी है - 'मानो मिट्टी के नीचे पहुंचते ही मंटो ने फिर सोचा कि वह बड़ा अफसानानिगार है या खुदा ? खुदा ने मंटो के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, वह 'टोबा टेक सिंह' तुमने लिखा है ? मंटो ने कहा- 'लिखा है तो क्या हुआ...? अगर तुमसे बयालीस बरस आठ महीने और सात दिन उधार लिए तो इसका यह मतलब नहीं कि तुम मेरी कहानी के अच्छे नाकिद भी हो सकते हो। हटाओ यह अपना हाथ।' खुदा के चेहरे पर अजीब-सी मुस्कराहट आयी। उसने मंटो के कंधे पर से अपना हाथ उठा लिया और उसकी तरफ अजीब-सी नजरों से देखकर कहने लगा, 'जा तेरे सब गुनाह मुआफ किए और पलटकर चला गया।' चंद लम्हों के लिए मंटो बिल्कुल खामोश रहा। वह उस तारीफ से बिल्कुल खुश न हुआ। वह बड़ा रंजीदा, उदास और खफा-खफा-सा नजर आने लगा- 'साला क्या समझता है ? मुझे हरासां करता है- उसने मुझे बयालीस बरस, आठ महीने और सात दिन उधार दिए थे। मैंने तो 'सुगंधी' को सदियां दी हैं।' सचमुच मंटो ने 'सुगंधी' ('सौगंधी' की पात्र) और बिशन सिंह ('टोबा टेक सिंह का पात्र') को सदियां दी हैं और इनको सदियां देने के कारण ही मंटो जिंदा जावेद बन गया। अपने छोटे से साहित्यिक जीवन में मंटो को लगभग दस वर्ष अदालतों के, कुछेक महीने पागलखाने और अस्पताल के चक्कर लगाने पड़े। अपनी अत्यंत यातनाप्रद जिंदगी के बावजूद 'टोबा टेक सिंह' जैसी यादगार कहानी लिखकर मंटो ने भारत विभाजन का शोक प्रस्ताव पेश किया है।

संदर्भ - सूची

1. सआदत हसन मंटो, अफसानानिगार और जिंसी मसाइल, गुनहगार मंटो, अनु. शकील सिद्दीकी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 51
2. सआदत हसन मंटो, जहमते-मिहरे-दरख्शां, गुनहगार मंटो, अनु. शकील सिद्दीकी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 69
3. इब्ने इंशा : उर्दू की आखिरी किताब, पृ. 17-19
4. जानकी प्रसाद शर्मा : उर्दू साहित्य की परंपरा, वाणी प्रकाशन, पृ. 153
5. विनोद भट्ट मंटो: एक बदनाम लेखक, राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 22 वही, पृ. 53
6. अहमद नदीम कासिमी: मंटो की चंद यादें और चंद ख़तूत, आजकल: मई 2012, पृ. 15
7. सआदत हसन मंटो, सआदत हसन की निगाह में मंटो, नया ज्ञानोदय, मई 2012, पृ. 7
8. देवेंद्र सत्यार्थी का आलेख अंश, नरेंद्र मोहन द्वारा 'सो गये दास्तां कहते-कहते......' में उदधृत, नया ज्ञानोदय, मई 2012, पृ. 118-119

पुरानी डायरी के कुछ पन्ने

सूरज प्रकाश

अक्तूबर 1992, गोरखपुर

वो अंडे वाली

जिंदगी में सिर्फ कुछ ही दिन डायरी लिखी। न कभी, कोई कहानी नोट्स बनाकर लिखी ना कभी, कोई उपन्यास। ये पन्ने पिछले बीस बरस से एक पुरानी डायरी में बंद थे और अब आप तक पहुंच रहे हैं।

मैं अपने बड़े भाई के पास गोरखपुर गया हुआ था। ड्राइंगरूम में ही बैठा था कि दरवाजा खुला और एक भव्य सी दिखने वाली लगभग पैंतीस बरस की एक महिला भीतर आयी, मुझे देखा, एक पल के लिए ठिठकी और फ्रिज में छः अंडे रख गयी। तब तक, भाभी, उसकी आहट सुनकर रसोई से आ गयी थीं। दोनों बातों में मशगूल हो गयीं। थोड़ी देर बाद, जब वह महिला चली गयी, तो मैंने पूछा-भाभी आपको अंडे सप्लाई करने वाली महिला तो, कहीं से भी अंडेवाली नहीं लगती। खास तौर पर, जिस तरह से उसने फ्रिज खोलकर अंडे रखे और आपसे बात कर रही थी। जो कुछ भाभी ने बताया, उसने मेरे सिर का ढक्कन ही उड़ा दिया था और आज तक वह ढक्कन वापस मेरे सिर पर नहीं आया है।

भाभी ने बताया कि ये लेडी अंडे बेचने वाली नहीं, बल्कि सामने के फ्लैट में रहने वाले फ्लाइट कमांडर की वाइफ है। उन्हें कैंटीन से हर हफ्ते राशन में ढेर सारी चीजें मिलती हैं। वैन घर पर आकर सारा सामान दे जाती है। वे लोग अंडे नहीं खाते, इसलिए हमसे तय कर रखा है, हमें बाजार से कम दाम पर बेच जाते हैं और कुछ भी चाहिए हो,

मीट, चीज तो हमें ही देते हैं। एक फ्लाइट कमांडर की बला की खूबसूरत बीवी द्वारा (निश्चित रूप से अपने पति की सहमति से) अपने पड़ोसियों को हर हफ्ते पांच-सात रुपये के लिए अंडे सिर्फ इसलिए बेचना कि वे खुद अंडे नहीं खाते, क्योंकि मुफ्त में मिलते हैं, इसलिए लेना भी जरूरी समझते हैं। किसी भी तरह यह बात हजम नहीं हो पा रही थी।

उस दिन वे अंडे खाना तो दूर, उसके बाद 1992 के बाद से मैं आज तक अंडे नहीं खा पाया हूं। एक वक्त था जब आमलेट की खुशबू मुझे दुनिया की सबसे अच्छी खुशबू लगती थी और आमलेट मेरे लिए दुनिया की सबसे बेहतरीन डिश हुआ करती थी। अब नॉन वेज में सब खा लेता हूं, कमबख्त अंडे ही गले से नीचे नहीं उतरते।

मैं आज तक समझ नहीं पाया कि, जो अधिकारी चार-छः रुपये के अंडों के लिए अपना दीन ईमान बेच सकता है, उसके जमीर की कीमत क्या होगी ?

इस बात को देख कर मुझे बचपन के वे फौजी याद आ गए थे जो गली-गली छिपते-छिपाते अपनी यूनिफार्म बेचने के लिए हमारे शहर देहरादून के कबाड़ी बाज़ार में आते थे। हमारा घर वहां मच्छी बाज़ार में था। वहां सड़क के सिरे पर ही कुछ सरदार कबाड़ियों की दुकानें थीं। ये लोग कबाड़ी का अपनी पुश्तैनी धंधा तो करते ही थे, एक और गैरकानूनी काम करते थे। देहरादून में मिलीटरी के बहुत सारे केंद्र हैं। आइएमए, आरआइएमसी और देहरादून कैंट में बने मिलीटरी के दूसरे ढेरों दस्ते। तो इन्हीं दस्तों से मिलीटरी का बहुत-सा नया सामान चोरी छुपे बिकने के लिए उन दुकानों में आया करता था। पाउडर दूध के पैकेट, राशन का दूसरा सामान, फौज के काम आने वाली चीजें और सबसे खास, पीतल के आइटम। कई फौजी अपनी नयी यूनिफार्म वहां बेचने के लिए चोरी छुपे आते थे और बदले में पुरानी यूनिफार्म खरीदकर ले जाते थे। तय है उन्हें नयी नकोर यूनिफार्म के ज्यादा पैसे मिल जाते होंगे और पुरानी और किसी और फौजी द्वारा इस्तेमाल की गयी पोशाक के लिए उन्हें कम पैसे देने पड़ते होंगे। नयी ड्रेसेस फिर नए स्टॉक में पहुंच जाती होंगी। बेशक मोटरसाइकिल सवार मिलीटरी पुलिस वाले छापा मारने आते थे लेकिन वे भी सिर्फ अपना सामान बेचने या अपना हिस्सा लेने।

मच्छी बाजार में ही रहते हुए हमारे सामने 1964 की और 1971 की लड़ाइयां हुई थीं। लड़ाई में, जो कुछ भी हुआ हो, उस पर न जाकर हम बच्चे उन दिनों ये सोच-सोच कर हैरान परेशान होते थे कि, जो सैनिक अपनी यूनिफार्म तक कुछ पैसों के लिए बाजार में बेच आते हैं, वे सीमा पर जाकर देश के लिए कैसे लड़ते होंगे ? एक सवाल और भी हमें परेशान करता था कि, जो आदमी अपनी ड्रेस तक बेच सकता है, वह देश की गुप्त जानकारियां दुश्मन को बेचने से अपने आपको कैसे रोकता होगा ?

आठ नंबर का काला जूता

मेरे बड़े भाई वहीं बाटा में वरिष्ठ पद पर थे और उनका ऑफिस गोलघर वाले बाटा शो रूम में था। गोरखपुर गया तो शहर में रह रहे अपने प्रिय लेखक मित्र नवनीत मिश्र से मिलना ही था। गोरखपुर में उन्हें सब जानते हैं क्योंकि वे बरसों से दिन में दो

बार रेडियो से समाचार सुना रहे हैं। तय प्रोग्राम के हिसाब से मैं वहीं गोलघर वाले बाटा के शोरूम में उनकी राह देख रहा था। सेल्समैन वगैरह मुझे वहां दो दिन से आता-जाता देख रहे थे। एक सेल्समैन ने उत्सुकतावश मुझसे पूछा- साहब किसका इंतजार कर रहे हैं ? मैंने बताया कि नवनीत मिश्र का इंतजार कर रहा हूं। वह तुरंत बोला- जानता हूं साब उन्हें। आठ नंबर का काला जूता पहनते हैं। हमेशा यहीं आते हैं जूतों के लिए। मैं न हंस सकता था न रो सकता था, हिंदी कथा साहित्य के लिए वे कितने भी बड़े लेखक हों, उसके लिए तो आठ नंबर के काले जूते वाले थे।

पुराना विजया सुपर और सुबह-सुबह गालियां

भाई का घर दूसरी मंजिल पर था। सामने एक लंबी गली जाती थी और घर के पास थोड़ी-सी ढलान पड़ती थी। सुबह-सुबह बहुत अच्छी हवा चलती थी, इसलिए मैं हर सुबह बालकनी में आकर बैठ जाता था। अचानक मैंने देखा कि एक आदमी उस हल्की सी चढ़ाई पर पैदल ही एक स्कूटर पर घसीटता हुआ चला आ रहा है। इमारत के गेट के पास वह एक पल के लिए रुका, हमारी बालकनी की तरफ देखा और ऐसा लगा मानो वह गाली जैसा कुछ बक रहा है। फिर वह स्कूटर घसीटता हुआ आगे निकल गया।

अगले दिन भी मैंने उस आदमी को वैसी ही हरकत करते देखा। जैसे स्कूटर घसीटने का सारा गुस्सा हमारे घर पर निकाल रहा हो। जब तीसरे दिन भी उसे मैंने इसी तरह भाई के घर पर गुस्सा निकालते देखा तो मुझसे रहा न गया। मैंने भीतर आकर भाई को पूरा किस्सा बताया। भाई हंसने लगे - दरअसल उसने वो विजया सुपर मुझसे ही खरीदा था। जब खरीदा था तो वह ढलान पर घर जा रहा था। मजे-मजे में चला गया। स्कूटर पुराना है सो जरा-भी चढ़ाई नहीं चढ़ पाता। सीधी सड़क पर ठीक चलता है। बस, हमारे घर के पास आते ही रोज उसका स्कूटर बिगड़ जाता है इसलिए गाली देकर अपना गुस्सा उतारता रहता है।

2 अगस्त 1993 गोटियामाल, जिला आहवा, गुजरात

अभी गांव थोड़ा दूर है लेकिन इक्का– दुक्का आदमी आते-जाते दीख रहे हैं। वनराज आश्रम, गोटियामाल का बोर्ड लगा है सड़क के एक तरफ़, दूसरी तरफ़ एक बड़ा सा अहाता और खूब बड़ा सा घर। एक ही लाइन में बने कमरे, सामने उनके साफ़-सुथरा मैदान। कुछ खूबसूरत फूलों वाले पौधे। छायादार वृक्ष। मैं अपने साथ चल रहे सिपाही सांवलीराम से पूछता हूं– कैसा आश्रम है– बताता है वह– बच्चों का स्कूल है यह, यहीं रहते हैं बच्चे। सामने बैठे हैं मास्टरजी। नजर जाती है मेरी उस तरफ, दो मोटरसाइकिलें खड़ी हैं– तीन आदमी, दो बच्चे। हम अहाते के भीतर चले आए हैं। वे लोग खड़े हो गए हैं– आइए सर। मैं गांव की परंपरा के अनुसार राम-राम कहता हूं। बताता हूं- इधर का इलाका घूमने निकला हूं। इस गांव में भी मिलने-जुलने की नीयत से आया हूं। आपका आश्रम देखकर मन प्रसन्न हो गया है।

साफ़-सुथरा आश्रम आंगन। कच्चा, लीपा–पोता हुआ। सामने की तरफ साफ-सुथरी जमीन। दोनों तरफ से फिरी हुई। फल देते वृक्ष, बेलें, पौधे, फूल सब कुछ करीने सा। संभाल की जाती होगी नित-प्रतिदिन।

मास्टर बताते हैं- डेढ दो सौ बच्चे हैं। आस-पास और इसी गांव के पहली से पांचवीं तक के। सबसे छोटे उनके खुद के बच्चे और सबसे बड़े बारह-तेरह साल तक के। अपने सारे काम खुद करते हैं। इस समय पास ही नाले पर नहाने गए हैं रसोइये के साथ। वहीं कपड़े फींच लेंगे। उनके आते– आते तक सूख जाएंगे। कुछेक बच्चियां भी हैं, लेकिन लड़कों की तुलना में कम।

बता रहे हैं मास्टरजी– वे कई बरसों से इसी स्कूल में हैं। पत्नी की तरफ इशारा करके बताते हैं- पहले सिर्फ़ साथ में पढ़ाती थी। अब पढ़ाती भी हैं, घर भी संभालती हैं। कहने को अपने खुद के दो ही बच्चे हैं पर इन सब बच्चों को भी अपने बच्चों की तरह ही मानते हैं ताकि उन्हें होम सिकनेस, कोई तकलीफ न हो। स्कूल के अर्थतंत्र के बारे में सोचकर आश्चर्य होता है। थोड़ी सी सरकारी सहायता, कुछ ग्राम पंचायत से और कुछ धर्म संस्थाओं से; बच्चों के खर्चे ही क्या हैं- औसतन एक बच्चे के खाने-कपड़े का खर्च कुल मिलाकर सौ-सवा सौ में सब निपट जाता है।

जब मास्टरजी यह सब बता रहे हैं, तो मैं अपने बच्चे की व्यक्तिगत चीजों, कपड़ों, किताबों, कापियों, बक्से, जूते, यूनिफ़ार्म, तेल, और बीसियों सामानों की सूची मन ही मन गिन रहा हूं और यहां सब कुछ इतने कम में। मैंने यहां भी देखे और आहवा के उस कन्या/बालक आश्रम में भी देखे थे। सबके पास टीन का छोटा सा ट्रंक, उसी में उनकी पूरी जादुई दुनिया। कोई ताला नहीं, कोई प्राइवेसी नहीं, एक कमरे में लाइन से सभी रंग-बिरंगे बक्से सजे धरे हैं।

आहवा वाले उस आश्रम में एक और बात देखी थी मैंने। अभी छः भी नहीं बजे थे और मैं उठकर बाहर सड़क पर आ गया था। शुरू से ही आदत है– एक तो नयी जगह पर वैसे ही नींद नहीं आती, दूसरे तड़के उठकर आसपास के जीवन को देखना, मुंह अंधेरे शहर को जगते देखना, एक अलग ही सुख देता है। हमेशा ऐसा करता आया हूं। यहां भी मुंह अंधेरे उठकर पूरे आहवा का चक्कर लगा आया था। इतने सवेरे कोई चाय की दुकान भी नहीं खुली थी।

आहवा में ही मैंने, उन नन्हें-नन्हें आश्रमवासियों को, बालाओं को ठिठुराने वाली सर्दी में पूरा आंगन, लंबा चौड़ा अहाता बुहारते देखा था। झाड़ू भी उनकी खुद की बनायी लगती थी, पेड़ों से गिरे पत्ते, कागज, दूसरी चीजें बुहारकर ढेरियां लगा रहे थे। अभी तो पूरी तरह उजाला भी नहीं हुआ था। बल्ब अपनी पीली रोशनी मुश्किल से फैला पा रहा था। कुछेक बड़े बच्चे हौद में सार्वजनिक स्नान की तैयारी करते लग रहे थे।

इसमें कोई शक नहीं लग रहा था कि यहां गोटियामाल में भी पूरी सफाई, झाड़ू-पोंछा सब बच्चों ने ही मिलकर किया होगा। अकेला नौकर या रसोईया यह सब करे तो खाना कब बनाए। मैं सोच-सोचकर हैरान हूं। यह गांव, मुख्य शहर से यानी बलसाड से कम

से कम सौ किमी दूर तो है ही – आने के लिए आपको दो-तीन बसें बदलनी पड़ें। चार-पांच घंटे लगना मामूली बात है। तो यहां अभी से स्वावलंबन का पाठ सीख रहे हैं अगर और मजबूरियां न रहें तो कल कुछ खा कमा लेंगे। ढंग से पढ़ाई पूरी करके अच्छे नागरिक बन जाएंगे।

यही गुजरात में मैंने देखा है। हर बच्चा, चाहे किसी भी जाति का हो, पहली लकीर खींचने से लेकर उच्चतम पढ़ाई घर से बाहर छात्रावासों, आश्रमों में बहुत कम ख़र्च करते हुए कर सकता है। पूरे गुजरात में लड़के-लड़कियों के धर्मार्थ, कम खर्चीले और लगभग मुफ्त छात्रावासों का जाल सा बिछा हुआ है। यहां का हर बच्चा किसी ना किसी लेवल पर छात्रावास में रहा ही होता है।

गोटिया की शहरी, महानगरीय और हिल स्टेशनों के महंगे स्कूलों के बोर्डिंग, हास्टल से तुलना करता हूं, वहां अनाप-शनाप ख़र्चे हैं, टीम-टाम है, प्रतिस्पर्धा है, बिगाड़ने-संवारने की पूरी सुविधाएं हैं और अंग्रेजियत का पूरा माहौल है। विडंबना है कि उस नकली वर्ग के अंग्रेजी पढ़े बच्चे ही राज करेंगे और यहां न्यूनतम सुविधाओं, लगभग दयनीय स्थिति में पढ़ने वाले जीवन को सही, वास्तविक और नंगे रूप में देखने वाले बच्चे क्लर्क, चपरासी, अध्यापक बन जाएं तो गनीमत। गुजरात के शहरों में अध्यापक की नौकरी के लिए रिश्वत की वर्तमान दर सत्तर-अस्सी हजार है। कमाऊ विभागों में क्लर्की की भी होगी। लोग खर्च करने के लिए तैयार बैठे हैं। पुलिस की भर्ती हो जाए तो उसके लिए भी देने वालों की लाइन लगी है। साल दो साल में सारी रकम वसूल कर ली जाएगी।

होली – 27 मार्च 1994 अहमदाबाद

एक बार फिर अकेले ही रहना है होली पर, लेकिन अब पहले की तरह खालीपन नहीं कचोटता। अकेलेपन के बीसियों इलाज हैं– डायरी, संगीत, पढ़ना, लिखना, यूं ही लेटे रहना लेकिन खालीपन मारता है, खा जाता है। आप सिर धुनने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते।

वैसे भी आज का यह अकेलापन भी काफ़ी कट गया। सुबह ही रंजना अरगड़े के घर गया। उसका स्नेह भरा निमंत्रण था। शमशेरजी की स्मृति में होली पर फाग गाने का कार्यक्रम रखा है। यहीं लिबर्टी गार्डन के आस-पास के बंजारे लोग अपनी पारंपरिक वेशभूषा में गाते-नाचते-बजाते रहे। औरतें अपने लंबे-लंबे घूंघट में हाथ-हाथ भर चांदी के कड़े पहने नाचती रहीं। फोटो खींचे कई। पचास साठ थे सब। असली त्यौहार तो अब इन्हीं लोगों के पास बचे हैं। इतनी आपाधापी में भी मस्त हो लेते हैं। कई लोगों ने पी रखी थी लेकिन परवाह किसे ? वे तो अपने में ही मगन थे। ट्रक पर लदकर चले आए। बच्चे-बूढ़े सभी। गाया-बजाया और गए। हमारी तरह नहीं कि इसकी चिंता और उसकी फिक्र।

रंजना ने शमशेरजी की स्मृति में कुछ अच्छी बातें बताईं। मसलन उनके (शमशेरजी) लिए होली तो जैसे दुनिया भर की खुशियां इकट्ठा लेकर आती थी। उन्हें रंग, गुलाल और अबीर खूब अच्छे लगते थे।

आज भी रंजना ने इन सबका इंतजाम किया था। बीसेक चुनिंदा लोग, पुराने मित्र, साथी पारिवारिक माहौल। सबसे परिचय कराया। मैं ही शायद नया था लेकिन समेट लिया गया सबमें। रंजना को भी शास्त्रीय संगीत सुनने का खूब चाव है, यह सोचकर पंडित जसराज का कैसेट ले गया था। वह मुझसे भी तेज निकली, बताया रोज सुनती है यही कैसेट।

जितनी देर वहां रहा, खूब अच्छा लगता रहा। हुड़दंग से परे सचमुच बुद्धिजीवियों वाली होली। होली भी गरिमामय तरीके से खेली जा सकती है – रंगों, गीत और संगीत के साथ इसे आज खूब महसूस किया।

दोपहर

होली का एक और रूप– आकाशवाणी। दिल्ली से सहसा ढ़ेर सा फंड आ गया है, जिसे 31 मार्च से पहले खपाना है। एक के बाद एक लगातार कार्यक्रम। परसों था आज हैं, अगले तीन दिन भी है, क्या करें फंडस् देर से मिले। अब आ गए हैं, तो खर्च करके ही दिखाएंगे।

सो आज कवि सम्मेलन। कुल उनतीस कवि। लगता है, जो भी फ़ोन पर मिल गया, बुला लिया गया। श्रोता मैं अकेला। वैसे भी आकाशवाणी के किसी भी तरह के कवि सम्मेलन के लिए श्रोता नहीं जुटते। आज एक तो होली, दूसरे इतवार, तीसरे बला की गरमी और चौथे किसी को सूचना नहीं। मैं अकेला श्रोता एक योद्धा की तरह थोड़ी देर बैठकर चला आया, हालांकि एयरकंडीशनर चल रहा था, सुखद ही था वहां बैठना, लेकिन 29 कवियों को झेलकर मरने का यही सुख मिलता कि एक साथ इतने कवियों के कंधे जरूर मिल जाते।

वैसे इस बात के लिए मेरा नाम विश्व कीर्तिमान में तो जा ही सकता है। 29 कवि, एक संचालक, एक केंद्र निदेशक और एक श्रोता। फिर भी भाग आया। हंसी आ रही है– बिना श्रोता के कवि सम्मेलन। सबको 700-700 रुपये मिलेंगे। 1400 तो यही हुए, बाकी स्टाफ का ओवरटाइम, ट्रांसमिशन का खर्च तो अपनी जगह है। किसे परवाह! जो बजट में मांगा था, मिल गया है, अब फूंकना है किसी तरह यूं ही सही।

29 मार्च 1994

आजकल दिन अच्छे गुज़र रहे हैं। भरे-भरे से– हालांकि गतिविधियां पहले की तरह ही है। वही अकेलापन, पूरे समय का फिर भी कहीं सार्थकता बोध बना रहता है। कुछेक रचनाएं लिखीं, छपने भेजीं। बेशक एक ही छपी, लेकिन भरोसा सा हो रहा है। सब कुछ व्यर्थ नहीं जा रहा है। रमेश राजहंस का पत्र आया है। उसने 'उजाले की परछाईं' का अनुवाद पसंद किया और भी बातें लिखी हैं कि किस तरह मैंने ट्रांसफर को सजा न मानकर उस वक्त का सही इस्तेमाल किया है। आर्थिक संकट भी अब दूर हो ही गए हैं। गुजरात साहित्य अकादेमी से जो तीन हजार रुपये की पहले कहानी संग्रह के लिए पुरस्कार राशि मिल रही है, उससे एक पुराना हिंदी टाइपराइटर खरीद रहा हूं। कुछ तो

काम आएगा, न हो, अमरीश को काम के लिए बुला लिया करूंगा, उसका जेब खर्च निकल जाएगा। दफ्तर में भी सब ठीक चल रहा है। अबलत्ता, स्थानांतरण की अदृश्य तलवार तो है ही, सिर पर पता नहीं कहां, कब ?

कल पंडित जसराजजी का कार्यक्रम सुनकर जी जुड़ा गया, जैसे पूरा तन-मन खुलने लगता हो। इस संगीत में पता नहीं कैसा जादू है। एक दूसरी ही दुनिया की सैर हो जाती है। जसराजजी को एकदम आमने-सामने बैठकर सुनना -- अद्भुत।

5 अप्रैल, 1994

ऑफ़िस की लिफ्ट में बात करते दो कर्मचारी

''क्या हाल हैं ? आज दो नए शेयर आ रहे हैं। लगा रहे हो क्या उनमें ?''

''मैं सिर्फ़ सीमेंट वाली कंपनी के लिए अप्लाई कर रहा हूं।''

''लेकिन सुना है, वीनस सी फूड के शेयर ज्यादा अच्छे हैं, कंपनी खूब चल रही है।''

''लेकिन अपने सिद्धांत की बात है।''

''कैसे सिद्धांत ?''

''मैं वेजिटेरियन हूं। किसी ऐसी कंपनी की हिस्सेदारी में शामिल कैसे हो सकता हूं जो नॉन-वेज प्रॉडक्ट्स तैयार करती हो।''

''हां सो तो है।''

6 अप्रैल, 1994

शैलेश पंडित जूनागढ़ से लौट आए हैं। दूरदर्शन में नयी नौकरी ज्वाइन करने के बाद उनकी समस्याएं कम होने के बजाय बढ़ रही हैं। ब्यूरोक्रेसी के एक और शिकार। ब्यूरोक्रेसी इन्हें जीने नहीं देगी और भीतरी लेखक इन्हें मरने नहीं देगा। उन्हें लड़ते रहना चाहिए, लेकिन रणनीति बदलकर हथियार और दांवपेंच बदलकर। उनके साथ दिक्कत यही है कि वे अभी इस व्यवस्था को पूरी तरह समझे बिना, उसे जाने बिना और उसमें घुसे बिना हथियार भांजने लग गए हैं। पहले इस सिस्टम को जान तो लें, उसकी कमजोरियों को तलाशें, सबको विश्वास में लें फिर मौके से वार करें। इस तरह की लड़ाई में तो कुल मिलाकर फिलहाल तो शैलेश ही कमजोर पक्ष हैं, अभी तो कन्फर्म भी नहीं हुए। उन्हें बाबूभाई पंडया की कहानी का सार सुनाया। मुझे भी लगने लगा कि इस चरित्र में है कुछ, बहुत गहरा-गहरा।

7 अप्रैल, 1994

कल ऊपर वाली टिप्पणी लिखते-लिखते उठ खड़ा हुआ और जैसे एक शक्ति मुझे सिविल अस्पताल खींच ले गयी। डॉक्टर विजय भाटिया से आसानी से मुलाकात हो गयी। उसे बताया– बाबूभाई की तलाश में आया हूं। यह भी कि कुछ किताबें, पत्रिकाएं हम अस्पताल को देना चाहते हैं इसी बहाने बाबूभाई को और गहरे जानने का मौका मिलेगा।

कहानी लिखने के लिए कई बातें सामने आएंगी। विजय को अच्छा लगा। उसने उसके बारे में और भी बातें बताईं कि उसने अब इसी काम के लिए एक-दो सहायक रख छोड़े हैं। बच्चे उसके अफसर हैं– वगैरह, वगैरह।

विजय ने अपने हैड से मिलवाया। एकदम घरेलू आदमी। पत्नी उनकी डॉ. चड्ढा एकदम इतनी अनौपचारिक सी लगीं कि बरसों से परिचित हों। वे भी पढ़ने-लिखने में खूब दिलचस्पी रखते हैं। मिसेज चड्ढा शिवानी को पढ़ती हैं। कुछेक बातें हुई पढ़ना-लिखना कितना गहरा ले चलता है आदमी को। वे अपने डॉक्टरी पेशे के अलावा लेप्रोसी सेंटर में जाकर मरीजों की सेवा भी करते हैं – नियमित रूप से। उन्होंने दो एक किस्से सुनाए, जो कुछ इस तरह हैं :

किस्सा नंबर एक

एक गरीब कोढ़ी औरत की नाक बैठ गयी थी। उन्होंने उसकी नाक बनवा के दे दी। इसे डेंचर की तरह मुंह के भीतर बिठाकर नाक की पुरानी शेप वापिस पायी जा सकती है। रात को चाहो तो उतारकर रख लो। फिर धो-धाकर पहन लो।

अब होना तो यहां चाहिए था कि उस औरत की हीनता ग्रंथि खत्म हो जाती और वह सम्मानजनक तरीके से जी सकती।

संयोग से इसी औरत से डॉक्टर दंपति की मुलाक़ात उदयपुर में हो गयी। वह अपनी काठ की गाड़ी (इसी नाम का त्रिपुरारी शर्मा का नाटक भी तो है कोढ़ियों पर) पर बैठी भीख मांग रही थी। नाक बैठी हुई। डॉक्टर ने पूछा– क्या हुआ तुम्हारी नाक को। खराब हो गयी हो तो नयी बना देंगे। उस चतुर औरत ने उन्हें अपनी गुदड़ी में से नाक निकालकर दिखा दी– हे साहब, इसमें कोई खराबी नहीं है।

तो फिर पहनी क्यों नहीं ? क्या तकलीफ है ?

तकलीफ नहीं हैं तभी पहनती हूं, जब बाजार से कुछ सामान वगैरह ख़रीदने जाना पड़ता है। भीख मांगते समय नहीं पहनती।

गजब। एक भिखारिन के दो रूप– एक दया का पात्र बनकर भीख मांगने के लिए लेकिन जब उसका व्यक्तिगत जीवन होता है, उसे समाज में स्वीकार्यता चाहिए, वह दुत्कारी न जाए, इसके लिए वह नाक चढ़ा लेती है, हद है।

किस्सा नंबर दो

एक लड़की का पूरा सीना जल गया था। कई साल अस्पताल में पड़ी-पड़ी इलाज करवाती रहीं। सबसे परिचय हो गया था, जब मां-बाप मर गए तो सड़कों पर आ गयी भीख मांगने।

चलते समय साड़ी से घाव छिपाए रहती, लेकिन ज्यों ही किसी के ठीक सामने पड़ती या भीख मांगने के लिए दरवाजा खटखटाती तो साड़ी का पल्ला हटाकर जख्म दिखाकर भीख मांगती। लोग दया से कुछ दे देते। जब लोग पूछते कि सरकारी अस्पताल में इलाज क्यों नहीं कराती तो बताती– डॉ. चड्ढा (हेड– प्लास्टिक सर्जरी विभाग) इलाज

करने के लिए दो हज़ार रुपए मांगते हैं, उसी के लिए पैसे मांग रही हूं। यह नाटक, वह सब जगह दोहराती जबकि डॉ. चड्ढा का मुफ्त इलाज छोड़ वह भीख मांगना फायेदमंद समझती थी।

एक दिन वह बाज़ार में मिसेज चड्ढा से ही टकरा गयी, जो खुद इसी सिविल अस्पताल में एनेस्थीस्ट हैं। उनके सामने भी उसने यही दुखड़ा रोया कि डॉक्टर चड्ढा पैसे मांगते हैं। उसे पता नहीं था कि वह किससे बात कर रही है, जब मिसेज चड्ढा ने घेरा तो तेज़ी से भाग ली।

एक और संगीत भरा दिन

आज आकाशवाणी की एक और संगीत सभा। पंडित छन्नूलाल मिश्र और पंडित प्रेमकुमार मल्लिक की भारी भरकम प्रस्तुतियों में बेचारी शोभा मुद्गल (शरीर से हेवी वेट होने के बावजूद) दब गयी। दोनों के बीच भुला दी गयीं।

बहुवचन कहानी विशेषांक

लेखकों से कहानी विशेषांक के लिए मौलिक/ अप्रकाशित/ अप्रसारित कहानियां और पिछले दस बरसों की हिंदी कहानियों पर आलोचनात्मक लेख व प्रमुख संपादकों से हिंदी कहानी पर की गयी बातचीत आमंत्रित है:

इस संबंध में विशेष जानकारी संपादक से फोन कर भी की जा सकती है। कहानी या लेख के लिए अधिकतम शब्द संख्या तीन हजार है ।

आप कहानियां/ आलोचनात्मक लेख व अन्य सामग्री amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मो. नं. 09422386554

अखबारों के सांस्कृतिक-भाषाई पहलू

प्रांजल धर

राजनीतिक दृष्टि से तो सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पर काफी बातें की गयी हैं और आर्थिक नजरिए से भी प्रभुत्व और पराधीनता की संरचनाओं पर आए दिन विकसित और विकासशील देशों के मध्य विमर्श और वैचारिक गोष्ठियां होती रहती हैं। इसके बावजूद अखबारों में इस खास संदर्भ में बहुत कम सोचा और कहा गया है जबकि सांस्कृतिक और भाषायी अस्मिता के प्रश्न अनिवार्य रूप से अखबारों से जुड़ते हैं। सूचना, शिक्षा, मनोरंजन और एजेंडा सेटिंग के साथ-साथ अखबारों का एक प्रमुख काम यह भी है कि वे अपने देश और समाज की संस्कृति की रक्षा करें, अपनी सांस्कृतिक परंपरा और विरासत को आगे बढ़ाएं। यह चीज़ तो हम ब्रिटेन और जर्मनी जैसे देशों से सीख सकते हैं कि किस तरह अखबारों और मीडिया के जरिए अपने सांस्कृतिक तत्वों और मूल्यों की रक्षा की जाती है। आज जिसे हम स्थानीय लोक संस्कृति या फोक कल्चर कहते हैं उसके प्रारंभिक प्रतिरूपों को गढ़ने में मुद्रित माध्यमों ने महती भूमिका निभाई है। ध्यान रखना चाहिए कि अखबार जहां एक तरफ पुराने सामाजिक मूल्यों को ध्वस्त करते हैं, वहीं दूसरी तरफ नए जीवन मूल्यों का निर्माण भी करते हैं। समाचार पत्रों में हेडलाइन से लेकर एंकर स्टोरी तक जितनी भी चीजें प्रकाशित होती हैं, उन सब में भाषा और तस्वीरों के जरिए संस्कृति के बुनियादी तत्वों के दर्शन बड़ी आसानी से किए जा सकते हैं। कई बार पाठक अखबारों में छपी रंग-बिरंगी तस्वीरों को देखकर परिधान और हाव–भाव के आधार पर अनुमान लगा लेते हैं कि उस तस्वीर में कहां की संस्कृति झलक रही है। उदाहरण के लिए बिहू से

असम का, ओणम से केरल का और भांगड़ा से पंजाब का अनुमान अखबारों के जरिए अपने आप लग जाता है ।

वास्तव में संस्कृति किसी भी देश का प्राण तत्व होती है। देश के बाशिंदों की अस्मिता देश के साहित्य और संस्कृति में ही निवास करती है। इस अस्मिता के सृजन में समाचार पत्रों ने शुरू से ही बहुत ठोस काम किया है। उदाहरण के लिए जर्मनी के हनाऊ शहर में जन्में जैकब ग्रिम और विल्हेल्म ग्रिम बंधु फ्रांस के वर्चस्व को जर्मन संस्कृति के लिए खतरनाक मानते थे। अपने देश की लोक संस्कृति के लिए समर्पित होकर उन्होंने छह साल तक जर्मनी के एक–एक गांव की ख़ाक छानी ताकि वे उन सारी लोक कथाओं को एकत्रित कर सकें जो उस देश के गांवों में बसती थीं और उस देश की संस्कृति को रचती थीं। सन् 1812 ई. में उन्होंने इन कहानियों का पहला संग्रह प्रकाशित किया। यह मुद्रित माध्यमों की ताकत ही थी जिसके बल पर ग्रिम बन्धु तैंतीस खंडों में जर्मन भाषा का एक वृहद् शब्दकोश प्रकाशित कर सके। आज हम सभी ग्रिम फेयरीटेल्स के नाम से बाकायदा वाकिफ हैं। क्या हमारे यहां रवींद्र संगीत या कत्थक नृत्य को लेकर अखबार इस तरीके का कोई जरूरी सांस्कृतिक काम कर रहे हैं? आज मीडिया की शब्दावली में कहा जाए तो अखबार एक खास किस्म का डिफ्यूजन फैला रहे हैं और संस्कृति को मर्केंडाइज कर रहे हैं। सोचना चाहिए कि इस डिफ्यूजन में हमारे सारे अखबार हमारी अपनी कृषि या हस्तशिल्प की संस्कृति का कितना ख्याल रखते हैं ? इसी संदर्भ में हेनरी जेनकिंस जैसे मीडियाविदों ने एक ऐसी कनवर्जेंस कल्चर की खोज की है जहां नया और पुराना मीडिया परस्पर टकराता है ।

आज तो तकनीक पहले से कहीं ज़्यादा उन्नत हो गई है तथा संचार के साधन भी अधिक विकसित हो गए हैं फिर भी यह सवाल क्यों प्रासंगिक बना हुआ है कि अधिकांश समाचारपत्र अपनी अंतर्वस्तु में संस्कृति के प्रति एकांगिता और उपेक्षा का रवैया क्यों अपनाते हैं ? क्यों कई अखबार किसी खास कार्यक्रम की चर्चा बड़े जोर–शोर से करते हैं चाहे उस कार्यक्रम में कुल पचास लोग ही आए हों ? और हजारों लोगों की सक्रिय हिस्सेदारी वाले अनेक साहित्यिक या सांस्कृतिक कार्यक्रम क्यों अपने जायज अनुपात में कवरेज नहीं हासिल कर पाते ? क्यों विश्व मानवतावाद का महान दर्शन देने वाले रवींद्रनाथ टैगोर के अपने ही देश में, उनकी कृषि और हस्तशिल्प नीति को समझने की कोई ईमानदार कोशिश नहीं की जाती, जबकि कृषि हमारे देश की रीढ़ है ? अगर इस देश की आत्मा का निवास गांवों की खेती-किसानी में है तो निश्चित ही गुरुदेव की आत्मा का निवास उनकी कर्मस्थली श्रीनिकेतन में है। क्यों हिंदी की अनेक गंभीर साहित्यिक पुस्तकें अपेक्षित चर्चा का स्तर नहीं प्राप्त कर पातीं और क्यों तमाम पाठक चेतन भगत के दीवाने होते चले जाते हैं ? क्या यह सिर्फ किसी खास भाषा की उपेक्षा का ही सवाल है या फिर यह अखबारों समेत मीडिया मैनेजमेंट से भी जुड़ता है ? कभी मदन मोहन मालवीय जैसे लोग हिंदी अखबारों में बेहतरीन सांस्कृतिक तत्वों का समावेश किया करते थे लेकिन आज का समग्र चित्र क्या चिंतनीय नहीं है ?

इस देश में हमारी महान परंपरा में रचे-बसे कवियों–कलाकारों से प्रेम करने वाले लोगों की कमी नहीं है। प्राचीन सभ्यताओं की जन्मस्थली कहे जाने वाले भारत में आज पश्चिमी संस्कृति का कितना भी प्रचार क्यों न हो रहा हो, अपनी देशज, घरेलू और गौरवशाली विरासत की सुधि लेने वाले लोग अभी भी अपनी धुन में मगन अपना काम कर रहे हैं और करते ही जा रहे हैं। उन्हें इस बात की परवाह नहीं कि अखबारों में उनके कार्यक्रमों को कवरेज मिलता है या नहीं। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की डेढ़ सौवीं जयंती और गीतांजलि के सौवें वर्ष के सुअवसर पर हाल ही में नई दिल्ली में संपन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अखबारों ने वैसा कवरेज बिल्कुल नहीं दिया जैसा दिया जाना चाहिए था। रवींद्र सद्भावना महोत्सव नाम के इस समारोह में बिरजू महाराज घंटों तक अपना नृत्य प्रस्तुत करते रहे। देखा जाए तो यह बहुत खुशी की बात है कि सांस्कृतिक समारोहों के नाम महान पुस्तकों यानी मुद्रित माध्यमों के नामों पर रखे गए हैं। उदाहरण के लिए गीतांजलि महोत्सव और रश्मिरथी महोत्सव। ये सब देखकर अखबारों के बारे में एक विचार मन में उठता है कि जो लोग समाज में बुनियादी काम कर रहे हैं, उन्हें मीडिया मैनेजमेंट की फुर्सत ही नहीं है और जिन्होंने मीडिया को मैनेज करना सीख लिया है, उन्हें काम करने की ज़रूरत ही नहीं है। बगैर काम किए ही कई अखबार उन्हें प्रचारित करते रहते हैं। समाचार पत्रों के इन्हीं पहलुओं का अध्ययन करके एडवर्ड हरमन ने कहा है कि आज समाचार पत्र ऐसे व्यावसायिक उत्पाद हो चुके हैं जो एक तरीके की कृत्रिम सहमति का बेमेल उत्पादन करते हैं।

संस्कृति के इन बुनियादी तत्वों को गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने सौ साल पहले ही बखूबी समझ लिया था और 1922 की फरवरी में श्रीनिकेतन के निकट सुरुल नामक गांव से ग्रामीण पुनर्निर्माण के महान कार्यक्रम की यात्रा प्रारंभ की थी। लोगों ने गुरुदेव के गीतांजलि और संगीत वाले पहलू पर ही अपना समस्त ध्यान केंद्रित कर दिया और यह जानने की जहमत भी नहीं उठाई कि किसानों को कर्जदारों के चंगुल से बचाने के लिए पहला सहकारी बैंक गुरुदेव ने ही स्थापित किया था। बड़े शर्म की बात है कि सहकारिता, कृषि और शिल्प पर गुरुदेव के विचारों से प्रेरणा लेकर बांग्लादेश का कोई साधारण आदमी नोबेल पुरस्कार ले आता है और हम हाथ पर हाथ धरे तमाशबीन की तरह बैठे रहते हैं। कृषि के प्रति गुरुदेव की प्रतिबद्धता इतनी गहरी थी कि, जहां एक तरफ उन्होंने कृषि की पढ़ाई के लिए अपने बेटे को अमेरिका भेजा, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जनता में आत्मनिर्भरता के संचार के लिए हथकरघा और शिल्प को ध्यान में रखते हुए श्रीनिकेतन की स्थापना की, संथालियों के गांव बसाए। इस कार्य में उन्होंने प्रसिद्ध जानकार लियोनार्ड अल्महर्स्ट को अपने साथ रखा था। पूछा जा सकता है कि 'संवाद प्रतिदिन' और 'आजकाल' जैसे गंभीर कहे जाने वाले बांग्ला अखबारों ने भी श्रीनिकेतन के बारे में जनता तक कितना, कैसा और क्या संदेश पहुंचाया है ? अख़बारों को चाहिए कि वे अपने सांस्कृतिक दायित्वों की गंभीरता को भली-भांति समझें। भली-भांति न भी समझें, तो समझने की कोशिश तो करें।

वसुधैव कुटुंबकम को अपना आदर्श मानने वाले भारत में भाषा सदैव से समृद्ध रही है। देखा जाए तो जब बाकी दुनिया के लोग ढंग से खाना और पहनना भी नहीं जानते थे, तब भारत के लोग पढ़ाई और लिखाई से भली-भांति वाकिफ थे। हड़प्पाई लिपियां इस बात की गवाह हैं। लेकिन आज का अखबारी चित्र देखकर यह सवाल लाजिमी हो जाता है कि क्या अखबारी भाषा सांस्कृतिक मानकों को पूरा कर पा रही है ? अखबारों की वर्तमान भाषा किस तरह के सांस्कृतिक विचारों को बढ़ावा देती है और किस प्रकार के विचारों का दमन करती है ? अखबारों की भाषा पर चर्चा इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह आम जनता को न सिर्फ शिक्षित करती है बल्कि लोग एक बड़ी सीमा तक इसे प्रामाणिक भी मानते हैं। अखबार जीवन के अनेक कार्य क्षेत्रों और घटनास्थलों से प्राप्त संदेशों को जनता तक पहुंचाने का ज़रूरी और जिम्मेदार काम करते हैं। इस प्रक्रिया में अखबारों के संवाददाताओं को चुनाव करना पड़ता है कि वे किन घटनाओं को संचार के अपने दायरे में लें और किन घटनाओं को छोड़ दें। हम सभी इस बात से अच्छी तरह वाकिफ़ हैं कि हिंसक घटनाओं का चुनाव अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी से तथा ज्यादा मात्रा में होता है। अखबार इन चुनी हुई घटनाओं को भली-भांति प्रेषित करने के लिए तस्वीरों और रंग-संयोजन के अलावा एक ऐसी भाषा का भी प्रयोग करते हैं जो घटना या संदेश के ब्यौरे को उनके पाठकों तक बिना किसी तोड़-मरोड़ के पहुंचा सके। पर भाषा क्या सचमुच ऐसी होती है कि वह सिर्फ संदेशों के वाहक का ही काम करती है ? क्या भाषा का अपना कोई चरित्र नहीं होता ? क्या भाषा घटनास्थलों और घटनाओं के बारे में सिर्फ बताती ही है या कुछ छिपाती भी है ? क्या भाषा के जरिए किसी तरह की हिंसा की जा सकती है? आज, जब अंग्रेजी ही नहीं, बल्कि हिंदी समेत सभी भारतीय भाषाओं के लगभग सभी समाचार पत्र तरह–तरह के भाषिक प्रयोगों को आजमा रहे हैं, तब यह बात और भी ज़्यादा प्रासंगिक हो जाती है।

जहां एक तरफ़ मुद्रास्फीति जैसी जटिल अर्थशास्त्रीय संकल्पना को आम जन तक पहुंचाने के लिए अख़बारों ने मंहगाई शब्द के प्रचलन को बढ़ाया, वहीं दूसरी तरफ़ राजकाज, राजपाट या रसोई गैस जैसे आमफहम शब्दों ने हर घर में जगह बनाई। ये अखबार ही थे जिन्होंने सिल्वर जुबिली और गोल्डेन जुबिली जैसे शब्दों के स्थान पर रजत जयंती और स्वर्ण जयंती जैसे शब्दों को आगे बढ़ाया। फिर भी अखबारों में कुछ विसंगतियां बड़ी आसानी से देखी जा सकती हैं। आज राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री की जगह प्रेसीडेंट या पीएम जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। पर ये तो रही शब्दों की बात। अगर हम वाक्यों पर निगाह डालें तो कहीं ज्यादा मजेदार चीजों से सामना होता है। इन्हीं वज़हों से रोलां बार्थ जैसे बड़े विश्लेषक ने कहा है कि भाषा एक पारदर्शी माध्यम नहीं है। कोई भी भाषा किसी संदेश यानी अंतर्वस्तु को अपने भीतर से यथावत नहीं गुजरने देती, वह कुछ अड़चनें उत्पन्न कर देती है। चौथे खंभे की ये अड़चनें प्रायः हिंसा को बढ़ावा देने वाली साबित होती हैं। ये अड़चनें पाठकों को या तो असूचित कर देती हैं या अतिसूचित करके भरमाने लगती हैं।

इसे हम कुछ उदाहरणों से बड़ी आसानी से समझ सकते हैं। अख़बारों ने क्राइम, क्रिकेट, सिनेमा और सेलिब्रिटी पर जबसे जरूरत से ज्यादा ज़ोर देना शुरू किया, तब से पाठकों को तरह–तरह की रोचक खबरें पढ़ने को मिलती रहती हैं। भाषा में एक तरह की हिंसा या टकराव अक़्सर देखने और पढ़ने को मिलने लगा है। जब किसी क्रिकेट मैच में सचिन तेंदुलकर दो सौ रन बनाते हैं तो अगले ही दिन समाचार पत्र लिखते हैं, 'सचिन ने ठोंके दो सौ रन'। यहां ठोंकने जैसा शब्द क्या उचित है ? क्या इससे खेल भावना की वैचारिकी पर कोई असर नहीं पड़ता ? इसी तरह तमाम अखबारों में हम पढ़ते हैं, 'प्रधानमंत्री / मुख्यमंत्री ने मज़दूरों की मांगें ठुकराईं'। इससे ऐसा भ्रम होता है मानो प्रधानमंत्री और मज़दूर आमने–सामने किसी लड़ाई के मैदान में थे। आख़िर ऐसा कौन सा निर्वाचित नेता होगा जो जनता की मांगों को 'ठुकराना' चाहेगा ? हां, ऐसा जरूर हो सकता है कि वह इन मांगों को स्वीकार कर सकने की स्थिति में ही न हो। क्या मांगों को मान पाने की स्थिति में न होने, मांगों को नामंजूर कर देने और मांगों को ठुकरा देने में कोई फर्क ही नहीं है ? और अगर फर्क है तो क्या यह समाचार पत्रों का दायित्व नहीं कि वे इस फर्क को बनाए रखें ?

संप्रेषण की प्रक्रिया में शब्दों और वाक्यों की भूमिका बेमिसाल होती है। इसीलिए भारतीय परंपरा में अक्षर को ब्रह्म कहा गया है। हालांकि अखबारों में राजनीतिक कवरेज एक बेहद नाजुक और जरूरी मसला है और उस पर अलग से, विस्तृत तरीके से बात की जानी चाहिए। आज प्रायः पढ़ने को मिलता है कि हाल में हुए उप चुनावों में अमुक पार्टी ने फलां राजनीतिक पार्टी से दो सीटें हथिया लीं। सीट कोई जागीर या संपत्ति है जो हथियाई जाए ? कुछ इसी तरह 'इस बार निर्वाचन में नहीं कामयाब हो पाएंगे हथकंडे' जैसी खबरें क्या इस देश की राजनीतिक संस्कृति के अनुरूप कही जा सकती हैं ? क्या लोकतांत्रिक तरीके से कराए गए चुनाव किसी चोरी-डकैती या हिंसक टकराव की तरह हैं कि वहां हथकंडे अपनाए जाएं ? ठीक है कि अखबारी लेखन में रोचकता जरूरी होती है ताकि पाठकों का मन खबरें पढ़ने में रमा रहे लेकिन रोचकता को इस हास्यास्पद स्तर तक नहीं खींचना चाहिए कि रोचकता और हिंसा का घालमेल हो जाए। अखबारों में छपने वाले फीचरों पर यह बात ख़ासतौर से लागू होती है जहां कई बार फीचरों को रोचक बनाने के लिए ऊर्जा से भरे शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता है। ऐसे फीचरों में शब्दों ही नहीं, बल्कि अर्थों में भी टकराव साफ– साफ देखा जा सकता है।

आजकल तो टीवी चैनलों के धारावाहिकों के तमाम विज्ञापन अखबारों में भी देखने को मिलते हैं। अखबार चटखारे लेते हुए फोटो छापते हैं और बताते हैं कि छपे हुए विज्ञापन में अभिनेत्री ने अभिनेता को जिस तरीके से तमाचा जड़ा है, तमाम तमाचों पर हुए शोधों के बाद पता चला है कि वह तमाचा जड़ने का उत्कृष्टतम तरीका है। इसी तरह अन्य खबरों में भी स्त्रियों को शामिल करके मिर्च मसाला लगाया जाता है। कई बार तो खास किस्म के पाठकों को लुभाने के लिए अखबार अपने विज़ुअल्स में हिंसा का ऐसा रंगीन और चटपटा प्रयोग करते हैं कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी फीका नजर आने लगता

है। हिंसक प्रस्तुतियों में खासकर अंग्रेजी अख़बारों ने नारी छवियों के वस्तुकरण को कुछ ज्यादा ही बढ़ावा दिया है। 'वह स्त्री लिख रही है' नामक अपने कविता संग्रह में संदीप अवस्थी ने बहुत ही प्रासंगिक पंक्तियां रची हैं: 'उस स्त्री पर न्यौछावर करते हैं हम/ अपने सारे शब्द, क्षमताए, योग्यताए/ क्योंकि वह स्त्री लिख रही है'। सच यही है कि आज अगर स्त्री की छवि धूमिल हुई है तो इसमें उस हिंसा के कवरेज की भी काफी भूमिका है जिनसे स्त्रियों को चाहे–अनचाहे जोड़ दिया जाता है। यह ठीक है कि हिंसा बुरी चीज है लेकिन अहिंसा का हिंसक तरीके से कवरेज पेश करना तो हिंसा से भी बुरी चीज़ है। अख़बारों को यह महत्वपूर्ण बात समझने की ईमानदार कोशिश करनी चाहिए क्योंकि अखबारों को आम जनता के लिए रोज़नामचा कहा गया है, हिंसा के लिए नहीं। अगर अखबार चाहें तो अपनी सामासिक संस्कृति के तत्वों की महत्ता को जन-जन तक सकारात्मक तरीके से पहुंचा सकते हैं।

भुवनेश्वर की प्रासंगिकता के पक्ष

ज्योतिष जोशी

एक प्यारी-सी लड़की अकेले प्रकाश में
उसका चेहरा ही प्यार बोलता था
मैंने उसका आलिंगन किया
मैंने उसके होठों को चूमा
आह! कितना सुखद-सुख.....
नेता, योद्धा, राजे-महराजे
इस धरती के महान
लेकिन इस भीड़ के सबसे ऊपर
मैंने खुद ईश्वर का अभिनय किया
मां धरती की गोद में
मैं स्वयं एक सही ईश्वर के
रूप में प्रस्तुत हुआ...
आकाश के प्याले से मैंने पिया
एक खुली हंसी से मैंने अपना प्याला भरा
लेकिन उसमें केवल सपने ही सपने थे
अनंत-अनेक।'

(भुवनेश्वर लिखित अंग्रेजी कविता 'A Dirge-it may be' का रमेश बक्षी द्वारा किया गया हिंदी रूपांतर)

आधुनिक हिंदी के सर्वथा नए तरह के नाटककार, कहानीकार और कवि भुवनेश्वर की यह कविता उनकी संवेदना की कुंजी है। एक तड़प भरी चाह और अपनी तरह से जी लेने की आकांक्षा ने उनको स्त्री-पुरुष संबंधों को नए सिर से देखने को प्रेरित किया। यह देखना परंपरा और आधुनिकता, दोनों को जांचना था और कहीं पहुंचने की कोई निर्धारित योजना नहीं थी। इस प्रक्रिया में आए उनके चरित्र लगातार चुनौतियों का सामना करते हैं और हमें भी चुनौती देते हैं। यह चुनौतियां भुवनेश्वर के आक्रोश से जन्मतीं हैं जो अपनी वर्तमान समाज-व्यवस्था को नकार देने की दृष्टि से पैदा हुई है। अपनी चिंताओं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'नाटक' को चुना जो प्रचलित प्रतिमानों के आधार पर 'एकांकी' कहे जाते हैं, हालांकि अपने विन्यास में, कथ्य की आवयविक अभिव्यक्ति में तथा मंचीय संरचना में वे नाटक ही हैं, एकांकी नहीं। इसका एक अन्य तर्क यह भी है कि इनमें व्यंजना की प्रधानता है, विवरण की नहीं। घटनाओं के विवरण में जाकर उनको मनचाही स्थिति देना उन्हें मंजूर नहीं है। उन्हें तो स्थितियों को आंकना है और स्थितियों के आलोक में ही चरित्रों और उनसे संबद्ध घटनाओं का परीक्षण करना है। इस तरह के प्रयोग करने वाले वे हिंदी के शायद अकेले नाटककार हैं, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में जैनेंद्र कुमार इस मायने में उनके सहयात्री हैं-कथ्य की दृष्टि से स्त्री-पुरुष संबंधों को देखने की समानता के बावजूद दोनों लेखक भिन्न धरातलों पर खड़े हैं, बावजूद इसके, घटना के नकार तथा स्थितियों के अंकन के स्तर पर दोनों एक ही जगह अवस्थित हैं। इस स्तर पर हिंदी में नाटक के क्षेत्र में भुवनेश्वर का कोई विकल्प नहीं है। अपने नाटकों के आरंभ और अंत की दृष्टि से भी भुवनेश्वर का कोई सानी नहीं है। वे नाटक को उसके सबसे ज्वलंत हिस्से से उठाते हैं और उसे संभावित परिणामों का संकेत कर खत्म करते हैं। कम से कम शब्दों में नाट्य के मर्म को प्रेक्षक तक पहुंचा देने की कुशलता भुवनेश्वर को महत्वपूर्ण नाटककार बनाती है।

भुवनेश्वर को लेकर यह प्रश्न हमेशा ही उठता रहा है कि वे नकारवादी सोच के सर्जक हैं, जो है, उसे स्वीकार करने से इंकार और जो दरकार है, वह अगर हासिल भी कर ली जाए, तो समाज को लेकर जाना कहां होगा, नहीं कह सकते। कठिन स्थिति यह है कि स्त्री-पुरुष संबंधों में अपने निज की चाह को जिस स्वच्छंदता के साथ भुवनेश्वर ने रखा है और जिसकी मांग की है, वह अतिवाद की सीमा में जा पड़ता है। एक स्तर पर छायावाद के उस दौर की रागात्मकता और कथित शुचिता पर भुवनेश्वर की यह मांग एक तीखी प्रतिक्रिया भी हो सकती है, पर एक व्यवस्थित समाज में उनकी मांग अराजकता को ही बढ़ावा देती प्रतीत हो सकती है। उनके नाटक स्त्री और पुरुष के बीच एक ऐसे संबंध को प्रस्तावित करते हैं, जिसकी वैधता न तो भारतीय समाज में है, न पश्चिमी समाज में। प्राय: यह कहा जाता है कि भुवनेश्वर की सर्जनात्मकता के पीछे उनकी विसंगतियों भरी पारिवारिक पृष्ठभूमि का हाथ बताया जाता है। बचपन में मां-पिता को खोने और सौतेली मां के अनाचार से उन्हें जीवन, समाज तथा परिवार की आधारभूत संरचना से वितृष्णा–सी हो गई थी। जीवन जब केवल परीक्षा देने को ही विवश करता है

तो व्यक्ति इस हद तक टूट जाता है कि उसे किसी भी चीज में आस्था नहीं रह जाती। इसी आस्था-अनास्था के बीच झूलते हुए भुवनेश्वर अपने रचनाकाल की आदर्शवादिता से टकराते हुए पश्चिम की ओर रुख करते हैं। उन्हें ब्रिटेन का रंगभेद भी सालता है तो मार्क्स के चिंतन के नितांत भौतिक बिंदु भी छूते हैं और तब उनमें एक विशेष किस्म की 'वितृष्णा' तथा 'प्रतिकार' से भरी दृष्टि विकसित होती है। इस दृष्टि को रूपायित करते हुए वे अपने नाटकों को उस प्रश्न पर ला टिकाते हैं जिसकी जद में हमारा समूचा मध्यवर्गीय समाज आ जाता है। उनके नाटकों को उनके जीवन के अभावों, कामनाओं और संघर्षों से अलगाकर देखने के बहुत खतरे हैं, क्योंकि वे उनके अंतर की उपज हैं, अंतर के घातों-संघातों से उपजे घाव की तरह। यहां हम विख्यात छापा कलाकार सोमनाथ होर को याद कर सकते हैं जिन्होंने अपनी कृतियों को अपने गहरे घावों की संज्ञा दी थी। जीवन की चाह, वेदना, जख्म और आकांक्षाएं जब एक ही धरातल पर आ जाते हैं तब सर्जक के शब्द उसके रक्त की बूंदों की मानिंद रिसते हैं कागज पर, आकारों की मानिंद उतरते हैं कैनवस पर। उनके बनाए रेखांकन भी उनकी जटिल मानसिक बनावट और जीवन से लड़ते हुए एक व्यक्ति के संघर्ष को दिखाते हैं। एक असीम उलझाव और उसमें से निकलने की कोशिश करता एक मनुष्य। यह सर्जना और जीवन का द्वैत है- प्राणांतक द्वैत। कलाकार एफ.एन. सूज़ा को अपनी ही मां से घोर उपेक्षा मिली थी, जिसके बाद जीवन-भर उन्होंने स्त्री को विरूपित करके चित्रित किया। यह एक सर्जक की यंत्रणा का सत्य है जिसे उसकी स्थितियों के भीतर रखकर देखने की जरूरत है, उसे गलत ठहराने की नहीं। उनके नाटकों में और प्राय: सभी नाटकों में इस कठोर सत्य की अभिव्यक्ति है। 'रोमांस और रोमांच' नाटक में मि. सिंह चेहरे से कुरूप और शरीर से मोटे तथा भद्दे हैं पर उनकी पत्नी सुंदर, शिष्ट और आकर्षक है। वे घर में आते ही देखते हैं कि उनकी पत्नी का पूर्व प्रेमी पहले से ही जमा हुआ है, जिसकी खातिर हो रही है। वे यानी मि. सिंह कहते हैं– ''संसार का कोई अप्रिय सत्य जब हमें पूर्णतया परास्त कर देता है, तब हम उसे अनुभव कहते हैं।'' नाटक में दिख रही यह विडंबना, केवल एक ब्याहता के पर-पुरुष संबंध को ही नहीं दिखाती, वरन् मि. सिंह के मुंह से अनुभव की सच्ची परिभाषा भी दिलाती है। हमें जीवन में वही सत्य सचमुच परास्त करता है जो हमारे लिए प्रिय नहीं होता और इस तरह वह हमारे जीवन का एक गहरा सबक बन जाता है। यह विदित तथ्य है कि विडंबना नाटक को जीवन देती है और उसकी प्रासंगिकता को नया अर्थ भी। इस रूप में भुवनेश्वर के प्राय: सभी नाटकों में जीवन की विडंबनाएं गहरे जीवन-सत्य का उद्घाटन करती हैं और उस 'अप्रिय सत्य' का संधान भी, जिसका उल्लेख हमने पहले किया है। उनके नाटक 'लाटरी' में किशोर की पत्नी कहती है- ''समाज का तिल-ताड़ क्यों बनाते हो ? समाज तो जीवन के अंधे पथ पर लाल प्रकाश है, कबाब की हड्डी है जो हमारे गले में अड़कर हमें उन परिस्थितियों में खींच ले जाती है, जिनसे बाहर होना जीवन को चुनौती देना है। हर व्यक्ति समाज से वैमनस्य नहीं कर सकता। जो ऐसा कर सकते हैं, उन्हें हम महापुरुष कहते हैं। मैं समाज को कभी नहीं कोसूंगी।'' वह किशोर की पत्नी यानी माया समाज की

संरचना को स्वीकार करते हुए भी अपनी 'निजता' को जीना पसंद करती है। उसका पति जब बच्चों की परवाह करने की बात करता है तो वह कहती है- 'बच्चे वह न तुम्हारे हैं न मेरे, वह एक प्रवंचना के क्रूर हास्य हैं, जिसके हम दोनों शिकार हुए। वह भाग्य का एक कुटिल परिहास था। रहने दो। तुम जा रहे हो जाओ। मैं तुम्हें बधाई देती हूं। जाओ।'

यहां प्रश्न उठता है कि भुवनेश्वर की दृष्टि में समाज है क्या ? क्या वह ऐसे ही समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें उसकी ऊपरी व्यवस्था बनी रहे और भीतर रहते हुए लोग स्वेच्छाचार को अपना जीवन-मूल्य बना लें। शायद ऐसा ही हैं, क्योंकि परिवार में रहते हुए भी भुवनेश्वर अपनी स्त्रियों को उनकी मनचाही आज़ादी देने के कायल हैं और यदि पुरुष उसमें बाधा बनकर आता है तो वह 'कबाब की हड्डी' बनता है। अब यहां एक दूसरी बड़ी विडंबना यह भी है कि उनकी दृष्टि में स्त्री स्वेच्छाचारी ही हो सकती है- 'प्रतिहिंसा और प्रेम में स्त्री पुरुष से अधिक आदिम है। वह सारी समस्या का मूल है।' यह विचार अकेले भुवनेश्वर का नहीं है। मध्यकाल का भक्ति साहित्य इसी विचार का पोषक है जिससे कबीर भी बच नहीं सके- 'नारि नरक की खान है' कहते कबीर और भुवनेश्वर में फर्क यह है कि जहां कबीर और अन्य भक्त कवि स्त्री को 'मुक्ति की बाधा' स्वीकार करते हैं, वहीं भुवनेश्वर ने उसे पुरुष को वासना के संताप में डालकर जला डालने वाली माया के रूप में देखा है। 'लाटरी' में ही माया अपने पति से कहती है- ''देखो, नाटक का यह दृश्य पूरा करो। इस मनुष्य को रोको। आज रात भर के लिए रोको जो एक निर्लज्ज बेवफा स्त्री के लिए अपना हृदय और घर तोड़कर जा रहा है।'' विचित्र ही है कि वह व्यक्ति माया से ही प्रेम करता है और वह उसे जाने नहीं देना चाहती। किशोर के लिए यह रहस्य नहीं हैं, 'पराजित पुरुषत्व' है जो एक स्त्री की वासना की भेंट चढ़ गया है। इसी तरह यदि हम उनके नाटक 'स्ट्राइक' को देखें तो प्रेम त्रिकोण की विडंबना ही दिखती है। 'श्यामा, एक वैवाहिक विडंबना' में भी जीवन और समाज की व्यवस्था के भीतर घटित त्रिकोणीय संबंध की द्वंद्वात्मकता दिखाई देती है। जीवन की असंगत स्थितियों के भीतर चरित्रों के अंतर का खालीपन एक शून्य पैदा करता है जिसे भरने के लिए वे अपने कथित 'स्वत्व' को भी दांव पर लगाने को तैयार हैं। 'सिकंदर' नामक नाटक में वे इतिहास की बद्धमूल अवधारणा पर ही प्रहार करते देखे जा सकते हैं। 'प्रतिमा का विवाह' में वे मातृत्व पर ही चोट करते देखे जा सकते हैं- 'मातृत्व एक पेशा है और आप और प्रतिमा जैसी स्त्री के लिए एक निकृष्ट पेशा है। मैं नहीं चाहता कि प्रतिमा जीवन को समझने के लिए अपना शरीर और यौवन बेचे। मैं नहीं चाहता कि अपनी जीविका चलाने के लिए एक माता बने।' नाटक के एक पात्र द्वारा कहलवाए गए इस संवाद में भुवनेश्वर 'विवाह' नामक संस्था को 'शरीर और यौवन' को बेचने तथा जीविका चलाने के एक पेशे के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी प्रासंगिकता पर ही चोट की है।

इसका मूल कारण उनके मन में बसी स्त्री की वह कुटिल छवि है जिसके वे शिकार हुए हैं और उसके 'मातृत्व' तक पर प्रहार करने से उन्हें गुरेज नहीं है। 'शैतान' नामक नाटक में उनका एक पात्र कहता है- 'स्त्री की घृणा पुरूष पर बलात्कार है।'

'ऊसर' में भी जीवन के गहरी कशमकश के बीच संबंधों का ऐसा द्वंद्व है, जिसमें जीवन गर्क हो गया लगता है। 'अंधेरा' एक भयावह रूपक है जो नाटक को रोशनी से विलग करता है। चरित्रों की वंचित कामनाएं एक-एक कर दृश्य होती हैं और जीवन की परतें खुलती जाती हैं। यहां जीवन एक त्रासदी के रूप में आता है जो किसी का चुनाव नहीं, नियति का प्रतिफल है। इसी तरह 'तांबे के कीड़े', 'कठपुतलियां', इतिहास की केंचुल', 'सीकों की गाड़ी', 'आजादी की नींद', 'खामोशी', 'रोशनी और आग', 'आदमखोर', 'जेरूसलम को', तथा 'एक साम्यहीन साम्यवादी' में भुवनेश्वर अनेक प्रश्नों के बीच मनुष्य के जीवन और उसकी मुक्ति का प्रश्न उठाते हैं तथा उसके अंतर की आग को प्रकट करते हैं। 'साम्यहीन साम्यवादी' भी साम्यवाद के बहाने ठगी करने वालों पर व्यंग्य है जिसकी जद में पार्वती नामक स्त्री ही है। ऐसा नहीं है कि भुवनेश्वर के नाटकों में केवल स्त्री–पुरुष संबंधों पर ही दृष्टि डाली गई है और जीवन तथा व्यवस्था के दूसरे पक्षों को छोड़ दिया है। उनके परवर्ती चरण के उपर्युक्त नाटकों में समाज और व्यवस्था के उन सभी प्रश्नों से टकराने का प्रयत्न है जिन प्रश्नों ने तत्कालीन दौर में भारतीय मनुष्य का जीना हराम कर दिया था। 'तांबे के कीड़े' में जीवन की विसंगति के बीच अर्थहीनता और अपने ही भीतर जमे हुए झूठ से साबका है। यह दुनिया का पहला विसंगत नाटक है जिसमें गड्ड-मड्ड हो चुके जीवन के विद्रूप का जायजा है। नाटक में मशरूफ पति कहता है- ''नहीं, मुझे नाश करना ही पड़ेगा। लड़ना पड़ेगा इस बेमसरफ, बेमानी और अनंत शुरुआत के खिलाफ।'' इसी तरह 'आजादी की नींद' आजादी से पूर्व ही बाद के भारत की तस्वीर दिखाता नाटक है, जिसमें भुवनेश्वर के एक पात्र ने आज़ादी को कवि कल्पना कहा है- ''मुझे गम नहीं, सिर्फ एक गहरी थकान है। आज़ादी विशेषज्ञों की चीज़ है, न जनता की, न देश की। कवियों की बनायी आज़ादी किस काम की है ?'' 'खामोशी' में धनी और गरीब व्यापारी के माध्यम से भुवनेश्वर ने देश में आगत पूंजीवाद के विकराल रूप को परखा है, जिसमें न केवल गरीब जनता बल्कि गरीब और खुदरा व्यापारियों की भी शामत आने वाली है। 1957 में लिखे गए इस नाटक को पूरी तरह सच में बदल गये रूप को हम बखूबी देख रहे हैं। नाटक में धनी व्यापारी गरीब व्यापारी से कहता है- ''तुम इस खामोशी का शासन नहीं स्वीकार करते। हम कहते हैं कि हम अपनी सारी ताकत से तुम्हें नष्ट कर देंगे। बस खामोश।'' 'रोशनी की आग' में देशव्यापी स्वाधीनता-संघर्ष को प्रेरित करने वाली संवेदना है जो मुस्लिमों के माध्यम से व्यक्त हुई है। 'आदमखोर' में मिल की जिंदगी और मजदूरों के शोषण को व्यक्त किया गया है।

यहां हम भुवनेश्वर के नाटकों की केंद्रीय संवेदना- स्त्री पुरुष संबंधों को लेकर ही चल रहे हैं, जिससे उनकी क्रांतिकारी उपादेयता को ठीक से परखा जा सके।

पार्वती का पति सुंदर उसे वकील के हाथों सौंप देता हैं जिसकी एवज में वह अपना गुजारा कर सके। पार्वती की ना-नुकुर पर वह कहता है- ''मैं और वकील साहब बराबर हैं, मेरे पास रुपया नहीं है, जिंदा रहने के लिए रुपयों की मुझे जरूरत है, मेरी

जोरू.....'' और वह पार्वती को वकील के हवाले कर देता है जिससे उसका परिवार चल सके और उसे कुछ भी न करना पड़े।

यहां दो बातें एकदम स्पष्ट हैं- एक भुवनेश्वर के लिए स्त्री गुस्सा और घृणा की पात्र है और दो- किसी भी तरह के सामाजिक परिवर्तन में अपनी निजी जरूरतों के मद्देनजर उनके चरित्र कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभा पाते। उनके पुरुष पात्र भी बिना किसी रीढ़ के नज़र आते हैं, जो स्त्री की हर हरकत को स्वीकार करते हैं और उसकी मांग का या आचरण का कभी विरोध नहीं करते। इसका एक पहलू शायद यह भी हो कि भुवनेश्वर पुरुष को स्त्री का आश्रयदाता समझते हैं। वे कहते हैं- ''स्त्री पुरुष की आश्रित है, इसका यह अर्थ है कि स्त्री के लिए पुरुष को आश्रय देना अनिवार्य है।' 'अब यह मान लें तो पुरुष का स्त्रियों के प्रति किये आचरण या व्यवहार को अनिवार्यत: स्त्री के आश्रयदाता की ओर से बरती गई उदारता ही कहना होगा और यहां आकर यह पूरी बहस दूसरा रूप ले लेती है। स्त्रियों के प्रति जरूरत से अधिक तिरस्कार के कारण भुवनेश्वर ने उन्हें या तो वासना का पुतला बनाया है या पुरुष की महज एक वस्तु। पर इस झोंक में उन्होंने अपने पुरुष चरित्रों को भी इतना लिजलिजा बनाया है कि उनका कोई व्यक्तित्व ही नहीं उभरता। उनकी कथित उदारता बार-बार उनकी बेबसी और बेहयाई में बदल जाती है और हम ठगे-से देखते रह जाते हैं। एक स्तर पर उनकी यह अवस्था उन्हें कायर और दब्बू बना देती है।

जीवन में व्यवस्था, नैतिकता, उदारता जैसे मूल्यों के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाकर भुवनेश्वर ने जिस अस्वीकारवाद की शरण ली है, वह दरअसल खुद उनके अस्वीकार की पीड़ा और अपने अंतर का सच है, जिसे उन्होंने नाटकों का रूप दिया है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने ठीक ही लिखा है- 'जब नाटककार अपने अंतर सत्य को अपने पात्रों में स्थापित करने की चेष्टा करता है तो नाटक बिखर जाता है, किंतु जब नाटककार घटनाओं, संदर्भों और स्थितियों से बने हुए पात्रों की सहजता को लेकर चलता है तब नाटककार की कला और उसकी शैली को निरंतर एक के बाद एक कई तरह की कसौटियों पर अपने को कसना पड़ता है। कभी-कभी इस अग्नि परीक्षा में नाटक तो बन जाता है, किंतु नाटककार बिखर जाता है। भुवनेश्वर के नाटक तो बन गए और नितांत जीवंत रूप में हमारे बीच हैं, किंतु भुवनेश्वर का आत्मस्वरूप बिखरकर चकनाचूर हो जाता है।'

यह सच है कि भुवनेश्वर के नाटक सर्वथा नए स्वरूप के नाटक हैं, जिनका भारतीय परंपरा में स्रोत खोजना मुश्किल है। आधुनिक जीवन में स्त्री और पुरुष के संबंधों की खोज और उसकी परिणतियों के परीक्षण की जो नई युक्ति लेखक ने ईजाद की, उसकी अनदेखी करना असंभव है। आज घर-परिवार और समाज में वैयक्तिक वासनाओं ने भौतिक जीवन के सुख को अपना पाथेय बना लिया है और भागते समय में अपने को जीने और जी लेने की आकुल इच्छाओं में मनुष्य अपना सब कुछ लुटा देने को तैयार बैठा है, ऐसे में भुवनेश्वर के नाटक अपनी चरम प्रासंगिकता के साथ प्रकट होते दिखाई दे रहे हैं। बेशक यह नगरीय जीवन का सच है, पर गांव-कस्बे भी इस बेपनाह वासना से

बहुत दूर नहीं रह गए हैं। 'छायावाद के युग में भुवनेश्वर के नाटक जिस तिरस्कार के योग्य माने गए, आज उसके अर्थ बदल गए हैं, जीवन के वे मूल्य भी नहीं रहे जो पुरुष और स्त्री को उदात्त बनाते हैं। अब है एक अंधी दौड़, भौतिक सुविधाओं, अपूर्ण कामनाओं और अतृप्त वासनाओं को तृप्त कर लेने की हड़बड़ी, जिसमें सबकी अपनी निजताएं हैं। संबंध अपने अर्थ खो रहे हैं, सामाजिक संस्थाएं सड़ांध के ऊपर दिखने भर को खड़ी दिखाई दे रही हैं, ऐसे में संबंध के झीने धागों के बरक्स सब अपनी-अपनी जिंदगी को नए मायने देने में लगे हैं, तब, भुवनेश्वर के ये नाटक उनकी अपनी ही अतृप्ति और मृत्यु पर खड़े होकर सर्वाधिक प्रासंगिक बन पड़े हैं।

एक ही जिंदगी में, कई जिंदगियों को जीते हुए इन नाटकों के पात्र 'विवाह' को एक 'सुविधा' से अधिक नहीं मानते। स्त्रियां इस मायने में मुखर हैं, पर पुरुष भी अपने आचरण से ऐसा उदाहरण बनकर नहीं आते कि उनके एक 'पत्नीव्रत' होने पर संदेह न हो। यही कारण है कि भुवनेश्वर के यह नाटक अब फलसफे के नहीं जीवन के वास्तविक नाटक बन गए हैं। उनके सभी नाटकों को बुनने के पीछे उनकी अपनी निजी कुंठा अवश्य रही है, इससे इंकार कर पाना कठिन है, पर उनकी यह कुंठा बदले हुए समाज के सच में परिणत हो रही है, यह भी कम सच नहीं है। ठीक है कि स्त्री को एक कुटिल छवि दी गई है, पर जाने-अनजाने उसे ऐसी हिम्मत भी बख्शी गई है कि वह अपने जीवन की राह अपनी पसंदगी से तय करे। यह कम साहस की बात नहीं है कि एक पत्नी अपने पति से अपने पूर्व प्रेमी से संबंधों को कह सके और उसे जी सकने की हिम्मत भी दिखाए। भारतीय परंपरा में यह साहस किसी अन्य लेखक में नहीं दिखता। पश्चिमी नाट्य परंपरा में जाएं तो इस तरह की स्थितियां बर्नाड शॉ और इब्सन के नाटकों में मिलेंगी, पर वहां भी असमंजस में स्त्री घुटकर जीती दिखती है। यह साहस उक्त नाटककारों में भी नहीं है। यह भुवनेश्वर की अपनी मौलिक विचारशीलता है जो पूर्व और पाश्चात्य दोनों परंपराओं से भिन्न एक नई परिकल्पना है जो आगत समाज और स्थितियों की कल्पना तथा वह भी ईमानदार परिकल्पना के बिना संभव ही नहीं थी। अपने कथ्य और रूप में भुवनेश्वर के नाटक उनके अपने नाटक हैं जो अपनी परंपरा स्वयं निर्मित करते हैं।

भुवनेश्वर स्त्री से घृणा करते हैं पर प्रेम भी। उसके प्रति उनके मन में सहज प्रेम तो है पर उसके तिरस्कार से उपजी वितृष्णा भी है। पर इस द्वैत के बावजूद यह स्पष्ट हो जाता है कि संबंध, परिवार, समाज और जीवन के सभी सुखकर उपागम स्त्री से जुड़े हैं जिसके तिरस्कार से कहीं कुछ बचता नहीं है। वही जीवन-भर परीक्षा देने के लिए क्यों प्रस्तुत रहे, क्यों वह अपने को भुलाकर सारे संसार को याद करती रहे, क्यों सबकी सुविधा बनकर अपने को ही मिटा डाले। अगर समाज को उसकी जरूरत है तो उसकी परवाह करे, नहीं तो वह चूल्हे में जाए, इसकी परवाह वह क्यों और कब तक करे ? भुवनेश्वर के नाटकों का असल सवाल यही है कि स्त्रियां जीवन के द्वैत को क्यों जीती हैं ? क्यों वह अपने पति से प्रेम न करते हुए भी उसे ढोती है और क्यों वह इस दोराहे पर खड़े होकर खुद को तथा अपने परिवार को तबाह करती है ? यह महज सवाल नहीं

है, एक बड़ी चिंता है, एक बड़ी बहस है जो मर्यादा की चादर में छुपी वीभत्सता के विरुद्ध छेड़ी गई है। भुवनेश्वर की नकारात्मकता से भरी दृष्टि के बावजूद उनके नाटकों का यह सच अब डराता नहीं, हमें खबरदार करता है क्योंकि अब यह हमारे समाज की कल्पना नहीं सच्चाई है, भले ही वह विस्तार पाने में थोड़ा समय ले। यहां हम बर्तोल्त ब्रेख्त की 'क्रिटिकल डिस्टेंस' यानी आलोचनात्मक दूरी के सिद्धांत को लागू कर सकते हैं, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि कथित प्रतिष्ठा और मर्यादा के नाम पर जिंदगियों को तबाह करने की मानसिकता से बचा जाए। स्त्री या पुरुष का प्रेम सर्वोपरि है, उसकी रक्षा की जाए। जब तक स्त्री या पुरुष के 'स्वत्व' की रक्षा न होगी, उसका सम्मान न होगा, तब तक समाज में व्याप्त व्यभिचार को रोकना असंभव होगा। भुवनेश्वर के नाटकों का एक पाठ यह भी है।

कुछ लोग भुवनेश्वर की स्त्रियों के प्रति अवधारणा को नीत्शे से जोड़ देते हैं। यह हद तक ठीक भी है लेकिन भुवनेश्वर नीत्शे की तरह स्त्री को केवल विषवमन का पात्र नहीं बनाते वरन् उससे करुणा भी रखते हैं। शेक्सपियर की त्रासदियों से भी उनकी स्त्रियों की विडंबना का साम्य बिठाया जा सकता है, जिसमें जीवन की नारकीय यंत्रणाओं का जखीरा है। एक स्त्री शेक्सपियर के 'हेमलेट' की भी है जो अपने ही पति के हत्यारे से शादी करती है। भुवनेश्वर जीवन की गहरी विंडबनाओं के रचनाकार हैं, जो सीधी चोट करते हैं, उसे अमूर्त बनाकर या कला के आवरण में लपेटकर कहना नहीं जानते। चेखव, बर्नार्ड शॉ, शेक्सपियर जैसे सर्जकों की तरह यहां कला का प्रभामंडल नहीं है। है तो एक सीधी चोट पर उलझाव नहीं, कथ्य को नाटक के मारक बिंदुओं तक उठाकर उसे वहीं छोड़ देने की कला है जो हिंदी के किसी भी नाटककार में नहीं है।

भुवनेश्वर ने कहानियां भी लिखीं और इस माध्यम से भी उन्होंने एक उल्लेखनीय योगदान दिया। उनकी कहानियों में नाटकों से अलग तरह का संसार है, लेकिन फर्क यह है कि यहां तक यथार्थ प्रतीकात्मक हो गया है। उनकी कहानियां भी जीवन के कशमकश के बीच पिस रहे मध्यवर्ग को अंकित करती हैं और उसके ध्वंस को दिखाती हैं। यहां भी बिडंबनाएं हैं, रूढ़ियों में दम घुटता जीवन है और बेपनाह पसरी उदासी है। संबंध यहां भी हैं, पर वे खामोशी में अवस्थित हैं- उनके लिए नाटकों जैसे मरने-मारने की हड़बड़ी नहीं है। इस दृष्टि से 'मौसी' उनकी अविस्मरणीय कहानी है जो मन पर गहरे उतर जाती है। 'विष्णो' नामक मौसी जीवन की यंत्रणा सहते अपने जिस संचित प्रेम को लेकर मरती है, वह प्रेम कहानी में बहुत करीने से अंकित है। 'हाय रे मानव हृदय' भी जीवन के गहरे क्षण को उसकी विडंबनाओं सहित व्यक्त करती कहानी है। 'लड़ाई' नामक कहानी तो अपने मितकथन में अद्वितीय ही है, क्योंकि इसमें जीवन-संघर्ष और उसके फलस्वरूप मानवीय यंत्रणा को संकेतों में व्यक्त किया गया है। उनकी अन्य कहानियों में 'मास्टरनी', 'सूर्यपूजा', 'एक रात', 'मां-बेटे', तथा 'भेड़िये' अपनी व्यंजना और संवेदनात्मक निरूपण के कारण न केवल कहानी को नई शक्ति देती हैं वरन् जीवन के अनेक अनजान रहस्यों से परिचित कराती हैं। उनकी 'भेड़िये' कहानी

प्रतीकात्मक ढंग से लिखी नायाब कहानी है, जिसने हिंदी कहानी की दिशा ही बदल दी। यथार्थ यहां जीवन के संकट का प्रतिरूप है तो चरित्र भय और संत्रास के बीच झूलती छायाओं की तरह टंगे हैं। भुवनेश्वर अभाव, असुरक्षा, यंत्रणा और उपेक्षा से विक्षिप्त होते हैं और मर जाते हैं। उन्हें इन्हीं भेड़ियों के आतंक ने मारा और हमने उन्हें मरने दिया। हमने इस निबंध की शुरुआत उनकी एक कविता से की थी जिसमें वे एक प्यारी सी लड़की को कल्पना के अकेले प्रकाश में चूमते हैं, उसे आलिंगन में लेते हैं और सुखद अहसास से भर जाते हैं। जिसे वह जीवन मानते हैं या वह सचमुच है, उससे वे सदा वंचित रहे और उनके अंतर की आग हमेशा दहकती रही, वे जलते रहे। उनके नाटक उनके अंतर की यही दाहक अग्नि हैं, जो भले ही निषेध से उपजे हों, समाज के सभी विधि-निषेधों को तोड़ फेंकते हों- पर एक ऐसी सच्चाई है जो उनके कोमल राग को, उनकी गहरी पीड़ा को व्यक्त करते हैं। अंततः उनका आग्रह ऐसे समाज का आग्रह है जो प्रेम, सहकार, समन्वय और सुखद भविष्य पर आधारित हो। वे फ्रांसीसी नाटककार ज्यां रासिन की तरह समाज के भीतर घट रही वासना की वीभत्सता को अपनी अंतः प्रक्रियाओं में देखते हैं और भविष्य की इबारत लिखते हैं। उनके लिखे नाटक हों या कहानियां या कविताएं, वे अनुभूत हैं, शब्द वहां नहीं हैं, भाव हैं जो कदाचित गहरी मानसिक यंत्रणा की उपज हैं।

दुःखद है कि हम अपने लेखकों को अभाव, दरिद्रता, उपेक्षा और तिरस्कार कर उन्हें मरने पर विवश करते हैं और बाद में उनकी याद को, उनके लिखे को संजोकर रखते हैं गोया वह ऐसी मौत न मरते तो उनके लिखे का अर्थ क्या होता। भुवनेश्वर सही मायनों में अपूर्व प्रतिभा संपन्न सर्जक हैं, जिनकी रचनाएं नए सिरे से समाज को देखना प्रस्तावित करती हैं और यह सविनय निवेदन भी कि अब इस तरह कोई लेखक दोबारा न मरे।

प्रगतिशील परंपरा का मूल्यांकन

रूपेश कुमार

उत्तर औपनिवेशिक चिंतक एवं मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा का लेखन वृहद और अत्यंत विस्तृत है। उन्होंने इतिहास, भाषा विज्ञान तथा साहित्य के सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक लेखन के साथ-साथ कई पुस्तकों का अनुवाद भी किया। किसी पाठक के लिए इन पुस्तकों का अध्ययन करने में ही वर्षों लग सकते हैं। ऐसे में रामविलास शर्मा जैसे समर्थ आलोचक के जीवन को एक मोनोग्राफ में समेटना आसान नहीं है। रामविलास शर्मा ने भारतीय दृष्टिकोण को केंद्र में रखकर जो स्थापनाएं कीं, वह काफी विवादास्पद रहीं इसलिए उन पर लिखना और भी कठिन है। आलोचक शंभुनाथ ने रामविलास शर्मा के विपुल लेखन को खंगालकर उनके महत्व को रेखांकित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनका यह कार्य उसी परंपरा के विकास की अगली कड़ी है, जिसके लिए स्वयं रामविलास शर्मा ने संघर्ष किया था। वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं 'बीसवीं सदी में प्रेमचंद के बाद रामविलास शर्मा दूसरे बड़े साहित्यकार हैं, जिन्होंने भारतीय धरती पर सामंतवाद और साम्राज्यवाद से जीवन भर वैचारिक संघर्ष किया। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिंदी आलोचना की परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके काम में हिंदी आलोचना को जो व्यापकता और ऊंचाई मिली, वह बेजोड़ है।' रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल के कवि कबीर, सूर, तुलसी, जायसी और आधुनिक काल के रचनाकार भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और निराला को एक ही धरातल पर स्थापित करके जिस प्रगतिशील परंपरा का निर्माण किया था, उसमें रामविलास शर्मा का नाम जोड़कर पुस्तक में उसे विस्तार दिया गया है।

रामविलास शर्मा का जीवन एक साधक का जीवन था। उनकी साधना एकांत में बैठकर ईश्वर का दर्शन और जीवन मुक्ति जैसी भावनात्मक चीजों के लिए नहीं थी बल्कि सामंतवाद और साम्राज्यवाद जैसी शक्तियों के साथ वैचारिक संघर्ष की थी। जीवन, वैचारिक निर्माण और संघर्ष के अंतर्गत शंभुनाथ ठीक ही लिखते हैं कि 'रामविलास शर्मा की आलोचना के अनोखेपन, पारदर्शिता और विस्तार के कई सूत्र उनके जीवन, व्यक्तित्व और संघर्षों में हैं।' पुस्तक में बड़े विस्तार से रामविलास शर्मा के जीवन से संबंधित विभिन्न महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया गया है। विशेष रूप से समकालीन रचनाकारों से उनके संबंध तथा प्रगतिशील आंदोलन में उनकी भूमिका के आलोक में उनके वैचारिक निर्माण को देखना तर्कसंगत और महत्वपूर्ण है।

रामविलास शर्मा साहित्यकार, इतिहासकार तथा भाषा वैज्ञानिक के साथ-साथ समाजविज्ञानी, राजनीतिक अर्थशास्त्री और संगीतशास्त्री भी थे। शंभुनाथ लिखते हैं 'हो सकता है, रामविलास शर्मा का समाज वैज्ञानिक हस्तक्षेप जो बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में काफी बढ़ गया था, कइयों को अनावश्यक लगे, क्योंकि इतिहास, समाजशास्त्र, समाजी-भाषा विज्ञान, राजनीतिक दर्शन, अर्थशास्त्र इतने सारे अनुशासनों में वे बहुस्वीकृत धारणाओं को चुनौती देते हैं। दरअसल आलोचना का यही काम है।' रामविलास शर्मा के द्वारा मिल रही इन चुनौतियों के कारण ही उन्हें लंबे समय तक उपेक्षित किया गया। विशेषज्ञता के इस दौर में विभिन्न अनुशासनों के अंतरसंबंधों तथा जरूरतों को ध्यान में रखकर रामविलास शर्मा ने जिस तरह का समग्रता पूर्ण लेखन कार्य किया उसके बिना ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपनिवेशवाद को समझ पाना संभव नही था। रामविलास शर्मा ने ऐसे वैचरिक साम्राज्यवाद को समझा भी और अपने लेखन के माध्यम से उसका प्रतिरोध भी किया। पुस्तक में रामविलास शर्मा होने का अर्थ भी इसी में सन्नहित माना गया है। वे जिस समय लिख रहे थे चीजें बहुत कुछ साफ नहीं थीं। वर्तमान वैश्वीकरण और बाजारवाद के दौर में अमेरिका तथा यूरोप- केंद्रित विचारधारा और उत्पाद ने बहुत कुछ स्पष्ट भी कर दिया है।

रामविलास शर्मा परंपरा और इतिहास के साथ साहित्यकार का मूल्यांकन करते हुए किसी तरह संकोच नही करते थे। जहां एक ओर अपनी बात को प्रमाण के साथ तर्कपूर्ण ढंग से रखते थे वहीं प्रगतिशीलता की कसौटी पर खरी न उतरने वाली बात का जोरदार खंडन भी करते थे। यह प्रगतिशील आलोचना के लिए कितना जरूरी है, इसका अंदाजा उनके इस कथन से लगाया जा सकता है कि 'मैं अपने इन तमाम लेखों की स्थापनाओं को सही मानता हूं और अपने मित्रों से आग्रह करता हूं कि आप शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन आदि की रचनाओं की खुद आलोचना कीजिए। जो बातें मुझसे छूट गई हों, उसका युक्तिपूर्ण खंडन कीजिए। यह रास्ता प्रगतिशील आलोचना के विकास का रास्ता है और रिमार्क करनेवाला रास्ता पतन का रास्ता है।' शंभुनाथ अपनी पुस्तक में इस कथन को 'आलोचना में जनतंत्र का आवाहन' मानते हुए

रामविलास शर्मा को भी इसी कसौटी पर कसते हैं। इसी कारण वे केवल उनकी प्रशंसा ही नही, जरूरत के अनुसार कई जगह आलोचना भी करते हैं।

भारत में प्राचीन ज्ञान की विपुल संपदा उपलब्ध होने के बावजूद पश्चिम में उसे पिछड़ा हुआ माना जाता था (बहुत से लोग आज भी मानते हैं)। रामविलास शर्मा का यह महत्वपूर्ण योगदान है कि उन्होंने ज्ञान की इस राशि से प्रगतिशील तत्त्वों की पहचान कर अवरुद्ध परंपरा को प्रवाहमान बनाया। शंभुनाथ बताते हैं कि किस तरह से भारतीय चिंतकों में रामविलास शर्मा पिछड़ापन-सिंड्रोम को एक सिरे से ख़ारिज कर देते हैं। वे आर्थिक संदर्भ में ही नहीं धर्म, साहित्य और संस्कृति के संदर्भ में भी भारतीय परंपरा की शुरुआत से ही विकास का लक्षण दिखाते हैं। उनके अनुसार 'उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में परंपरा के मूल्यांकन का एक ख़ास स्थान है। राहुल सांकृत्यायन, दामोदर धर्मानंद कोसंबी, देवीप्रसाद चटोपाध्याय आदि ने परंपरा के मूल्यांकन में जो जगहें खाली छोड़ दी थीं, उन्हें रामविलास शर्मा ने भरने की कोशिश की और परंपरा के मार्क्सवादी मूल्यांकन का प्रयास किया।' शंभुनाथ का ये लिखना ठीक भी है, किंतु अति उत्साह में रामविलास शर्मा कुछ चूक भी करते हैं, जिसमें वर्ण- व्यवस्था और तुलसीदास को कबीर से अधिक महत्व देने जैसे कुछ प्रसंग हैं। इस ओर पुस्तक में संकेत भी है, किंतु कबीर और तुलसी के नारी विषयक दृष्टिकोण पर रामविलास शर्मा ने बहुत कुछ लिखा, जो काफी विवादास्पद है, जिसका जिक्र न होना खटकता है।

रामविलास शर्मा का अधिकतर लेखन वैदिक साहित्य, भक्तिकाल और आधुनिक काल पर है। वे मार्क्सवाद की जड़ तलाश करते हुए वैदिक साहित्य तक जाते हैं और दिखाते हैं कि वहां श्रम के सौंदर्य का किस तरह से महत्व था। वेदांत, बौद्ध धर्म, भक्ति आंदोलन आदि को लेकर रामविलास शर्मा ने बहुत कुछ लिखा है। आर्य द्रविड़ समस्या पर भी वे सार्थक हस्तक्षेप करते हैं। इन विषयों के चर्चा करते हुए बड़े ही तथ्यपूर्ण ढंग से दिखाया गया है कि रामविलास शर्मा ने किस तरह से अपनी आलोचना को पश्चिमी समाज विज्ञानों का उपनिवेश नहीं बनने दिया। 1857 की घटना रामविलास शर्मा के चिंतन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस पर स्वतंत्र किताब लिखकर उन्होंने इसके महत्व को स्पष्ट कर दिया था। शंभुनाथजी रामविलास शर्मा द्वारा 1857 के मामले को इतना महत्व देने का कारण एक खास अर्थ में करते हैं। वे लिखते हैं 'रामविलास शर्मा ने 1857 का संदर्भ उठाते हुए उसे राष्ट्रीय जागरण के संदर्भ में देखना चाहा था। उन्होंने सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद के खतरों पर जितनी सजग निगाह रखी, भारत के बहुत कम लेखकों ने रखी है। वह उन्नीसवीं सदी के नवजागरण को 1857 के राष्ट्रीय संग्राम से जोड़कर मुख्यत: यही संदेश देना चाहते हैं कि साम्राज्यवाद के प्रति सचेत और सक्रिय हुए बिना कोई भी जागरण अधूरा है। दूसरे शब्दों में हिंदू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ किए बिना, सामंती प्रभेदों- रूढ़ियों से ऊपर उठे बिना और किसानों के सामने आए बिना, साम्राज्यवाद से मुकाबला नहीं किया जा सकता।' आज नव साम्राज्यवाद जिस तरह से पुन: दस्तक दे रहा है, ऐसे में रामविलास शर्मा के लेखन की महत्ता और भी बढ़ जाती है।

पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह से सांप्रदायिक दंगे, जातिवादी नरसंहार हुए हैं, शंभुनाथ उसके आलोक में रामविलास शर्मा के लेखन को देखने की जरूरत पर बल देते हैं।

रामविलासजी सार्वाधिक विवादित और चर्चित 'हिंदी जाति की अवधारणा' तथा 'हिंदी नवजागरण' संबंधी स्थापनाओं के कारण रहे हैं। उन्होंने अपनी सभी स्थापनाओं में सर्वाधिक बल इन्हीं स्थापनाओं पर दिया। हिंदी जाति के संबंध में उन्होंने जाति शब्द का प्रयोग नस्ल (Race) या बिरादरी (Cast) के लिए न करके कौम (Nationality) के अर्थ में करते हैं। रामविलास शर्मा से पहले 'जातीय संगीत' नामक निबंध में भारतेंदु हरिश्चंद्र जाति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कर चुके थे। रामविलास शर्मा का इस संबंध में महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वे इसका अर्थ और अधिक स्पष्ट करते हुए चर्चा के केंद्र में लाते है। शंभुनाथ रामविलास शर्मा की विभिन्न पुस्तकों से सोदाहरण लिखते हैं कि वे किस तरह हिंदी क्षेत्र की पहचान करते हैं और उसके पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार तथ्यों को सामने लाते हैं। हिंदी जाति की अवधारणा के विकास में सर्वाधिक समस्या उर्दू तथा हिंदी की विभिन्न बोलियों के कारण पैदा होती है। रामविलास शर्मा के अनुसार हिंदी और उर्दू में सिर्फ लिपि का अंतर है तथा विभिन्न बोलियों से ही हिंदी का अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में ये विवाद निरर्थक हैं। लेखक ने पुस्तक में रामविलास शर्मा की इस अवधारणा को विस्तार देते हुए इसके पक्ष में कई और तर्क देते हैं। रामविलास शर्मा की नवजागरण संबंधी अवधारणा के महत्व को रेखांकित करते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचंद शुक्ल और निराला की विस्तार से चर्चा करते हैं।

रामविलास शर्मा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेखन निराला पर है। वे आलोचना में आते ही हैं निराला पर हो रहे प्रहारों की वजह से। पुस्तक में इस पर अलग से एक अध्याय है, लेखक ने रामविलासजी की मान्यताओं का गहराई से विवेचन विश्लेषण किया है। अगर देखा जाए तो अन्य अध्यायों की तुलना में यह अध्याय अधिक आलोचनात्मक और प्रामाणिक है। शंभुनाथ लिखते हैं 'निराला की साहित्य साधना में निराला और उनके युग की गंभीर, आतंरिक और मार्मिक जानकारियां हैं। निश्चय ही रामविलास शर्मा की आलोचना के सभी सैद्धांतिक सूत्र निराला के साहित्यिक मूल्यांकन में चमक उठते हैं। वे आगे लिखते हैं निश्चय ही रामविलास शर्मा निराला की काव्य संवेदना और संघर्ष के आधारभूत 'थ्रस्ट' को पहचानने में कामयाब रहे हैं। इन प्रशंसाओं के बावजूद पुस्तक लेखक ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि में कहीं कमी नहीं आने दी। जहां निराला के मूल्यांकन में वे रामविलास शर्मा की प्रशंसा करते हैं, वहीं यह भी दिखाते हैं कि निराला ने 'कुकुरमुत्ता' में राष्ट्रीय एकता का बड़ा अनोखा चित्र खींचा था फिर भी रामविलास शर्मा उसकी आलोचना करते हुए किस तरह से उसमें विकृति और अराजक्तावाद लक्षित करते हैं। इतना ही नहीं वे इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि रामविलास शर्मा 'नारी स्वाधीनता' पर चर्चा करते हैं 'तोड़ती पत्थर' कविता को छांटकर। इसी तरह दलित संपर्कों के मामले में 'गर्म पकौड़ी' और स्त्री-सौंदर्य की चर्चा में 'स्फटिक शिला उपेक्षित रह जाती है। रामविलास शर्मा का मन 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज स्मृति' में

अधिक रमा। इनकी व्याख्याओं को लेकर भी पुस्तक में कई आपत्तियां उठाई गई हैं लेकिन इन सबके बावजूद रामविलास शर्मा के महत्व को कहीं भी नकारा नहीं गया है।

प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं को लेकर रामविलास शर्मा द्वारा की गईं बातों को पुस्तक में बिंदुवार रखा गया है, जिसमें प्रगतिशील साहित्यकारों के मूल्यांकन को लेकर लेखक की कुछ असहमतियां हैं। शंभुनाथ के अनुसार, जिस दौर में रामविलास शर्मा ऋग्वेद से लेकर तुलसीदास और निराला तक के मूल्यांकन में काफी उदार थे, उसी दौर में आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में वे कठोरता का परिचय देते हैं।

भाषा विज्ञान के संबंध में रामविलास शर्मा ने प्रचलित मान्यताओं का खंडन करते हुए मौलिक स्थापनाएं कीं। रामविलास शर्मा द्वारा विश्लेषित ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की अपनी विशेषताएं हैं। पुस्तक में इन मौलिक स्थापनाओं को स्पष्ट करते हुए उसके महत्व तथा औचित्य को सिद्ध किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस तरह रामविलासजी भाषा विज्ञान को भी एक भारतीय जमीन देते हैं।

पुस्तक लेखक को ऐसे समय में जब लोगों ने प्रायः सोचना बंद कर दिया है, रामविलास शर्मा की स्थापनाओं से बड़ी उम्मीद है। उनका मानना है कि रामविलास शर्मा जब सोच रहे थे, इतिहास की दबी आशाओं को फिर से पंख आ रहे थे। यह जनता की सैकड़ों साल की सोच है, जो संघर्ष, चिंतन से अविरल गुजरते हुए बुद्ध,कबीर, मार्क्स, गांधी, प्रेमचंद, अंबेडकर और रामविलास शर्मा तक पंहुची है।

रामविलास शर्मा ने अपने लेखन के माध्यम से जिस प्रगतिशील परंपरा और आलोचना की संस्कृति का निर्माण किया था शंभुनाथ ने यह मोनोग्राफ लिखकर निश्चय उसका विस्तार किया है। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित इस मोनोग्राफ को पढ़कर सामान्य साहित्य प्रेमी पाठक समग्रता में रामविलास शर्मा को समझ सकता है और यही पुस्तक की विशेषता और सफलता है। रामविलास शर्मा के जन्म शताब्दी वर्ष में इसका प्रकाशन और भी अधिक मायने रखता है।

रामविलास शर्मा (मोनोग्राफ)
शंभुनाथ
साहित्य अकादेमी, 35 फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली- 110001
मूल्य : 100/- रुपये (पेपरबैक)

वैज्ञानिक चेतना के प्रसार में मीडिया की भूमिका

संजीव

अपने देश में जिस चीज़ पर सबसे ज्यादा ध्यान देने की जरूरत थी, उसी की सबसे ज्यादा उपेक्षा हुई। वह चीज थी सांस्कृतिक नवजागरण। सांस्कृतिक नवजागरण में सबसे अहम भूमिका निबाहने का काम करती वैज्ञानिक चेतना और इस चेतना के संप्रसारण में अग्रणी भूमिका निबाहनी थी मीडिया को। दुर्भाग्यवश, मीडिया, जिसे लोक प्रहरी होना था, प्रतिगामी शक्तियों की दलाली और ठकुरसुहाती का राग अलाप कर अपने लिए सुविधाएं बटोरने में जुट गया।

जब आर्यभट ने उदयाचल, अस्ताचल के मिथक को खंडित करते हुए बताया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती है तो एक अन्य वैज्ञानिक ब्रह्मगुप्त ने मौलवादी, सामंती दबाव में आकर इसका खंडन करते हुए कहा कि यदि सच होता तो अपने नीड़ से निकलकर आकाश में उड़ती हुई चील अपने नीड़ का रास्ता भटक जाती मगर, ऐसा नहीं होता, अतः पृथ्वी स्थिर है। आर्यभट क्या करते? कहते हैं, जीवन के अंतिम काल में ब्रह्मगुप्त ने अपनी इस प्रतिस्थापना का खंडन करते हुए अफसोस जाहिर किया था कि आर्यभट सही थे, तब तक देर हो चुकी थी।

हमारी विज्ञान भित्तिक पुस्तकें, खासकर पश्चिम बंगाल, केरल की पुस्तकों ने ऐसी बहुत-सी भ्रांतियों को दूर करते हुए, उनमें वैज्ञानिक चेतना का उद्रेक करने की कोशिश की, मगर लोक आस्था को न बदल सकीं। हिंदी पट्टी तो ज्ञान-पापी ही बनी रही।

क्या आदिम संस्कारों के आदिवासी, क्या आधुनिक संस्कारों के शिक्षित भद्रलोग, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान-सब एक जैसे। लाख बताए और पढ़ाए जाने के बावजूद लोग

भाग्य, पुनर्जन्म, कर्मफल, ग्रहण, व्रत, बलि, टोटके, शगुन, डायन, शरीरोत्पीड़न, अमंगल, नदियों में पुष्प, प्रतिमा और अस्थि विसर्जन, लिंगपूजा, योनिपूजा, यहां तक कि सती प्रथा और नरबलि में विश्वास करते हैं। जोसेफ गोएबल्स ने कहा था, 'अगर एक झूठ को सौ बार बोला जाए तो वह सच हो जाता है।' सौ नहीं लाखों, करोड़ों बार। लाखों, करोड़ों पुजारी और भक्तजन इन झूठों और इस अपराधिकी को बढ़ाने में लगे हैं तो जनभावनाएं सुधरें कैसे ? और तो और, वैज्ञानिक प्रयोगशाला या उसके कंप्यूटर और अन्य अधुनातन उपकरणों का उदघाटन भी मंत्रोच्चारण और कर्मकांड के बिना संपन्न नहीं होता है और अमिताभ बच्चन जैसे आईकॉन अपने बेटे की शादी में अंधविश्वास फैलाते हैं और यह हजारों बार प्रसारित होता है।

एक अत्याधुनिक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ने कुलपति से निवेदन किया कि उन्हें ग्रह शांति के लिए पूजा-हवन के अनुष्ठान करने की अनुमति दी जाए। ये विशिष्ट लोग हैं, इनका दूसरे अनुकरण करते हैं। हिंदी के कई लेखक और पत्रकार बाकायदा पूजा आदि कर्मकांड करते हैं, 'हनुमान चालीसा' का पाठ भी। कई बुद्धिजीवी डॉक्टर आदि सावन में कांवड़ लेकर जाते हैं और अमरनाथ की गुफा की यात्रा भी...और मीडिया, जिसकी वैसे किसी भी अंधविश्वास भंजक समाचार के प्रकाशन, प्रसारण या प्रचार करने में नानी मरती है, इसे शान से प्रचारित करता है बल्कि इस पुण्य कार्य का श्रेय लेने की होड़ मच जाती है। हर चैनल और हर अखबार में अवैज्ञानिक तथा मूर्खता भरे उपदेशक बाबाओं की भरमार है ही। ओशो ने कहा था कि अगर विज्ञान की चले तो हर अज्ञात ज्ञात हो जाए और धर्म की चले तो हर ज्ञात अज्ञात...। बाजारवाद और जल्दी से जल्दी धनी बन जाने, रोगमुक्त, सफल होने, पुंसत्व प्राप्त करने, बाल उगाने, सुंदरता और यौवन पाने और तमाम समस्याओं से निजात दिलाने के लोभ के प्रचारक इस मीडिया से हम किसी वैज्ञानिक चेतना जगाने की उम्मीद कैसे करें ?

फल क्या हुआ ? सांस्कृतिक क्रांति की जगह धार्मिक पुनरुत्थानवाद ने ले ली। अब तो पुलिस भी डायन और सतीकरण की प्रथा को नहीं रोकती, पुरी के जगन्नाथ मंदिर की देवदासी बनने के विरुद्ध आंदोलन उठता है तो खुद प्रार्थी लड़कियां ही विरोध करती हैं। जाति प्रथा को जिलाए रखने वाले इनके सीरियलों से संबलित होते हैं, आश्चर्य, यह विज्ञान विरुद्ध लोक प्रशिक्षण वह प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया कर रहा है जिसका संभव होना ही विज्ञान पर निर्भर करता है। हम खाते हैं विज्ञान का, गाते हैं भगवान का, करते हैं शैतान का। सांच कहे तो मारन धावे, झूठहि जग पतियाना।

राहुल सांकृत्यायन ने कहा था कि परंपराएं चमड़ी की तरह होती हैं आसानी से जातीं नहीं, इन्हें खरोंच कर फेंकना पड़ता है। ये अंतर्चेतना की किन परतों में छुपी होती है, इन्हें कहां-कहां से फीडबैक मिलता रहता है, पता ही नहीं चलता। कई बार तो हम जिस अंध कुंठा का उपहास करते हैं, अनजाने ही स्वयं उसमें लिप्त रहते हैं, मसलन, ममियों का मसला ही लिया जाए। मिस्र में कभी लाशें ममी बनाकर रखी जाती थीं कि

कोई ओसिरस देवता आकर उन्हें जिंदा कर देगा और हम इसका उपहास करते हैं। क्या मृतकों को कब्र में दफनाने की प्रथा प्रकारांतर से उसी सोच की छाया नहीं हैं ?

मुनाफे और बाजारवाद के इस व्यूह में मीडिया वालों का तर्क है कि हमें विज्ञापनदाताओं, दर्शकों, पाठकों की रुचि का ख्याल रखना पड़ता है, हम कोई धर्मखाता खोलकर नहीं बैठे हैं। एक सक्षम जन आंदोलन ही इन्हें बाध्य कर सकता है और इन सक्षम आंदोलनों को बनाता कौन है- मीडिया! हमारे ज्ञान-विज्ञान जत्थों, अंधविश्वास निवारण संस्थाओं के काम काफी हद तक विश्वसनीय हैं पर मीडिया उन्हें मंच ही नहीं देता। थोड़ा साहस, थोड़ा जोखिम उठाना ही पड़ता है। अपने-अपने स्तर पर कई लोग और संस्थाएं करती भी हैं, मगर वह प्रचारित ही नहीं हो पाता है और पब्लिक डिस्कोर्स में नहीं आ पाता।

मीडिया को वैज्ञानिक चेतना की, तभी सूझती है, जब कोई ढपोरशंखी बाबा पकड़ा जाता है या जब उसे किसी खबर को कैश करना होता है। बाकी वह शायद ही कोई दायित्व या जोखिम उठाता है।

कभी **'**भारत एक छाप**'** धारावाहिक प्रसारित होता था डी**.**डी.-1 पर**,** **'**सुरभि**'** और **'**कृषि-जगत**'** समेत चेतना का उद्रेक करने वाले कई कार्यक्रम...। प्रात: छह से साढ़े सात या आठ तक विज्ञान के पाठ्यक्रम चलते थे लेकिन पैसों के बल पर चलने वाले निजी चैनलों की बाढ़ या खर-पतवार ने सबको ढक लिया। **'**नेशनल ज्योग्राफिक**'** और **'**डिस्कवरी**'** जैसे चैनलों की विज्ञान सामग्री भी वैज्ञानिक चेतना के प्रसार में सक्षम मददगार नहीं है। इसके लिए प्रो. यशपाल के प्रश्नोत्तर या सीधे विमर्श में खींच लाने वाले सुरभि जैसे सरल**,** सुबोध लोकरंजक सीरियल और प्रिंट मीडिया के भी समानधर्मा पृष्ठ अनिवार्य होने चाहिए। सवाल फिर भी रह जाता है- इन्हें अनिवार्य करेगा कौन।

मीडिया उद्योग धीरे-धीरे बड़ी पूंजी का कारोबार बनता जा रहा है। जो जितना ज्यादा धन उगाह सके**,** उतना सफल मीडिया हाउस चाहे प्रिंट हो या खबरिया चैनल। मार्केटिंग और विज्ञापन की नई-नई चालें हैं। प्रशासन माला जपनी उस बूढ़ी सास की तरह है जो पैसा पाकर चुप है, जबकि अंदर उसकी बहू से बलात्कार हो रहा है, पर वह अंधी और बहरी माला जप रही होती है। कभी-कभी मन करता है- 'इंडिया टी.वी.' 'आजतक' या ऐसे अज्ञान प्रसारक चैनलों से पूछें, दुनिया में प्रलय, सनसनीखेज झूठ, अमरनाथ गुफा, रावण की ममी, तंत्रमंत्र, बाबाओं, भूत के सीरियलों का प्रसारण करते समय जिम्मेदार लोग क्यों भूल जाते हो कि तुम्हारे भी बच्चे हैं, न कोई लाज है न डर, न कोई जिम्मेवारी **?** हम किन खुदगर्ज व्यापारियों और बौद्धिक दासों से घिरे हुए हैं ?

पिछले दिनों फिल्म अभिनेता आमिर खान का एक कार्यक्रम **'**सत्यमेव जयते**'** आया तो कन्या भ्रूण हत्या**,** नशाखोरी**,** स्वास्थ्य**,** पेयजल**,** कीटनाशकों के प्राणघाती उपयोग जैसी ज्वलंत समस्याओं के प्रति व्यापक जन समुदाय को जागरूक बनाने के लिहाज से**,** लगा**,** एक आशा की किरण दिखी है। आमिर ने कई संघर्षरत सामाजिक-

वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं और संस्थाओं को भी हाईलाइट किया और कई राज्य सरकारों तक ने उनका अनुसरण किया।

हमारे जैसे लोग खुश हुए कि चलो, जिन महत्वपूर्ण मुद्दों पर हम लिख-लिखकर चीख-चीखकर हार गए थे- ग्लैमर के सहारे ही सही उसे **'**सत्यमेव जयते**'** ने कर दिखाया लेकिन मेरी खुशी, उस समय संशयग्रस्त हो गई, जब पता चला कि **'**सत्यमेव जयते**'** के पीछे कोई बड़ा उद्योगपति है। क्या वाकई उनका हृदय-परिवर्तन हो चुका है ? यदि ऐसा रातोंरात हो गया हो तो यह चमत्कार है। खैर फिलवक्त तो इसका स्वागत ही होना चाहिए, पर 'सत्यमेव जयते' या 'असर' जैसे इक्के-दुक्के कार्यक्रम ही क्यों ? ऐसे हजारों, लाखों प्रसारण होने चाहिए, क्यों नहीं होते ?

एक सूचना के अनुसार 681 नये निजी चैनल कतार में हैं। 137 को अनुमति मिल चुकी है। पहले के स्थापित शताधिक बड़े चैनल हैं, सूचना तंत्र का ऐसा कौन-सा भीषण विस्फोट हो गया या जन-सेवा का कौन-सा ज्वार आ गया। लगता है, हम सब 'डर्टी पिक्चर' के निर्माता, पात्र और दर्शक हैं जहां उसकी भ्रष्ट 'नायिका कहती है फिल्म तीन वजहों से सफल होती है, पहला इंटरटेनमेंट दूसरा इंटरटेनमेंट और तीसरा इंटरटेनमेंट। कैसी चेतना ? कहां की चेतना ? यह सिर्फ और सिर्फ इंटरटेनमेंट के नाम पर अपनी कमाई करने की लोक लहर है। मनुष्य के आग्रहों, अंधविश्वासों की अंधी गली में भटककर अपनी गोटी लाल करने वाले के भेड़ियाधंसान में वे कहां हैं जो लोकधर्मी चेतना के वाहक हैं ? सामान्य लोग धारा के साथ बहते हैं लेकिन बड़ी प्रतिभाएं धारा को अपने पीछे आने को बाध्य करती हैं। वे ही, **' Man making mission'** का सूत्रधार होती हैं। उन्हीं से आदमी बदलता है, समाज बदलता है, युग बदलता है, दुनिया बदलती है।

विश्व हिंदी सम्मेलन : एक रपट

भारत के स्वाबलंबन का सपना देखने वालों ने हिंदी को उसका उचित स्थान दिलाने का बीड़ा उठाया था सन् 1975 में नागपुर के प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में और इसका नौवां पड़ाव जोहांसबर्ग (दक्षिण अफ्रीका) में 22-24 सितम्बर, 2012 को संपन्न हुआ। सम्मेलन के लिए दक्षिण अफ्रीका का चयन इस मायने में खास महत्व रखता है कि प्रथमत: हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करने का श्रेय जिन महात्मा गांधी को जाता है, उनके लिए दक्षिण अफ्रीका और नागपुर (वर्धा) दोनों ही प्रयोग भूमि थी और, द्वितीयत: आज से एक सौ पचास वर्ष पूर्व भारतवंशी गिरमिटिया मजूर बन कर बाहर जाने को अभिशप्त हुए थे, उनका एक पड़ाव दक्षिण अफ्रीका भी था, जहां आज भी 15 लाख भारतवंशी रहते हैं। महात्मा गांधी और उनकी विचारधारा से प्रभावित दक्षिण अफ्रीका के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. नेल्सन मंडेला ने विश्वशांति, अहिंसा, समता और न्याय पर आधारित ठोस कार्यक्रमों के आधार पर रंगभेद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक लंबी लड़ाई लड़ी थी इसीलिए 'भाषा की अस्मिता और हिंदी के वैश्विक संदर्भ' पर केंद्रित सम्मेलन के सारे सत्र इन दोनों महापुरुषों के आदर्शों से अनुप्राणित विषयों पर रखे गए थे। जोहांसबर्ग स्थित नेल्सन मंडेला चौक का 'सैंडटन कंवेंशन सेंटर', जिसे 'गांधी ग्राम' का नाम दिया गया था और सभास्थल का नाम 'नेल्सन मंडेला सभागार' था। साहित्य भाषा का सांस्कृतिक परिसर है लेकिन जीने के लिए रोजगार चाहिए। तकनीकी अभिज्ञान और नए दबावों ने आज के बहुभाषिक विश्व में भाषा के प्रति हमारी धारणा को अधिक व्यावहारिक और उदार बनाया है।

22 सितंबर, 2012 को गांधीग्राम जोहांसबर्ग के नेल्सन मंडेला सभागार में दुनिया के भिन्न-भिन्न भूभागों से आगत हिंदी प्रेमियों एवं हिंदी सेवियों से भरे सभागार में मंचस्थ अतिथियों द्वारा दीप प्रज्जवलन के साथ सम्मेलन की औपचारिक शुरुआत हुई।

मुख्य अतिथि और दक्षिण अफ्रीका के वित्त मंत्री प्रवीन गोर्धन ने हिंदी भाषा में अतिथियों का अभिनंदन कर कहा कि दक्षिण अफ्रीका में हिंदी तथा भारतीय भाषाएं लगातार विकसित हो रही हैं। उन्होंने बताया कि दक्षिण अफ्रीका में हिंदी तथा भारतीय भाषाओं के विकास हेतु अनेक सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं।

संचालन समिति के अध्यक्ष एवं सांसद सत्यव्रत चतुर्वेदी ने कहा कि हिंदी गांधी और दक्षिण अफ्रीका-तीनों में गहरा तादात्म्य है। भारत में अंग्रेजी के बिना विकास संभव नहीं- यह अवधारणा निर्मूल है। जिन लोगों के कंधों पर हिंदी मजबूत करने का दायित्व है, उन्हें आत्म निरीक्षण करना चाहिए। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहीं भारत की विदेश राज्यमंत्री प्रनीत कौर ने कहा कि दक्षिण अफ्रीका हमारे लिए एक तीर्थस्थल की तरह है। मंचस्थ अतिथियों द्वारा बारी-बारी से रवींद्र कालिया द्वारा संपादित 'विश्व हिंदी सम्मेलन स्मारिका', राकेश पांडेय द्वारा संपादित 'प्रवासी संसार' एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की पत्रिका 'गगनांचल' के विश्व हिंदी सम्मेलन केंद्रित विशेषांकों का लोकार्पण हुआ। दक्षिण अफ्रीका स्थित हिंदी शिक्षा संघ की अध्यक्ष मालती रामबली ने दोनों देशों के परस्पर आदान-प्रदान, सहयोग और विकास के अवसरों के बढ़ने के साथ-साथ आशा जतायी कि इस सम्मेलन के आयोजन के बाद दक्षिण अफ्रीका की सरकार हिंदी को नयी दृष्टि से देखेगी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की पौत्री इला गांधी ने कहा कि भाषा, सूचना, अनुभव, राष्ट्र के दर्शन जीवन और संस्कृति को संप्रेषित करती हैं। उन्होंने अनुवाद की जगह मूल भाषा पर बल दिया। दक्षिण अफ्रीका के उप विदेश मंत्री मारियस फ्रांसमन ने अपने संबोधन में कहा कि दक्षिण अफ्रीका में बहुत से हिंदी भाषी अर्से से रहते हैं। हमारी चिंता यह है कि यहां शांति और विकास कैसे हो। भाषा इसमें हमें काफी मदद कर सकती है। इस मौके पर मॉरीशस के प्रतिनिधिमंडल के अध्यक्ष एवं कला एवं संस्कृति मंत्री मुकेश्वर चुनी, विदेश मंत्रालय के सचिव एम.गणपत, भारत के उच्चायुक्त वीरेंद्र गुप्ता ने भी अपने विचार व्यक्त किए। सम्मेलन का संचालन श्रीमती सुनीति शर्मा, उप सचिव (हिंदी), विदेश मंत्रालय, भारत सरकार ने किया।

सम्मेलन के पहले दिन शांति कक्ष में आयोजित 'महात्मा गांधी की भाषा दृष्टि और वर्तमान का संदर्भ' सत्र में अध्यक्षीय टिपप्णी में प्रख्यात कथाकार और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने कहा कि सरकार की फाइलों पर चलने वाली भाषा, कभी जनसाधारण की भाषा नहीं बन पाती। भाषा से ही राजा का जनता के साथ रिश्ता कायम होता है। राय ने जोर देकर कहा कि जब हम गांधीजी की भाषा दृष्टि पर सोचते हैं, तो हमें दूसरी भाषाएं सीखने के प्रति उदार होना होगा। राजभाषा या संपर्क भाषा हिंदी ही हो सकती है। हमें लिपियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए बल्कि हमें गांधीजी की हिंदुस्तानी अपनानी चाहिए। उन्होंने कहा कि हम हिंदुस्तानी को लेकर उत्साह में आ जाते हैं जबकि यह व्यावहारिक नहीं है। बीज वक्तव्य में आलोचक कृष्ण दत्त पालीवाल ने कहा कि गांधी का चिंतन परंपरागत होते हुए भी क्रांतिकारी चिंतन है। गांधी जी ने समय आने पर पुराने मुद्दों को उठाया। गांधीजी की

प्रमुख चिंता थी कि अंग्रेजी कहीं देश की राष्ट्रभाषा न बन जाए। गांधीजी मानते थे कि हिंदी संगमों की और भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली भाषा है। देश की सांस्कृतिक अस्मिता, पुरानी जातीय स्मृति के सबसे बड़े चिह्न भारतीयता से जाकर जुड़ते हैं। पालीवाल ने कहा कि भाषा अस्तित्व और व्यक्तित्व दोनों है। हिंदी विद्रोहों की भाषा है। नए अर्थों को भाषा खोलती है।

वरिष्ठ पत्रकार मधुकर उपाध्याय ने अपनी बात महात्मा गांधी द्वारा गुजरात के भरुच में हिंदी भाषा को लेकर उठाए पांच सवालों से की। उपाध्याय ने हिंदी समाज की खामियों पर बोलते हुए कहा कि हमने अपनी बोलियों और उर्दू से एक तरह से कन्नी काट ली है। उन्होंने कहा कि गांधीजी भाषा शास्त्री नहीं थे बल्कि भाषा उनके लिए चिंतन के बहुत सारे विषयों में से एक थी। उन्होंने कहा कि सीखने का जो तरीका है उसे फिर से वापस लाने की जरूरत है। इस संदर्भ में उन्होंने नाथूराम शर्मा की अजबकरा कविता का उल्लेख किया जिसमें हिंदी की बहुत सारी बोलियों, बारहखड़ी और हिंदू-मुस्लिम त्यौहारों का उल्लेख मिलता है।

वरिष्ठ आलोचक विजय बहादुर सिंह ने विस्तार से गांधीजी की भाषा दृष्टि पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि गांधीजी आज की पीढ़ी के लिए बीते दिनों की चीज हैं जबकि आज भी हम विचार के लिए गांधी के पास जाते हैं। गांधी की चेतना की डोर समाज से जुड़ी हुई थी। गांधी इस देश की आत्मा के पर्याय थे।

चिंतक नंद किशोर आचार्य ने कहा कि अंग्रेजी आज हमारे देश में एक तरह की हिंसा का प्रसार कर रही है। अंग्रेजी हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को भी तेजी से नष्ट कर रही है। आचार्य ने राजसत्ता नागरिक के संबंध में गांधीजी की भाषा दृष्टि पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि आज जो सरकारी परिपत्रों और न्यायालयों में जो भाषा लिखी जाती है वह आम जनता की समझ से बाहर की भाषा होती है। इससे साफ जाहिर है कि नागरिक का राज्य से रिश्ता मजबूत नहीं है। गांधी की अहिंसा दृष्टि ही भाषिक विचारों में परिलक्षित होती है। इस मौके पर प्रो. रामभजन सीताराम ने महात्मा गांधी की भाषा संबंधी धारणा के आलोक में विचार व्यक्त किया। बहस में आलोचक निर्मला जैन सहित कई विद्वानों ने भाग लिया। सभागार में गंगा प्रसाद विमल, बद्रीनारायण, अजय कुमार, रामेश्वर राय, सत्यकाम, श्रीमती एस. तंकमणि अम्मा, इंद्रनाथ चौधरी समेत बड़ी संख्या में हिंदी समाज के प्रबुद्धजन उपस्थित थे।

'सूचना प्रौद्योगिकी: देवनागरी लिपि और हिंदी का सामर्थ्य' सत्र में सांसद रघुवंश प्रसाद सिंह का कहना था कि भाषा में एकरूपता हो और उसके प्रसार के लिए आम आदमी को ध्यान में रखकर सहज तकनीकी उपकरण विकसित किए जाने की जरूरत है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के एसोसिएट प्रोफेसर और आईटी विशेषज्ञ जगदीप सिंह दांगी ने अपने द्वारा विकसित सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी विविध उपकरणों, यथा- हिंदी वर्तनी परीक्षक की खूबियों के बारे में विशेष जानकारी दी। उन्होंने प्रखर देवनागरी फोंट परिवर्तन, यूनीदेव, शब्द ज्ञान, प्रखर देवनागरी लिपि, प्रलेख देवनागरिक

लिपिक, आई ब्राउजर, शब्द अनुवाद आदि की विशद जानकारी देते हुए, उनका प्रदर्शन भी किया। पहले दिन आयोजित एक सत्र में 'अफ्रीका में हिंदी शिक्षण-युवाओं का योगदान' विषय पर विस्तार से चर्चा हुई ।

सम्मेलन के दूसरे दिन 'हिंदी के विकास में विदेशी /प्रवासी लेखकों की भूमिका' सत्र में आलोचक भारत भारद्वाज ने कहा कि आधुनिक हिंदी से तात्पर्य उस हिंदी से है जिसका प्रादुर्भाव 1857 की क्रांति से होता है। इस दौरान राकेश पांडेय, दिनेश कुमार शुक्ल, उषा देसाई, केदार मंडल, सोमा बंद्योपाध्याय ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किए। अध्यक्षीय वक्तव्य में गोपेश्वर सिंह ने कहा कि जार्ज गियर्सन एवं फादर कामिल बुल्के के हिंदी समर्पण को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने कहा कि अभिमन्यु अनत एवं तेजेंद्र शर्मा की लेखनी भी प्रवासी साहित्य को समृद्ध करता है। आलोचक शंभु गुप्त ने कहा कि विदेशों में आज हिंदी हिंदू या हिंदुत्व का प्रतीक बन गया है, जिसे लेकर एक असुरक्षा बोध है। संचालक डॉ. कमल किशोर गोयनका ने कहा कि मॉरीशस के कथाकार अभिमन्यु अनत के उपन्यास 'लाल पसीना' ने प्रवासी साहित्य को नई ऊंचाईयां दी, इसलिए मैं इस बात से संतुष्ट हूं कि प्रवासी साहित्य समृद्ध हुआ है।

विश्व हिंदी सम्मेलन के दूसरे दिन अहिंसा कक्ष में आयोजित 'लोकतंत्र और म़ीडिया की भाषा के रूप में हिंदी' सत्र में नया ज्ञानोदय के संपादक रवींद्र कालिया ने बीज वक्तव्य देते हुए कहा कि आज हिंदी के नाम पर टसुए बहाने और गर्वोक्ति करने दो तरह का माहौल है। उन्होंने कहा कि भारत में आजादी के बाद हिंदी के जो शब्द बने वो हमारी भाषा के लिए और भी खतरनाक साबित हुए। पहले पारिभाषिक शब्द और बाद में आकाशवाणी की हिंदी हमारे लिए और भी घातक सिद्ध हुई। उन्होंने हिंदी भाषा के बढ़ते प्रभाव की ओर ध्यान खींचते हुए कहा कि हिंदी आज सिर्फ साहित्य की भाषा नहीं है बल्कि समाचार पत्र, रेडियो एफ एमं, दूरदर्शन, शिक्षण, विदेशी चैनलों की भी भाषा है। इन सभी माध्यमों की अलग-अलग हिंदी है। उन्होंने विस्तार से दिये गये भाषण में इशारा किया कि हिंदी का 100-150 साल का सफर निराशाजनक नहीं है। हिंदी को पानी की तरह बहने देना चाहिए, इसके साथ ही जरूरी है कि भाषाओं के प्रति शत्रुता का भाव न रखा जाए। हम बोलियों को मजबूत करेंगे तो हिंदी खुद मजबूत होगी। प्रख्यात आलोचक शंभुनाथ ने भाषा के कृष्ण पक्ष की ओर इशारा करते हुए कहा कि मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खंभा कहा जाता है। उन्होंने प्रश्न उठाया कि आज देखने में आ रहा है कि लोकतंत्र के खंभों का स्थान बाजार के खंभे लेते जा रहे हैं। बात सिर्फ यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि लोकतत्र के सभी खंभे बाजार में बदल रहे हैं। उन्होंने कहा कि अगर हम विचार करें कि लोकतंत्र में हिंदी की क्या स्थिति है तो जाहिर है कि हिंदी में लोकतंत्र की स्थिति ठाकुर के कुएं जैसी है। विधि विशेषज्ञ सुश्री कमलेश जैन ने कहा कि लोकतंत्र का अभिन्न अंग न्यायपालिका है। जैन ने न्यायपालिका में हिंदी की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा कि न्याय प्रक्रिया का सारा कामकाज अंग्रेजी में निष्पादित किया

जा रहा है। उन्होंने अपने आलेख पाठ के माध्यम से न्यायपालिका में हिंदी किस तरह हाशिये पर है यह जानकारी दी।

कथाकार अखिलेश ने कहा कि जब भी भारत में लोकतांत्रिक मूल्य नष्ट हुए तो हिंदी की चेतना उसके प्रतिपक्ष में खड़ी हुई है। हिंदी का साहित्य हमेशा सांप्रदायिक चेतना के विरुद्ध रहा है। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद से टकराते हुए हिंदी आगे बढ़ी है।

टीवी पत्रकार कुरबान अली ने कहा कि आजादी के बाद गांधी के शिष्यों ने सबसे पहले उनके विचारों को खत्म करने का काम किया। सरकारी जबान आज भी अंग्रेजी है जिसे तोड़ने का काम नहीं किया गया। उन्होंने बताया कि हिंदी के प्रसार में फिल्मों की महत्वपूर्ण भूमिका है। उनका कहना था कि अपनी कट्टरता के चलते उर्दू नष्ट हो गयी जबकि हिंदी के साथ ऐसा नहीं है। दक्षिण अफ्रीका के फकीर हसन ने जानकारी दी कि यहां हिंदी फिल्मों और गानों की लोकप्रियता सर्वाधिक है। बालीवुड भी एक मीडिया है जिसकी बहुत बड़ी ताकत है।

विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित सांसद मणिशंकर अय्यर ने विस्तार से हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के बारे में अपनी बात रखी। उन्होंने कहा कि भारत के लोकतंत्र में एक ही भाषा को खतरा है वह अंग्रेजी है। उन्होंने कहा कि जनभाषा के उपयोग से ही लोकतंत्र में प्रगति संभव है। हिंदी को प्रोत्साहन देने की जरूरत नहीं है वह अपना स्थान खुद बनाएगी। दैनिक हिंदुस्तान के प्रधान संपादक शशि शेखर ने अध्यक्षीय टिप्पणी की शुरुआत प्रख्यात शायर कैफी आजमी की नज्म से की- 'आज की रात गर्म हवा चलती है/ आज की रात फुटपाथ पर नींद न आएगी /तुम उठो, तुम सब उठो, कोई खिडकी इसी दीवार में उठ जाएगी।' उन्होंने आशा भरे शब्दों में कहा कि वे गिलास को आधा भरा देखते हैं। उन्होंने एक रिपोर्ट के हवाले से कहा कि भविष्यवाणी की गयी है कि वर्ष 2043 में संसार का आखिरी अखबार छपेगा। आज उन्हें दक्षिण अफ्रीका का एक अखबार देखने को मिला जिसमें सिर्फ 16 पेजों में खबरें थीं और उसमें भी अपराध की खबरें सबसे अधिक, उसके बाद राजनीति और अन्य खबरें थीं। उन्होंने बताया कि पूरे अखबार में सबसे अधिक पेज मनोरंजन के थे। शशि शेखर ने सवाल उठाया कि एक सवाल मन को मथता है कि हम जो अखबार निकालते हैं, चैनल चलाते हैं उसका रेवेन्यू मॉडल क्या है ? कुल मिलाकर हम कारपोरेट, विज्ञापनदाताओं या मुख्यमंत्रियों पर निर्भर हैं। उन्होंने कहा कि हर जगह द्वैत है मगर इससे घबराने की जरूरत नहीं है। तमाम चिंताओं का होना, छटपटाहटों का होना बहुत जरूरी है।

इसी दिन 'ज्ञान विज्ञान और रोजगार की भाषा के रूप में हिंदी' सत्र में प्रो. जाबिर हुसैन, श्रीमती ममता कालिया, उपेंद्र कुमार, चित्रा मुदगल, मोहम्मद आरिफ, श्रीमती शिवा श्रीवास्तव आदि की उपस्थिति में बहस हुई।

सम्मेलन के तीसरे दिन 'विदेश में भारत-भारतीय ग्रंथों की भूमिका' तो दूसरी ओर 'हिंदी फिल्म, रंगमंच और मंच की भाषा' के साथ-साथ 'हिंदी के प्रचार-प्रसार में अनुवाद की भूमिका' 'सत्र में व्यापक विचार-विमर्श और बहस हुई। तीन दिनों तक चले

नौ सत्रों के अलावा कई शैक्षिक सत्र भी संपन्न हुए जिसमें सर्वाधिक प्रतिभागियों ने हिस्सेदारी की। विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान सम्मेलन स्थल के आसपास का माहौल भारतीय विद्वानों की उपस्थिति से जीवंत बना रहा।

विश्व हिंदी सम्मेलन जिन विद्वानों की उपस्थिति से गुलजार रहा उनमें जापान की तोमोको किकुचि, गिरिजाशंकर त्रिवेदी, बालकवि वैरागी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, संजीव, सुश्री वंदना भारती, स्वाधीन, कैलाशचंद्र पंत, प्रभाकर श्रोत्रिय, वीके कुठियाला, ऊषा गांगुली, कुसुम अंसल, राजेंद्र प्रसाद मिश्र, ब्रजेंद्र त्रिपाठी, नीलम राठी, भारती हरमेठ, राजलक्ष्मी शिवहरे, मुजावर सरदार हुसैन, दामोदर खड़से, अशोक चक्रधर, स्वाति तिवारी ओमप्रकाश भारती, रत्नाकर पांडेय, सांसद प्रसन्न कुमार पाठसानी, नरेंद्र कोहली, असगर वजाहत, अनंतराम त्रिपाठी, ऊषा शुक्ला, नरेंद्र दंडारे, रामेश्वर राय, मनीषा कुलश्रेष्ठ, बच्चा बाबू, सुश्री वर्तिका नंदा, राजेंद्र उपाध्याय, अन्नपूर्णा सी, ओमप्रकाश प्रजापति, नवीन चंद लोहानी, हरि मिश्र, सरिता बूधू, वीरेंद्र नारायण यादव, नानकचंद, महीप सिंह, पूनम सिंह, कमल कुमार, यशोधरा, कमल बंसल, हरिसुमन बिष्ट, ऊषा कुमारी ने भी अपनी बात रखी।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, नेशनल बुक ट्रस्ट, सी डैक, राष्ट्रीय अभिलेखागार द्वारा लगाई गई प्रदर्शनियां, 'हिंदी विश्व बुलेटिन' का दैनिक प्रकाशन, सांस्कृतिक प्रस्तुतियां आदि आकर्षण के केंद्र रहे। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा को विदेश मंत्रालय द्वारा विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान प्रदर्शनियों के संयोजक और चार पेज के 'हिंदी विश्व' बुलेटिन के दैनिक प्रकाशन का कार्यभार सौंपा गया था, जिसके लिए कुलपति विभूति नारायण राय द्वारा प्रति कुलपति प्रो. ए.अरविंदाक्षन, डॉ. अनिल कुमार राय, अशोक मिश्र, डॉ. प्रीति सागर, अमित विश्वास, राजेश यादव, राजेश अरोड़ा को इस दायित्व के निर्वहन का जिम्मा सौंपा गया था। विश्वविद्यालय की प्रदर्शनी समिति की जिम्मेदारी, प्रो.सूरज पालीवाल, प्रो.नृपेंद्र प्रसाद मोदी, डॉ. एम.एम.मंगोड़ी ने निभाई। सांस्कृतिक कार्यक्रमों की कड़ी में एक कवि सम्मेलन भी संपन्न हुआ पर सबसे प्रभावशाली रही शेखर सेन की संत कबीर पर उनकी एकल नाट्य प्रस्तुति। इस अवसर पर दक्षिण अफ्रीका में हिंदी की अलख जगाने वाले नरदेव नरोत्तम वेदालंकार की प्रतिमा का अनावरण, पचासों विमोचन यादगार क्षण थे। सैकड़ों पर्चे, विद्वानों का महाकुंभ, अनगिनत विचार-सबको देख-सुन पाना भी मुहाल। गांधीग्राम का विश्व हिंदी सम्मेलन एक बौद्धिक मेला बना हुआ था। इस बार 16 देशों के प्राय: 40 विद्वान सम्मानित हुए। सम्मेलन को सफल बनाने में विदेश मंत्रालय, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, जोहांसबर्ग स्थित उच्चायोग की प्रमुख भूमिका रही। सम्मेलन नाना प्रतिज्ञाओं, संकल्पों के साथ समाप्त हुआ, जिसमें एक था- अगला विश्व हिंदी सम्मेलन भारत में आयोजित होगा।

(जोहांसबर्ग से लौटकर अमित विश्वास)

‘लेखक की रचनाओं को पढ़ने से होता है लेखक का सम्मान'

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में कुलपति विभूति नारायण राय, कुलसचिव डॉ. के.जी.खामरे की उपस्थिति में पिछले दिनों निर्माणाधीन साहित्य विद्यापीठ भवन के प्रांगण में स्थापित डॉ. रामविलास शर्मा की प्रतिमा का अनावरण तथा उत्तरी परिसर में बनाया गया। ‘डॉ. रामविलास शर्मा मार्ग’ का उदघाटन डॉ. रामविलास शर्मा के पुत्र डॉ. विजय मोहन शर्मा द्वारा किया गया।

हिंदी विश्वविद्यालय के निर्माणाधीन साहित्य विद्यापीठ भवन में स्थापित डॉ. रामविलास शर्मा की प्रतिमा के अनावरण के दौरान उपस्थित अतिथिगण व विश्वविद्यालय परिवार।

विश्वविद्यालय के ‘स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय’ में आयोजित वैचारिक कार्यक्रम की अध्यक्षता कुलपति विभूति नारायण राय ने की। इस अवसर पर पिता के संस्मरणों को साझा करते हुए डॉ. विजय मोहन शर्मा ने कहा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने 111 किताबें लिखीं। जवानी में वे कुश्ती लड़ते थे और साहित्य के क्षेत्र में भी अखाड़ेबाजी की। डॉ. रामविलास शर्माजी पर बनायी गई डॉक्यूमेंट्री ‘यात्रा एक गांव की’, को दिखाते हुए कहा कि जब अंतिम बार रामविलासजी अपने पैतृक गांव गए तो उनका खूब स्वागत किया गया। गांव वालों को संबोधित करते हुए रामविलासजी ने कहा था, कि लेखक का सम्मान बैंड-बाजे से, माल्यार्पण से, जुलूस निकाल कर या आम सभा बुला

कर नहीं होता। लेखक का सम्मान होता है जब आप उनकी लिखी चीजें पढ़ते हैं, उनको समझते हैं और उन पर अमल करते हैं।

बतौर मुख्य वक्ता वरिष्ठ आलोचक डॉ. कर्ण सिंह चौहान ने कहा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने विपुल परिमाण में लिखा है और उसमें नई स्थापनाओं से हिंदी जनता का ध्यान आकर्षित किया है। यह नव्यता परंपरागत मार्क्सवादी आस्थाओं में विच्छेद से आई जहां उन्होंने भारत के संदर्भ में मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या की। कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ से जब उनका विच्छेद हुआ तो उन जैसे संगठनधर्मा व्यक्ति के लिए यह एक बड़ा अवरोध था। इस अवरोध को उन्होंने मार्क्स और मार्क्सवाद के संबंध में नई व्याख्याओं से हटाया। उन्होंने कहा कि न कम्युनिस्ट पार्टियां मार्क्स को ठीक से समझती हैं, न मार्क्सवादी बुद्धिजीवी। स्वयं मार्क्स अपनी स्थापनाओं में समय-समय पर परिवर्तन और विकास करते रहते थे। इसीलिए उन्होंने भारत के संदर्भ में मार्क्सवाद की नई व्याख्या कर अपने कर्म के लिए और रचनात्मक उड़ान के लिए जगह बनाई। उन्होंने कहा कि आज भारत में जो बड़ी समस्याएं हैं और साहित्य में जो बड़े विमर्श हैं- नारीवाद, दलितवाद, आदिवासी- वे सभी शासक वर्ग के सामंतवाद के साथ गठजोड़ के कारण हैं। उनका मानना था कि डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य की दूसरी परंपरा में हैं जो पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार से अलग संतों की परंपरा है-सब चीजों से अलग रहकर लेखन पर एकाग्र रहना और निर्भय होकर अपनी स्थापनाएं देना। हिंदी के लेखकों को उनमें हमेशा कुछ अपने लिए प्रासंगिक मिलता रहेगा।

विश्वविद्यालय के 'राइटर-इन-रेजीडेंस' विजय मोहन सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा के साहित्यिक व वैचारिक योगदान पर चर्चा करते हुए कहा कि मैं डॉ. रामविलास शर्मा को आधुनिक समीक्षा का पहला आधुनिक समीक्षक मानता हूं। उन्होंने साहित्य की परंपरा को विश्लेषित करने और साहित्य की मिथ्या धारणाओं को सुलझाने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि साहित्य सभी ज्ञान विधाओं से जुड़ा हुआ है, इसका रामविलास शर्मा ने बोध कराया।

अध्यक्षीय वक्तव्य में कुलपति विभूति नारायण राय ने कहा कि एक चिंतक, आलोचक व भाषा वैज्ञानिक के रूप में डॉ. रामविलास शर्मा का बहुत बड़ा कैनवास है। वे सामाजिक व सांस्कृतिक समस्याओं के लिए मानसिक रूप से ही नहीं, बल्कि शारीरिक रूप से भी भिड़ते रहे। हम पूरे एक वर्ष उनकी जयंती पर वैचारिक कार्यक्रमों का आयोजन वर्धा के अलावा इलाहाबाद व कोलकाता केंद्रों पर करते रहेंगे। उन्होंने रामविलास शर्माजी के सुपुत्र से आग्रह किया कि वे उनसे जुड़ी सामग्री संग्रहालय को भेंट कर दें, ताकि शोधार्थी बेहतर तरीके से शोध-कार्य कर सकें।

कार्यक्रम का संचालन सृजन विद्यापीठ के अधिष्ठाता प्रो.सुरेश शर्मा ने किया। साहित्य विद्यापीठ के विभागाध्यक्ष प्रो. के.के.सिंह ने आभार व्यक्त करते हुए कहा कि डॉ. रामविलास शर्मा विश्वकोशीय ज्ञान से संपन्न थे। वैचारिक कार्यक्रम की शुरुआत स्वामी सहजानंद सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण कर की गई। इस अवसर पर विवि के हबीब तनवीर सभागार में डॉ. रामविलास शर्मा पर एक वृत्तचित्र की प्रदर्शित किया गया। कार्यक्रम के दौरान विश्वविद्यालय के 'राइटर-इन-रेजीडेंस' संजीव, प्रो.मनोज कुमार, प्रो. सूरज पालीवाल, राजकिशोर, प्रो.शंभु गुप्त प्रो. अनिल के. राय 'अंकित', प्रो. रामवीर सिंह, नरेंद्र सिंह, डॉ. नृपेंद्र प्रसाद मोदी, डॉ. प्रीति सागर, प्रकाश चंद्रायण, डॉ. राजेश्वर सिंह, डॉ. सुरजीत सिंह सहित बड़ी संख्या में अध्यापक, शोधार्थी व विद्यार्थी उपस्थित थे।

प्रस्तुति: अमित विश्वास

लेखकों के पते :

विजय बहादुर सिंह: 24 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म.प्र.)
मो. नं. 09425030392

अजय तिवारी : बी-30 श्रीराम अपार्टमेंट्स, 32/4 द्वारका, नई दिल्ली-78
मो. नं. 09717170693

कृष्णदत्त पालीवाल: ए-102/3 एसएफएस फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-17
मो. नं. 09910978680

विजेन्द्र: सी-133 वैशाली नगर, जयपुर-302021 (राजस्थान)
मो. नं. 09928242515

शंभुनाथ: 389 जीटी रोड, कोलकाता-711106 मो. नं. 09319211752

रविभूषण : 324बी, रोड नं. 04, अशोक नगर, रांची-834002 (झारखण्ड)
मो. नं. 09431103960

श्रीप्रकाश शुक्ल : सुमधेस 909 काशीपुरम कालोनी, सीर गोवर्धनपुर, वाराणसी-221005
मो. नं. 09415890513

विजय मोहन शर्मा: सी-358, विकासपुरी, नई दिल्ली- 110018
मो. नं. 09810018167

जसवीर त्यागी : एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजधानी कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, राजा गार्डन दिल्ली-15 मो. नं. 09818389571

विजय मोहन सिंह : अतिथि लेखक**,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)

ओम निश्चल : जी-1/506 ए उत्तम नगर, नई दिल्ली-59
मो. नं. 09696718182

शैलेन्द्र सागर: संपादक कथा क्रम, डी-107 महानगर विस्तार, लखनऊ-226006 (उ.प्र.)
मो. नं. 09415138626

प्रयाग शुक्ल: एच-416 पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर 93-ए, नोएडा-201304 (उ.प्र.)
मो.नं. 09816973590

सुरेंद्र तिवारी: बी 3/76 सेक्टर 16, नई दिल्ली-89
मो. नं. 09873115021

वीरेंद्र मोहन : प्रभारी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, नीलांभर, पीतांबर विश्वविद्यालय मेदिनीनगर (डालटनगंज) पलामू-822101 (बिहार) मो. नं. 09955971358

सूरज प्रकाश : एच-1/101 रिद्धी गार्डन, फिल्म सिटी रोड, मलाड ईस्ट, मुम्बई-97
मो. नं.09930991424

प्रांजल धर: 2710 भूतल मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
मो. नं. 09990665881

ज्योतिष जोशी: डी-4/37 एमआईजी सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली-89
मो. नं. 09818603319

रूपेश कुमार: सहायक प्रोफेसर, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि.वि. वर्धा (महाराष्ट्र)-442005 मो. नं. 09404549085

संजीव: अतिथि लेखक**,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र) मो. नं. 09960082612